आयुर्वेदीय शरीर क्रिया विज्ञान

शिवकुमार गौड़

आयुर्वेदिक, एलोपैथिक, संस्कृत व धार्मिक पुस्तकों के प्रकाशक व विक्रेता :—

नाथ पुस्तक भण्डार

रेलवे रोड, रोहतक-124 001 (हरियाणा)

☎ दुकान : 01262-268412
घर : 252948, 251562

आयुर्वेदीय शरीर क्रिया विज्ञान

Rs. 80/-

ओ३म्

आयुर्वेदिक शरीर क्रिया विज्ञानम्

लेखक

डॉ० शिवकुमार गौड़

एम० एस-सी०, बी० आई० एम० एस०

आयुर्वेदाचार्य, आयुर्वेद महामहोपाध्याय

भूतपूर्व

प्राचार्य एवं अधीक्षक

आयुर्वेदिक कॉलेज़ एवं चिकित्सालय,

बरेली

एवं

सदस्य

भारतीय चिकित्सा परिषद् उ० प्र०

भारतीय चिकित्सा संकाय उ० प्र०

आयुर्वेद एवं यूनानी संकाय

कानपुर विश्वविद्यालय

CENTRE FOR POLICY STUDIES
111079]
10/12/2011
CHENNAI

★

प्रस्तावना लेखक

स्व० डॉ० मुकुन्दीलाल द्विवेदी

निदेशक

मूलचन्द खैरातीलाल हॉस्पिटल

आयुर्वेदिक अनुसंधान संस्थान, नई दिल्ली

भूतपूर्व

निदेशक

आयुर्वेद यूनानी सेवा, उ० प्र०

कुलपति

गुजरात आयुर्वेद विश्वविद्यालय, जामनगर

● प्रकाशक :

नाथ पुस्तक भण्डार

रेलवे रोड, रोहतक–124 001

फोन : दुकान : 268412
निवास : 252948
251562

© स्वत्वाधिकार प्रकाशकाधीन

● आयुर्वेद युनानी तिब्बी–अकादमी, उत्तरप्रदेश
एवं
आयुर्वेद अनुसंधान समिति, मध्यप्रदेश
द्वारा पुरस्कृत पुस्तक

● नवीन संस्करण

● मूल्य : रुपये 80/-

● मुद्रक :

वेदव्रत शास्त्री

आचार्य प्रिंटिंग प्रेस, गोहाना मार्ग, रोहतक।

फोन नं० : 01262 - 276874, 277874

प्रस्तावना

भारतवर्ष में प्रायः सभी आयुर्वेद महाविद्यालयों का पाठ्यक्रम अब प्रायः विषयानुसार निर्धारित है। किन्तु विभिन्न विषयों पर उपयुक्त पाठ्य–पुस्तकों का अभाव सर्वत्र अनुभव किया जा रहा है। आयुर्वेद के संहिताग्रन्थों एवं अन्य वाङ्मय में विभिन्न विषयों पर सामग्री यत्र तत्र बिखरी है जिसे संकलित कर उसके आधार पर पाठ्य–पुस्तकों का निर्माण किया जा सकता है। इस दिशा में यद्यपि कुछ संस्थाओं एवं लेखकों के द्वारा कुछ प्रयास किए गए हैं। किन्तु अभी प्रत्येक विषय पर उपयुक्त पाठ्य–पुस्तकों की रचना के लिए बहुत कुछ किया जाना शेष है।

आयुर्वेद के विषयों में 'शरीर क्रिया विज्ञान' का विषय एक आधारभूत विषय है और बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। बिना इस विषय का भलीभांति अध्ययन किए आयुर्वेद के किसी भी विषय विशेषकर चिकित्सा विषय का अध्ययन संभव नहीं है। आयुर्वेद मतानुसार सजीव मानव शरीर की क्रियायें वात–पित्त–कफ दोषों; रस–रक्त–मांस–मेद–अस्थि–मज्जा और शुक्र धातुओं तथा पुरीष–मूत्र आदि मलों पर आधारित हैं और इनका मूल आधार पञ्चमहाभूत हैं। आयुर्वेद के उक्त सिद्धांत ही उसे अन्य चिकित्सा पद्धतियों से पृथक् करते हैं। अतः आयुर्वेद के जिज्ञासुओं के लिए यह आवश्यक है कि वे आयुर्वेद के इन मूल सिद्धांतों से भली–भांति परिचित हों। हमारे महर्षियों ने समस्त शारीरिक क्रियाओं का वर्णन त्रिदोष आदि के आधार पर किया है। यह सिद्धान्त त्रिकालाबाधित है। यदि इसे सम्यक् रूप से हृदयंगम कर लिया जाए तो शरीर की प्राकृतिक क्रियाओं एवं उनकी विकृतियों को समझने और उनकी चिकित्सा करने में बहुत सौकर्य हो जाता है।

उपर्युक्त उद्देश्यों को सामने रखकर ही डॉ० शिवकुमार गौड़ ने 'आयुर्वेदीय शरीर क्रिया विज्ञानम्' पुस्तक का प्रणयन किया है। डॉ० शिवकुमार गौड़ अपने विषय के प्रख्यात विद्वान् हैं और वे 25 वर्षों से भी अधिक समय तक ऋषिकुल आयुर्वेदिक कॉलेज, हरिद्वार में उक्त विषय के अध्यापक व विभागाध्यक्ष रहे हैं और अब साहू रामनारायण मुरलीमनोहर आयुर्वेदिक कॉलेज़, बरेली में प्राचार्य के पद पर कार्य कर रहे हैं। इस प्रकार डॉ० गौड़ को उक्त विषय में छात्रों की कठिनाइयों का अच्छा अनुभव है तथा

उन्होंने विषय को आयुर्वेद की संहिताओं आदि से संकलित कर उसे सुन्दर रूप से पुस्तक में प्रस्तुत किया है तथा सुबोध व्याख्या की है। प्रस्तुत पुस्तक के प्रथम भाग में दोषों की साम्यावस्था का, द्वितीय भाग में दोषों की असाम्यावस्था का, तृतीय भाग में धातुओं एवं मलों का वर्णन किया गया है। आयुर्वेद में शरीर के साथ मन का महत्त्व कम नहीं है अतः चतुर्थ भाग में मनोविज्ञान का वर्णन है।

डॉ० गौड़ आयुर्वेद के स्नातक होने के साथ–साथ विज्ञान में एस० एस–सी० हैं। अतः उन्होंने यत्र तत्र विषय को स्पष्ट करने के लिए आधुनिक विज्ञान के सिद्धांतों के साथ भी सामंजस्य स्थापित करने के लिए विषय को न तो अनावश्यक रूप से विस्तार दिया है और न ही सर्वत्र सामंजस्य स्थापित करने की व्यर्थ चेष्टा की है जैसाकि प्रायः बहुत से लेखकों का प्रयास रहता है। वास्तव में उन्होंने मूल विषय को कहीं भी नहीं छोड़ा है और अनावश्यक या अनपेक्षित विषय की चर्चा नहीं की है। इस प्रकार उन्होंने पुस्तक को आयुर्वेद के जिज्ञासुओं, विशेषकर छात्रों के लिए बहुत ही उपादेय बनाने का प्रयास किया है। वर्णन की शैली अत्यन्त सरल, सुबोध और स्पष्ट है। ऐसी उपयोगी पुस्तक के प्रणयन के लिए डॉ० गौड़ हमारी बधाई तथा धन्यवाद के पात्र हैं।

मुझे आशा है कि यह पुस्तक आयुर्वेद के छात्रों तथा अध्यापकों एवं जिज्ञासुओं के लिए समान रूप से उपादेय सिद्ध होगी और आयुर्वेद जगत् इसका समादर कर लेखक को प्रोत्साहित करेगा।

लखनऊ
दिनांक 28-6-1973

मुकुन्दीलाल द्विवेदी
निदेशक
आयुर्वेदिक एवं यूनानी सेवा
उत्तर प्रदेश

प्रथम संस्करण

अपनी बात

'शरीर क्रिया विज्ञान' के नाम से किसी पृथक् अङ्ग या विषय का आयुर्वेद में वर्णन नहीं आया है। संख्या–शारीर तथा शारीर–विचय इन दो पदों का एनाटोमी एवं फिजियोलोजी के समान आयुर्वेद ग्रन्थों में प्रयोग मिलता है। शारीर–विचय अथवा क्रिया शारीर के अन्तर्गत शरीर में मूल तत्त्वों— दोष, धातु और मलों— का विस्तृत वर्णन आता है। 'त्रिदोष' एवं 'शरीर में होने वाले उनके प्रभाव' पर विद्वान् लेखकों द्वारा लिखी हुई अनेक पुस्तकें उपलब्ध हैं। अधिकांश विद्वानों ने आर्ष ग्रन्थों में प्रतिपादित त्रिदोष सिद्धान्त को आधुनिक कहे जाने वाले शरीर क्रिया विज्ञान में वर्णित पदार्थों के सम्बन्ध जोड़ने की चेष्टा की है यथा प्राण वायु को ऑक्सीजन, आलोचक पित्त को रोडोप्सिन, तर्पक कफ को सेरिब्रोस्पाइनल फ्लूइड आदि–आदि अनेक विद्वानों ने अपने ग्रन्थों में कहा है। इसका परिणाम यह हुआ है कि छात्र आयुर्वेद के मूलतत्त्वों को आयुर्वेद की दृष्टि से न देखकर ऐलोपैथी के चश्मे से देखने का आदी हो गया है। आयुर्वेद के मूल सिद्धान्तों को वह इस प्रकार आधुनिक क्रिया विज्ञान से जोड़ देता है कि जिसका न कोई सिर होता है और न पैर। इससे छात्र की त्रिदोष सिद्धान्त पर आस्था नहीं बन पाती है। परीक्षा में उत्तीर्ण होने के लिए मजबूरन वह इधर–उधर से कुछ रट भर लेता है। जिसे परीक्षोत्तीर्ण के साथ ही भूल जाता है। फल यह होता है कि चिकित्सा करते समय रोग निदान में उसका दृष्टिकोण त्रिदोष न रहकर नवीन यन्त्रों पर निर्भर कर जाता है। यहां पर नवीन यन्त्रों की बुराई का अभिप्राय नहीं है। अभिप्राय है इन यन्त्रों पर निर्भर रहने की मात्रा का। इस विषय का अध्यापक होने के नाते तथा आधुनिक विज्ञान का विद्यार्थी होने के कारण मुझे यह सब अच्छा नहीं लगता है। मैं कक्षा में अपने विद्यार्थियों से सदा कहता आया हूँ कि आयुर्वेद का मनन आयुर्वेद की आत्मा के द्वारा करो। यह सब कारण इस पुस्तक के लिखने में प्रेरक बने।

इस पुस्तक की सामग्री लगभग आठ वर्ष पूर्व लिखी गई थी। प्रारम्भ कक्षा नोट्स के रूप में होकर अन्त इस पुस्तक के रूप में हुआ। व्यस्तता के कारण मुद्रण से पूर्व पुनः संशोधन का अवसर न मिल सका, जिस कारण

कुछ कमियाँ रह गई हैं। मुद्रण में भी कुछ अशुद्धियां स्थान–स्थान पर रह गई हैं। विद्वान् पाठक उन्हें शुद्ध कर लें।

आयुर्वेद के प्राचीन ग्रन्थों से आवश्यक सामग्री का संकलन कर उन्हें क्रमबद्ध करके अपनी व्याख्या के साथ पुस्तक के रूप में आपके समक्ष प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। इसमें त्रुटियां अवश्य होंगी। विद्वानों से निवेदन है कि उनके निराकरण का सुझाव देकर अनुगृहीत करें। यह पुस्तक छात्रों को लक्ष्य कर लिखी गई है, यदि उनको किसी स्थान पर समझने में कठिनाई अनुभव हो तो वे अवश्य सूचित करने का कष्ट करें। छात्रों एवं आयुर्वेद जिज्ञासुओं को इस पुस्तक से तनिक भी लाभ हुआ, वह मेरे लिए सौभाग्य का विषय होगा।

ऋषिकुल आयुर्वेदिक कॉलेज, हरिद्वार के वरिष्ठ प्राध्यापक डॉ० ब्रजभूषण शर्मा एम० ए०, बी० एम० एस० ने पुस्तक की पाण्डुलिपि में अनेक सुधार किए मैं उनका आभारी हूं। प्रूफ देखने की सहायता के लिए बरेली आयुर्वेदिक कॉलेज़ के प्राध्यापक डॉ० जीवनकिशोर गौड़ बी० आई० एम० एस० को धन्यवाद देता हूं, जिनके प्रोत्साहन से इस पुस्तक का लेखन तथा प्रकाशन सम्भव हो सका। उन समस्त विद्वान् लेखकों तथा प्रकाशकों के प्रति कृतज्ञता प्रकट करता हूँ, जिनके ग्रन्थों का उपयोग मैंने इस पुस्तक के लिखने में किया है।

श्री डॉ० मुकुन्दीलाल जी द्विवेदी आयुर्वेद एवं यूनानी सेवा निदेशक, उत्तरप्रदेश की गणना आयुर्वेद जगत् के मूर्धन्य विद्वानों में की जाती है। सोने में सुहागे की भांति वे अत्यन्त सफल चिकित्सक एवं प्रशासक भी हैं। उन्होंने इस पुस्तक की प्रस्तावना लिखकर मुझ पर महती कृपा की है। मैं उनका हृदय से कृतज्ञ हूँ।

अन्त में मूना मुद्रण केन्द्र के तरुण मालिक श्री नरेन्द्रकुमार बी० एस–सी० (केमिकल टेकनोलोजी) को धन्यवाद देता हूँ जिनके परिश्रम से पुस्तक इस सांचे में ढ़लकर आपके समक्ष उपस्थित है।

सन् 1973 —**शिवकुमार गौड़**

पञ्चम संस्करण

पुस्तक का पञ्चम संस्करण आपके सम्मुख है। पिछले संस्करण के बाद से पुस्तक मुद्रण के उपयोग में आने वाली सामग्री एवं सेवा अति व्ययशील हो गई है जिस कारण पुस्तकों का बढ़ा हुआ मूल्य एक वर्ग के छात्रों की सामर्थ्य से बाहर जा रहा है। इससे बचने के लिए मैंने इस संस्करण में विषय सामग्री को कम नहीं करते हुए उसके प्रस्तुतिकरण में सामान्य सा परिवर्तन कर मूल्य वृद्धि को रोकने की चेष्ट की है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि यह संस्करण भी अपनी ज्ञानवर्धक योग्यता को बनाये रखता हुआ अपना स्थान सुरक्षित रखेगा।

पञ्चम संस्करण का पुनर्मुद्रण
जून, 1990

शिवकुमार गौड़

हमारे प्रकाशन एवं प्रसारित पुस्तकें

1.	प्रारम्भिक पदार्थ परिचय — —	प्रो० ताराचन्द शर्मा
2.	प्रारम्भिक रस परिचय — —	" "
3.	आयुर्वेद का परिचयात्मक इतिहास — —	" "
4.	आयुर्वेदीय पदार्थ दर्शन — —	" "
5.	आयुर्वेदीय शरीर रचना विज्ञान — —	" "
6.	आयुर्वेदीय सुभाषित साहित्यम् — —	" "
7.	शल्य विज्ञान (प्रथम भाग) — —	" "
8.	शल्य विज्ञान (द्वितीय भाग) — —	" "
9.	द्रव्यौषधि चार्ट (द्रव्यगुण विज्ञान) — —	" "
10.	आयुर्वेदीय चिकित्सादर्श — —	रविदत्त त्रिपाठी
11.	सरल शिवराज विजय दीपिका — —	माधोसिंह
12.	कुमार सम्भव चतुर्थ सर्ग — —	रामवासी पाण्डेय
13.	आयुर्वेदीय शरीर क्रिया विज्ञान — —	शिवकुमार गौड़
14.	अभिनव शरीर क्रिया विज्ञान — —	" "
15.	स्वस्थ्यवृत्तम् — —	" "
16.	कौमारभृत्यम् — —	बलबीरदत्त शास्त्री
17.	चिकित्सा दीपिका (प्रथम भाग) — —	" "
18.	चिकित्सा दीपिका (द्वितीय भाग) — —	" "
19.	आरोग्य विज्ञान तथा जन–स्वास्थ्य — —	चन्द्रप्रकाश दुबे
20.	रस दर्पण (प्रथम भाग) — —	भजनदास स्वामी
21.	रस दर्पण (द्वितीय भाग) — —	" "
22.	रस शास्त्र क्रियात्मक पुस्तिका — —	वत्स एवं शर्मा
23.	रस बिन्दु — —	संजयकुमार शर्मा
24.	सचित्र रस शास्त्र — —	बंसरीलाल साहनी
25.	माधव निदान — —	सुरेन्द्र क्षेत्रपाल
26.	आपतकालिक निदान एवं चिकित्सा — —	अनन्तराम शर्मा
27.	आयुर्वैदिक द्रव्यगुण विज्ञान — —	शिवकुमार व्यास
28.	शल्य विज्ञान (प्रथम भाग) — —	सुरेन्द्र शर्मा
29.	शल्य विज्ञान (द्वितीय भाग) — —	" "
30.	रोग विज्ञान (प्रथम भाग) — —	विनयकुमार शास्त्री
31.	रोग विज्ञान (द्वितीय भाग) — —	" "
32.	विकृति विज्ञान — —	" "
33.	शरीर रचना पुस्तिका (प्रथम भाग) — —	गोपालकृष्ण सैनी
34.	" " " (द्वितीय भाग) — —	" "
35.	" " " (तृतीय भाग) — —	" "
36.	अभिनव स्त्री रोग विज्ञान — —	राजेन्द्रप्रकाश भटनागर
37.	अभिनव मानस रोग विज्ञान — —	" "
38.	संक्षिप्त शालाक्य तन्त्र — —	" "
39.	रासायन एवं वाजीकरण विवेचन — —	मोहनलाल पाठक

विषय—सूची

पृष्ठ

भाग 1—दोषों की साम्यवास्था **1-98**

अध्याय—1 विषय प्रवेश **2-9**

आयुर्वेद का प्रयोजन-2, चिकित्स्य पुरुष-3, कर्म पुरुष के गुण-3, पुरुष और लोक-4, भूत तथा महाभूत-4, सृष्टि का पाञ्चभौतिकत्व-6

अध्याय—2 दोषों की संख्या **10-16**

शरीर के घटक-10, शरीर दोष-11, मानव दोष-14, दोषों की विषमता के कारण-15

अध्याय—3 दोषों के स्थान **17-20**

वात के स्थान-17, पित्त के स्थान-18, कफ के स्थान-19

अध्याय—4 दोषों के स्वरूप गुण एवं कर्म **21-30**

नामों की व्युत्पत्ति-21, वात के गुण-22, पित्त के गुण-23, कफ के गुण-24, वात के सामान्य कर्म-24, पित्त के सामान्य कर्म-28

अध्याय—5 वात के विशिष्ट कर्म **31-41**

वायु के भेद-31, प्राणवायु-32, उदानवायु-34, व्यानवायु-34, समानवायु-38, अपानवायु-39, पंचविध वात के कर्म-41

अध्याय—6 पित्त के विशिष्ट कर्म **42-55**

पित्त के भेद-42, रञ्जक पित्त-42, साधक पित्त-44, आलोचक पित्त-46, भ्राजक पित्त-48, छाया तथा प्रभा में अन्तर-50, छाया के प्रकार-50, प्रभा की उत्पत्ति तथा प्रकार-52, पाचक पित्त-53

अध्याय—7 आहार पाक **56-73**

आहार किसे कहते हैं-56, आहार द्रव्यों के प्रकार-56, कार्बनिक अकार्बनिक द्रव्य-57, हितकर आहार-57, आहार मात्रा-59, उचित मात्रा में सेवन किये गए आहार के लक्षण-60, हीन मात्रा में किये गए आहार के लक्षण-60, अति मात्रा में खाये गए आहार के लक्षण-60, अग्निबल-61, आहार विधि विशेषायतन-62, आहार पाक कर्म-64, अवस्थापाक-65, निष्ठा पाक-69, विपाक के कर्म-69, विपाकों के पृथक्—पृथक्

लक्षण एवं कर्म-69, भूताग्नियां-70, पाचकाग्नि तथा धात्वग्नियों का परस्पर सम्बन्ध-71, आहार पाक सारिणी-73

अध्याय–8 कफ के विशिष्ट कर्म 74-81

कफ के भेद-74, क्लेदक कफ-74, अवलम्बक कफ-76, बोधक कफ-77, तर्पक कफ-78, श्लेषक कफ-79

अध्याय–9 प्रकृतियां 82-91

प्रकृति का कारण-82, सात प्रकृतियाँ-82, वात प्रकृति पुरुष के लक्षण-84, पित्तप्रकृति पुरुष के लक्षण-85, कफ प्रकृति पुरुष के लक्षण-86, भौतिक प्रकृतियाँ-87, मानस प्रकृतियां-88, सात्त्विक प्रकृति के भेद तथा लक्षण-78, राजस प्रकृति के भेद तथा लक्षण-79, तामस प्रकृति के भेद तथा लक्षण-90

अध्याय–10 शरीर परिमाण 92-98

चरक के अनुसार शरीर का परिमाण-92, सुश्रुत के अनुसार शरीर का परिमाण-94, वाग्भट्ट के अनुसार शरीर का परिमाण-97

भाग 2– दोषों की असाम्यावास्था 99-130

अध्याय–1 दोषों की क्षय तथा वृद्धि 100-125

दोषों की विषमता के लक्षण-100, दोषों की क्षय तथा वृद्धि के कारण-100, क्षीण वात–पित्त–कफ के लक्षण-101, क्षीण वात के लक्षण-102, क्षीण पित्त के लक्षण-102, क्षीण कफ के लक्षण-102, वात वृद्धि के लक्षण-103, पित्त वृद्धि के लक्षण-103, कफ वृद्धि के लक्षण-103, रोगोत्पत्ति हेतु-104, सामदोषों के लक्षण-105, दोषों की अवस्थायें-106, दोष संचय-106, दोष प्रकोप-106, दोष प्रशमन-107, वात की चय प्रकोप तथा प्रशम अवस्थायें-108, प्रकुपित वात के कर्म-109, वात प्रशमन के उपाय-109, पित्त की चय, प्रकोप तथा प्रशम अवस्थायें-110, गुण प्रभाव-110, काल प्रभाव-110, प्रकुपित पित्त के कर्म-111, पित्त शमन के उपाय-111, कफ की चय, प्रकोप तथा प्रशम अवस्थायें-112, गुण प्रभाव-112, काल प्रभाव-112, प्रकुपित कफ के कर्म-113, कफ शमन के उपाय-113, ऋतुओं के प्रभाव-114, ऋतुओं का द्रव्यों के रसों पर प्रभाव-114, ऋतुओं का दोषों पर प्रभाव-115, अहोरात्र में त्रिदोषों

का प्रभाव-117, क्रियाकाल-118, प्रथम क्रियाकाल-118, द्वितीय क्रियाकाल-119, वात प्रकोपक कारण-119, पित्त–प्रकोपक कारण-119, कफ–प्रकोपक कारण-120, वात–पित्त–कफ प्रकोप के लक्षण-120, तृतीय क्रियाकाल-120, प्रसरित दोषों के लक्षण-122, चिकित्सा नियम-122, चतुर्थ क्रियाकाल-122, पञ्चम क्रियाकाल-124, षष्ठ क्रियाकाल-124

अध्याय–2 संसर्ग, सन्निपात 126-130

संसर्ग, सन्निपात किसे कहते हैं-126, वृद्धि कल्पना के भेद-127, क्षय कल्पना के भेद-128, संसर्ग तथा सन्निपात चिकित्सा कर्म-130

भाग 3–धातु एवं मल 131-248

अध्याय–1 धातु निर्माण तथा पोषण क्रम 132-141

क्षीर दधि न्याय-132, प्रसाद भाग से धातु निर्माण क्रम-133, उपधातु निर्माण कर्म-133, मलों का निर्माण क्रम-133, केदारी कुल्या न्याय-136, विभिन्न धातुओं का उत्पत्ति काल-138, खले कपोत न्याय-139, एक काल धातु पोषण पक्ष-141

अध्याय–2 रसधातु 142-160

उत्पत्ति-142, रस का स्थान-143, रस धातु के गुण और कर्म-143, रस धातु का शरीर में प्रमाण-145, रससार पुरुष के लक्षण-147, रस वृद्धि के लक्षण-148, रस क्षय के लक्षण-148, क्षय और वृद्धि का सामान्य प्रतिकार-149, रसज विकार-149, रसवह स्रोतों की दुष्टि के कारण-150, उपधातु-150, स्तन्य-उत्पत्ति-151, शुद्ध स्तन्य की परीक्षा-152, स्तन्य के गुण तथा कर्म-153, स्तन्य वृद्धि के लक्षण-154, स्तन्य क्षय के लक्षण-154, स्त्री दुग्ध-155, विकृत दुग्ध-155, वात दूषित दुग्ध-155, पित्त दूषित दुग्ध-155, कफ दूषित दुग्ध-156, त्रिदोष दूषित दुग्ध-156, दुग्ध दोषों की चिकित्सा-156, स्तन्याभाव के कारण-157, स्त्री दुग्ध गर्म नहीं करना चाहिए-157, आर्तव-157, आर्तव काल की मर्यादा-157, आर्तव प्रवृत्ति-158, ऋतु की मर्यादा-158, ऋतु के पश्चात् गर्भाशय की स्थिति-158, आर्तव का स्वरूप-159, आर्तव का कार्य-159, आर्तव वृद्धि-

160, आर्तव क्षय-160

अध्याय—3 रक्तधातु **161-179**

उत्पत्ति-161, रक्त का स्वरूप-162, रक्त का पाञ्चभौतिक स्वरूप-163, रक्त के कार्य-163, विशुद्ध रक्त वाले पुरुष के लक्षण-163, रक्त का अञ्जलि परिमाण-164, रक्तसार पुरुष के लक्षण-164, रक्त वृद्धि के लक्षण-164, रक्त क्षय का प्रतिकार-165, अत्यधिक रक्त स्राव से हानि-166, दूषित रक्त-166, रक्तवाहिकाओं की दुष्टि के कारण-167, पित्त दूषित रक्त के लक्षण-167, कफ दूषित रक्त के लक्षण-167, संसर्गज तथा सन्निपातज रक्त के लक्षण-168, विषदूषित रक्त के लक्षण-168, दूषित रक्त से दोषों की उत्पत्ति-168, रक्त दोषज रोग-168, दूषित रक्त की चिकित्सा-169, क्या रक्त दोष है-169, रक्त का मल-172, निराम पित्त-173, साम पित्त-173, कण्डरा-173, कण्डराओं की संख्या-173, कण्डराओं के कार्य-174, सिरा-174, सिराओं की संख्या तथा कार्य-175, वातवह सिराओं के प्राकृत कर्म-177, कुपित वातवह सिराओं के कर्म-177, पित्तवह सिराओं के प्राकृत कर्म-177, कफवह सिराओं के प्राकृत कर्म-178, कुपित रक्तवह सिराओं के कर्म-178, दस मूल सिरायें और उनके कार्य-178

अध्याय—4 मांसधातु **180-190**

उत्पत्ति-180, मांस धातु के कर्म-180, पेशियों की संख्या-180, पेशियों के स्वरूप-181, पेशियों के कार्य-181, मांससार पुरुष के लक्षण-182, मांस वृद्धि के लक्षण-182, मांस क्षय के लक्षण-183, मांसवह स्रोतों की दुष्टि के कारण-183, मांस दोषज विकार-183, मांस दोषज विकारों का प्रतिकार-183, मांस के मल-184, वसा-184, वसा की परिभाषा-184, अञ्जलि परिमाण-184, कार्य-184, त्वचा-185, पञ्चेन्द्रिय द्रव्याणि-185, पञ्चेन्द्रिय अधिष्ठान-185, पञ्चेन्द्रिय अर्थ-185, पञ्चेन्द्रिय बुद्धि-185, त्वचा की उत्पत्ति-187, त्वचा के भाग-187, त्वचा के कार्य-189, त्वचा सारणी-190

अध्याय—5 मेदधातु **191-200**

उत्पत्ति-191, मेद के कार्य-192, शरीर में परिमाण-193, मेदसार पुरुष के लक्षण-193, कृशांगता के लक्षण-193,

कृशांगता के दोष-194, मेदक्षय के कारण-194, मेदवृद्धि के लक्षण-194, अतिस्थूल के दोष-195, मेदवृद्धि से उत्पन्न लक्षणों के कारण-195, मेदोदोषज विकार-196, मेदोवाही स्रोतों के दूषित होने के कारण-196, स्वेद-197, मेद का मल-197, स्वेद के कार्य-197, स्वेद क्षय के लक्षण-197, स्वेद क्षय का प्रतिकार-197, स्वेद वृद्धि के लक्षण-197, स्वेदवह स्रोत-198, स्वेदवह स्रोतों की दुष्टि के कारण-198, स्वेदवह स्रोतों की दुष्टि के लक्षण-198, स्नायु-198, उत्पत्ति-198, संख्या-199, प्रकार तथा स्थान-199, स्नायुओं के कार्य-200, स्नायुओं के कार्य-200, स्नायुओं का महत्त्व-200

अध्याय—6 अस्थि धातु 201-207

उत्पत्ति-201, अस्थियों की संख्या-201, अस्थियों के प्रकार-201, अस्थियों के कार्य-202, अस्थिसार पुरुष के लक्षण-205, अस्थि क्षय के लक्षण-205, अस्थि वृद्धि के लक्षण-206, अस्थिवह स्रोतों के दूषित होने के कारण-206, अस्थिवह स्रोतों का मूल-206, अस्थिदोषज विकार-206, अस्थि के मल-207

अध्याय—7 मज्जा धातु 208-212

उत्पत्ति-208, मज्जा के कार्य-208, शरीर में परिमाण-209, मज्जासार पुरुष के लक्षण-209, मज्जा क्षय के लक्षण-209, मज्जा वृद्धि के लक्षण-209, मज्जावह स्रोत-210, मज्जावह स्रोतों की दुष्टि के कारण-210, मज्जा दोषज विकार-210, वसा, मेद तथा मज्जा में अन्तर-210, मज्जा के मल-212

अध्याय—8 शुक्र धातु 213-222

उत्पत्ति-213, शुक्र का शरीर में स्थान-213, शुक्रधरा कला-214, शुक्र अन्तिम धातु-215, शुक्र के कार्य-215, शरीर में शुक्र का परिमाण-215, शुक्रसार पुरुष के लक्षण-216, शुक्र (Semen)-216, विशुद्ध शुक्र के लक्षण-216, शुक्र क्षय के लक्षण-217, शुक्रवृद्धि के लक्षण-218, शुक्रवह स्रोत-218, शुक्र दोषों की दुष्टि के कारण-218, शुक्र के दूषित होने के कारण-219, दूषित शुक्र के लक्षण-219, वातदूषित शुक्र के लक्षण-220, पित्तदूषित शुक्र के लक्षण-220, कफदूषित शुक्र के लक्षण-220, रक्तदूषित शुक्र के लक्षण-220, वात, कफ दूषित शुक्र के लक्षण-221, पित्त, कफ दूषित शुक्र के लक्षण-

221, वात–पित्त दूषित शुक्र के लक्षण-221, सन्निपात दूषित शुक्र के लक्षण-221, दूषित शुक्र की चिकित्सा-221

अध्याय–9 ओज **223-232**

ओज की उत्पत्ति-223, ओज की उत्कृष्टता-223, ओज का पोषण-223, ओज का स्थान तथा वर्णन-224, ओज के दस गुण-224, ओज के कार्य-225, ओज का व्याधिक्षमत्व कर्म-226, ओज का शरीर में परिमाण-229, ओज के दो प्रकार-229, ओज के क्षय के कारण-230, ओजक्षय के लक्षण-231, विस्रंस के लक्षण-231, व्यापद् के लक्षण-232, क्षय के लक्षण-232, क्षीण ओज की चिकित्सा-232

अध्याय–10 मल **234-247**

मल मूल द्रव्य-234, धातुओं के मल-235, पुरीष-236, पक्व तथा अपक्व पुरीष के लक्षण-237, पुरीष का धातु कर्म-238, पुरीष वेग के रोकने से हानि-238, पुरीषावरोध का प्रतिकार-238, पुरीष क्षय के लक्षण-238, पुरीष क्षय का प्रतिकार-239, पुरीष वृद्धि के लक्षण-239, पुरीषवह स्रोत-239, पुरीषधरा-239, पुरीषवह स्रोतों की दुष्टि के कारण-240, पुरीषवह स्रोत दुष्टि के लक्षण-240, पुरीषवह स्रोतों की दुष्टि का प्रतिकार-240, मूत्र-240, मूत्रोत्पत्ति-240, मूत्र का शरीर में धातु कर्म-240, मूत्र वेग रोकने से हानि-242, मूत्रावरोधक प्रतिकार-242, मूत्रक्षय के लक्षण-242, मूत्रक्षय का प्रतिकार-243, मूत्र वह स्रोत-243, मूत्रवह स्रोतों की दुष्टि के कारण-244, मूत्र वह स्रोतों की दुष्टि के लक्षण-244, मूत्र की परीक्षा-244, अन्य मल-245, अन्य मलों के क्षय के लक्षण-245, अन्य मलों की क्षय व वृद्धि के लक्षण-245, स्वस्थ व्यक्ति के लक्षण-245

भाग 4– मनोविज्ञान **249-296**

अध्याय–1 मन **249-279**

मनोविज्ञान-249, आत्मा-250, आत्मा के लक्षण-251, आत्मा का स्वरूप-252, आत्मा के करण-253, मन का अस्तित्व-253, मन की उत्पत्ति-255, गर्भ से आत्मा एवं मन का सम्बन्ध-255, मन शब्द की व्युत्पत्ति-257, मन के पर्याय-258, मन का स्वरूप-258, मन का स्थान-259, मन का कार्य क्षेत्र-260,

मन के लक्षण एवं गुण-261, मन के विषय-262, मन की वृत्तियां-262, मनोवृत्ति के प्रकार-263, परिदृष्ट मनोवृत्ति-263, अपरिदृष्ट मनोवृत्ति-265, मन के कर्म-266, संज्ञात्मक कर्म-267, बुद्धि के पर्याय-268, बुद्धि द्वारा उत्पन्न ज्ञान दो प्रकार का-268, बिने तथा साइमन बुद्धि की परिभाषा-269, टरमैन की परिभाषा-269, बार्किंघम की परिभाषा-269, थास्ट्रोन के अनुसार-269, थार्न डाइक के अनुसार-269, अमूर्त बुद्धि-270, सामाजिक बुद्धि-270, यान्त्रिक बुद्धि-270, बुद्धि की परीक्षा-270, भावात्मक कर्म-271, भावनाओं की विशेषतायें-272, एषणाएं-272, हीन अथवा पराहम् भाव-274, चेष्टात्मक कर्म-275, प्रयत्न-275, ऐच्छिक क्रियायें-276, अनैच्छिक क्रियायें-277, प्रतिवर्त क्रिया तथा सहज वृत्तिजन्य क्रियाओं में भेदाभेद-278, मन में कर्म की प्रेरणा एवं उत्पत्ति-279, सत्त्वसार के लक्षण-279

अध्याय—2 निद्रा 280-287

निद्रा उपस्तम्भ-280, मन और आत्मा की चार अवस्थायें-280, निद्रा की व्याख्या-281, निद्रा की उत्पत्ति-281, निद्रा के प्रकार-282, स्वाभाविक निद्रा से लाभ-283, निद्रा का समय-284, निद्रा काल में अपवाद-284, दिन में हितकर निद्रा-285, किन व्यक्तियों को दिन में निद्रा नहीं लेनी चाहिए-285, किन व्यक्तियों को रात में भी कम निद्रा लेनी चाहिए-285, निद्रा वेग को रोकने से हानि-285, निद्रा नाश के कारण-286, निद्रा नाश के उपाय-286, तन्द्रा-286, आधुनिक मत से निद्रा-286, आयु और निद्रा का सम्बन्ध-287

अध्याय—3 स्वप्न 288--296

अविद्या के भेद-288, स्वप्नोत्पत्ति-288, फ्रायड का स्वप्न सिद्धान्त-289, एडलर का स्वप्न सिद्धान्त-290, युंग का स्वप्न सिद्धान्त-290, स्वप्न सम्बन्धी दैहिक सिद्धान्त-291, संस्कार पाटव कारण-292, दोषज कारण-293, अदृष्टज कारण-293, स्वप्नों के प्रकार-293, मारक एवं दारुण स्वप्न-294, शुभ स्वप्न-296, स्वप्न के दोषों का परिहार-296।

भाग—1

दोषों की साम्यावस्था

1

विषय प्रवेश

मनुष्य मात्र के समस्त प्रयत्न सुख प्राप्ति के लिए हैं। सुख दो प्रकार का होता है— (1) लौकिक (भौतिक) सुख व (2) पारलौकिक सुख। इन सुखों की प्राप्ति हेतु की गई चेष्टा का नाम पुरुषार्थ है। पुरुषार्थ में चार बातें होती हैं— (1) अप्राप्त की प्राप्ति, (2) प्राप्त का रक्षण, (3) रक्षित की वृद्धि व (4) वर्धित का त्याग। पुरुषार्थ का अन्तिम ध्येय पारलौकिक सुख की प्राप्ति है। इसे ही मोक्ष कहते हैं, अर्थात् जन्म मरण से मुक्ति। धर्म, अर्थ तथा काम इस मोक्ष रूपी लक्ष्य प्राप्ति के साधन हैं। पुरुषार्थ के लिए मनुष्य को मानसिक तथा शारीरिक दृष्टि से स्वस्थ होना परमावश्यक है।

मनुष्य के इस मानसिक एवं शारीरिक स्थास्थ्य को बनाए रखने के लिए व व्याधि ग्रस्त होने पर व्याधि विनाश के लिए जिस ज्ञान की अपेक्षा है उसका नाम 'आयुर्वेद' है।

आयुर्वेद का प्रयोजन —

आयुर्वेद शास्त्र के दो प्रयोजन हैं (1) स्वस्थ मनुष्य के स्वास्थ्य की रक्षा करना तथा (2) रोगी मनुष्य के रोग का निवारण करना।

प्रयोजनं चास्य (आयुर्वेदस्य) स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणमातुरस्य विकारप्रशमनं च। (च०सू० 30/24)

इह खल्वायुर्वेदप्रयोजनं-व्याध्युपसृष्टानां व्याधिपरिमोक्षः स्वस्थस्य रक्षणं च। (सु० सू० 1/12)

उपरोक्त वर्णित दोनों प्रयोजन जीवित प्राणी पर ही सिद्ध हो सकते हैं। इसलिए इस विज्ञान का आयुर्वेद नामकरण किया गया है। जिस विज्ञान द्वारा आयु के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त हो उसे आयुर्वेद कहते हैं।

आयुर्वेदयतीत्यायुर्वेदः। (च० सू० 30/20)

'आयुरस्मिन् विद्यते, अनेन वाऽऽयुर्विन्दन्ति' इत्यायुर्वेदः।

(सु० सू० 1/15)

हिताहितं सुखं दुःखमायुस्तस्य हिताहितम्।
मानं च तच्च यत्रोक्तमायुर्वेदः स उच्यते। (च० सू० 1/40)

अर्थात् जिस शास्त्र में हितमय, अहितमय सुखायु एवं हितमय, अहितमय दुःखायु

का तथा आयु के मान (span) का वर्णन हो उसे आयुर्वेद कहते हैं।

अब प्रश्न उत्पन्न हो सकता है कि आयु किसे कहते हैं। इस सम्बन्ध में कहा गया है कि शरीर, इन्द्रिय, मन तथा आत्मा के संयोग को आयु कहते हैं।

शरीरेन्द्रियसत्वात्मसंयोगो........आयुरुच्यते।। च० सू० 14/1

शरीर और इन्द्रियां पांचभौतिक द्रव्य हैं अतः विनाशशील हैं और अचैतन्य हैं। आत्मा अविनाशी, निर्विकार तथा चैतन्य है। इस कारण जब आत्मा का सम्बन्ध मन के द्वारा शरीर एवं इन्द्रियों से होता है तब शरीर में जीवन के लक्षण प्रकट हो जाते हैं और वह शरीर (पुरुष) सुख–दुःख एवं हितकर–अहितकर द्रव्य, गुण तथा कर्मों से प्रभावित होने लगता है।

चिकित्स्य पुरुष (कर्म-पुरुष) –

भारतीय दर्शन ग्रंथों में चेतना धातु मात्र को पुरुष संज्ञा दी गई है। यहां पुरुष शब्द का व्यवहार **'पुरि वसति इति पुरुषः'** अर्थात् जो शरीर में रहता है वह पुरुष है के अर्थ में किया गया है। शरीर में चेतना के प्रतीक आत्मा का निवास है अतः उसकी संज्ञा पुरुष की गई है।

चेतनाधातुरप्येकः स्मृतः पुरुषसंज्ञकः। च० शा० 1/16

पुरुष की यह परिभाषा आयुर्वेद सम्मत नहीं है क्योंकि आत्मा नित्य एवं निर्विकार है वह कभी व्याधिग्रस्त नहीं हो सकता। आयुर्वेद में आकाश, वायु, तेज, जल तथा पृथ्वी के पंचभूतात्मक शरीर एवं चेतना उत्पन्न करने वाली चेतना (आत्मा) से युक्त, इन छः धातुओं के समुदाय को पुरुष संज्ञा दी गई है।

कर्म-पुरुष के गुण –

खादयश्चेतनाषष्ठधातवः पुरुषः स्मृतः। च० शा० 1/15

पञ्चमहाभूतशरीरिसमवायः पुरुष इत्युच्यते।। सु० सू० 1/20

जीवन के लक्षणयुक्त कर्म पुरुष अर्थात् चिकित्स्य पुरुष के गुण ये हैं— सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, (कायिक, वाचिक एवं मानसिक कर्म में प्रवृत्ति), प्राण (श्वसन क्रिया), अपान (निर्हरण क्रिया) उन्मेष, निमेष, बुद्धि (व्यावहारिक ज्ञान), मनःसंकल्प, विचारणा, स्मृति, विज्ञान, अध्यवसाय [कार्य करने का निश्चय] तथा विषयोपलब्धि [इन्द्रियों द्वारा विषयों का ज्ञान] ये सोलह कर्म पुरुष के गुण होते हैं। कर्म पुरुष ही चिकित्सा का अधिकरण है।

तस्य सुखदुःखे इच्छाद्वेषौ प्रयत्नः प्राणापानावुन्मेषनिमेषौ बुद्धिर्मनः-संकल्पो विचारणा स्मृतिर्विज्ञानमध्यवसायो विषयोपलब्धिश्च गुणाः।

सु० शा० 1/18

स एव कर्मपुरुषश्चिकित्साधिकृतः।। सु० शा० 1/20

आयुर्वेद शास्त्र के अनुसार दुःख का नाम ही रोग है। जन्म और मृत्यु, भूख और प्यास एवं निद्रा आदि स्वाभाविक रोग हैं। शरीर की स्वाभाविक क्रियाओं के लिए ये क्रियायें आवश्यक हैं। ज्वर, कास आदि शारीरिक रोग हैं। क्रोध, शोक, भय आदि मानसिक रोग हैं तथा अभिघात [चोट] आदि आगन्तुज रोग हैं। इस रोगों से उत्पन्न शारीरिक व मानसिक विकृतियों के ज्ञान के लिए शरीर में होने वाली क्रियाओं का ज्ञान अपेक्षित है अतः कर्म पुरुष (चिकित्स्य पुरुष) की प्रकृति को जानना इस पुस्तक का अभीष्ट विषय है।

पुरुष एवं लोक

मनुष्य सृष्टि का अंश है इसलिए उसमें तथा सृष्टि में समानता होना स्वाभाविक है। इस समानता को आचार्यों ने भली–भांति दर्शाया है। उन्होंने स्पष्ट कहा है जितने भी मूर्तिमान विशेष भाव इस लोक [प्रकृति] में हैं वे सब पुरुष [कर्म पुरुष] में भी होते हैं तथा जो पुरुष में हैं वे सब लोक में हैं। इस प्रकार लोक एवं पुरुष सादृश्य है। लोक और पुरुष की इस समता सम्बन्धी ज्ञान से दोनों में अन्तर करनेवाली विभेदक बुद्धि नष्ट हो जाती है और मनुष्य में सत्य बुद्धि उदय होती है जिससे संसार के समस्त प्राणिमात्र में अपनत्व उत्पन्न होता है।

यावन्तो हि लोके मूर्तिमन्तो भावविशेषाः तावन्तः पुरुषे, यावन्तः पुरुषे तावन्तो लोके। पुरुषोऽयं लोकसम्मितः।।

भूत तथा महाभूत

भूत— 'नित्यत्वे सति गुणवत्समवायिकारणत्वं भूतत्वम्' जो नित्य होकर गुणवान् पदार्थ का समवायी कारण है उसे भूत कहते हैं। भूत शब्द में 'भू' धातु का अर्थ है सर्वदा सत्ता में रहना।

लकड़ी से मेज बनाई जाती है। लकड़ी मेज का समवायी कारण है परन्तु अनित्य है, नष्ट होने वाला पदार्थ है। इसलिए लकड़ी आदि पदार्थ भूत नहीं है क्योंकि भूत का लक्षण है **'नित्यत्वे सति = नित्य होने पर'** जो यहां घटित नहीं होता है। अतः लकड़ी के समान अनित्य पदार्थ भूत संज्ञा का ग्रहण नहीं कर सकते हैं।

आत्मा, काल, दिशा और मन ये नित्य द्रव्य हैं तथा अपने–अपने गुणों के समवायी कारण भी हैं। परन्तु इनसे किसी अन्य गुणवान् द्रव्य की उत्पत्ति नहीं होती है। अतः ये भी भूत नहीं कहे जा सकते हैं, क्योंकि भूत का लक्षण **'गुणवत्समवायिकारणत्व** = जो गुणवान् वस्तु का समवायी कारण हो' इन पर घटित नहीं होता है।

अतः जिनकी उत्पत्ति तथा विनाश नहीं है तथा जिनमें अव्यक्त रूप से शब्दादि

गुण विद्यामन हैं और सृष्टि के प्रारम्भ में जिनके परस्पर संयोग से सृष्टि की उत्पत्ति होती है और वियोग से महाप्रलय होता है उनको भूत, सूक्ष्म भूत, तन्मात्रा अथवा परमाणु कहते हैं।

तन्मात्रा पाँच हैं— शब्द तन्मात्रा, स्पर्श तन्मात्रा, रूप तन्मात्रा, रस तन्मात्रा और गन्ध तन्मात्रा। प्रत्येक तन्मात्रा में केवल एक–एक गुण होता है वह भी अव्यक्त रूप में स्थित रहता है। शब्द तन्मात्रा में शब्द गुण, स्पर्श तन्मात्रा में स्पर्श गुण, रूप तन्मात्रा में रूप गुण, रस तन्मात्रा में रस गुण तथा गन्ध तन्मात्रा में गन्ध गुण अव्यक्त रूप में रहते हैं। शब्द तन्मात्रा से आकाश की उत्पत्ति; शब्द तन्मात्रा की सहायता से स्पर्श तन्मात्रा से वायु की उत्पत्ति; शब्द तथा स्पर्श तन्मात्राओं की सहायता से रूप तन्मात्रा से तेज की उत्पत्ति; शब्द, स्पर्श तथा रूप तन्मात्राओं की सहायता से रस तन्मात्रा से जल की उत्पत्ति; शब्द, स्पर्श, रूप तथा रस तन्मात्राओं की सहायता से गन्ध तन्मात्रा से पृथिवी की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार उत्पन्न आकाश, वायु, तेज, जल तथा पृथिवी महाभूत कहलाते हैं।

महाभूतों में गुण व्यक्त रूप से रहते हैं। आकाश महाभूत में शब्द गुण; वायु महाभूत में शब्द तथा स्पर्श गुण; तेज महाभूत में शब्द, स्पर्श तथा रूप गुण, जल महाभूत में शब्द, स्पर्श, रूप तथा रस गुण और पृथिवी महाभूत में शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध गुण व्यक्त रूप से विद्यमान होते हैं। व्यक्त गुण इन्द्रियग्राह्य होते हैं। इनको ग्रहण करने के लिए शरीर में ज्ञानेन्द्रियां हैं।

तन्मात्राओं में महत् परिमाण नहीं होता है इसलिए उन्हें महाभूत नहीं कहा जाता है। जिस द्रव्य में महत् परिमाण नहीं होता है उसका प्रत्यक्ष असम्भव है अतः परमाणु रूप सूक्ष्म भूतों की, जो इन्द्रियग्राही नहीं हैं तन्मात्रा संज्ञा है, महाभूत इनकी संज्ञा नहीं है। सृष्टि के आरम्भ में इन भूतों से महाभूतों की उत्पत्ति किस क्रम से हुई इसकी कोई लौकिक परीक्षा नहीं है। अलौकिक तत्त्वों का प्रमाण श्रुति है **'अलौकिकेषु तत्त्वेषु प्रमाणं परमं श्रुतिः'**। अतः श्रुति वचनों के अनुसार महाप्रलय के पश्चात् जब अव्यक्त ब्रह्म को सृष्टि की रचना करनी होती है तब आकाश परमाणुओं में परस्पर आकर्षण प्रारम्भ होता है। दो आकाश परमाणु परस्पर संयुक्त हो, द्व्यणुक' तथा तीन द्व्यणुक परस्पर संयुक्त हो, 'त्रसरेणु' बनते हैं। त्रसरेणु में प्रत्यक्ष योग्यता आ जाती है यद्यपि व्यावहारिक नेत्रों द्वारा उनका दृष्टिगोचर होना सम्भव नहीं है। कमरे में सुगन्ध वाली वस्तु की सुगन्ध दूर से ही आने लगती है यद्यपि उस वस्तु के कण सूक्ष्मदर्शक द्वारा भी दृष्टिगोचर नहीं हो सकते हैं। ये अत्यन्त सूक्ष्म

होने पर भी इन्द्रियग्राह्य हैं। इस प्रकार सूक्ष्म आकाश भूत से स्थूल आकाश महाभूत की; आकाश भूत के सहयोग से वायु भूत से वायु महाभूत की और इसी क्रम व पूर्व के भूतों के सहयोग से उत्तर महाभूत की क्रमशः उत्पत्ति होती है। आकाश, वायु, तेज, जल तथा पृथिवी महाभूत इस प्रकार उत्पन्न होते हैं और फिर परस्पर मिश्रित होकर पंजीकृत हो जाते हैं। ये महाभूत एक दूसरे में अनुप्रविष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार महाभूतों में अन्य सब महाभूतों का सांनिध्य हो जाता है। इन पंजीकृत महाभूतों से नाना प्रकार की सृष्टि की रचना हुई है। समस्त स्थूल तथा सूक्ष्म–से सूक्ष्म भौतिक द्रव्य इन पंचमहाभूतों के पंजीकरण अर्थात् विशिष्ट मिलन से उत्पन्न हुए हैं। इसलिए समस्त भौतिक पदार्थ पांचभौतिक कहलाते हैं। जिस महाभूत की अधिकता होती है, उत्कर्ष होता है, वह उसी के नाम से जाना जाता है यथा पार्थिव, जलीय, तैजस, वायवीय तथा आकाशीय पदार्थ। पदार्थों में जिन महाभूतों का अपकर्ष होता है, पदार्थ को संज्ञा प्रदान कने में उनको ग्रहण नहीं किया जाता है।

पांचभौतिक द्रव्यों में इन्द्रियों द्वारा ग्रहण योग्य शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध गुणों के अतिरिक्त पार्थिव द्रव्यों में खरत्व तथा गुरुत्व; जलीय द्रव्यों में द्रवत्व, गुरुत्व तथा शैत्य, तेजस द्रव्यों में उष्णत्व तथा लघुत्व; वायवीय द्रव्यों में चलत्व तथा लघुत्व और आकाशीय द्रव्यों में अप्रतिरोधत्व (किसी प्रकार की रुकावट न होना) भौतिक लक्षण होते हैं ये सब लक्षण स्पर्शेन्द्रिय द्वारा ग्राह्य हैं।

सृष्टि का पाञ्चभौतिकत्व

विज्ञानवेत्ताओं ने अब तक पृथिवी पर 103 मूलतत्त्व (elements) खोज निकाले हैं। खोज अभी तक पूर्ण नहीं है। इन समस्त मूल तत्त्वों के तथा भविष्य में और नये मिलने वाले मूल तत्त्वों के संगठन में एक समानता है। प्रत्येक मूलतत्त्व का एकांक एटम (atom) है व प्रत्येक एटम इलेक्ट्रोन (electron), प्रोट्रोन (proton) तथा न्यूट्रोन (neutron) के सहयोग से बना है। एक मूलतत्त्व के एटम की दूसरे मूलतत्त्व के एटम में भिन्नता इनमें उपस्थित प्रोट्रोन आदि की संख्या की विभिन्नता के कारण होती है। संख्या में यह परिवर्तन एटम के, तदनुसार, मूलतत्त्वों के, गुण, कर्मों में पृथक्ता का कारण होता है।

प्रत्येक एटम के केन्द्र में धन विद्युत् आवेश युक्त प्रोटोन तथा उदासीन न्यूट्रोन स्थित रहते हैं। इसके चारों ओर विभिन्न कक्षा में ऋण विद्युत् आवेश–युक्त इलेक्ट्रोन निरन्तर परिक्रमा करते रहते हैं। इलेक्ट्रोन में गुरुत्व कम होता है अतः एटम के भार मापन में इलेक्ट्रोन के भार की गणना नहीं करते हैं। हाईड्रोजन एटम के केन्द्र में केवल मात्र एक प्रोटोन होता है, अतः हाईड्रोजन के

एटम भार [atomic weight गुरुत्व] को एक एकांक मानते हैं। प्रत्येक मूल तत्त्व के एटम के केन्द्र में जितनी संख्या में प्रोटोन तथा न्यूट्रोन होते हैं वही उसका एटम भार है। गन्धक एटम के केन्द्र में 16 प्रोटोन तथा 16 न्यूट्रोन स्थित होते हैं अतः गन्धक का एटम भार 32 है। सोडियम एटम के केन्द्र में 11 प्रोटोन और 12 न्यूट्रोन होते हैं अतः सोडियम का एटम भार 23 है।

अब प्रश्न यह उठता है कि क्या एटम पांचभौतिक है और यदि है तो इसके किस भाग में कौन से महाभूत का उत्कर्ष है। इसका समाधान इस प्रकार है कि एटम के अन्दर जिस आकाश में प्रोटोन, न्यूट्रोन तथा इलेक्ट्रोन स्थित हैं तथा इलेक्ट्रोन गति करते हैं वह आकाश महाभूत है। आकाश इतना सूक्ष्म द्रव्य है कि हमें इसका अनुभव नहीं होता है परन्तु यह शून्य नहीं है जैसे जल रहित घड़े में आकाश है परन्तु शून्य नहीं, इस प्रकार एटम में आकाश है परन्तु शून्य नहीं। सूक्ष्मतम वस्तु को आकाश कहते हैं। ब्रह्माण्ड में सूर्य से पृथ्वी पर विकिरण [radiation] के द्वारा ताप, प्रकाश आदि ऊर्जा प्राप्त होती रहती है। ऊर्जा किसी द्रव्य के आश्रित ही रह सकती है व गमन करती है। सूर्य से ऊर्जाओं का हमारे पास पहुंचना सिद्ध करता है कि सूर्य और पृथ्वी के बीच शून्य नहीं है वरन् सूक्ष्मतम द्रव्य 'आकाश' उपस्थित रहता है श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है कि **'सर्वगतसौक्ष्म्यादाकाशो नोपलिप्यते'** [14/32] सर्वत्र व्याप्त हुआ आकाश सूक्ष्म होने के कारण लिपायमान नहीं है। इसलिए आकाश में प्रतिरोध [resistance] शक्ति नहीं होती है और अप्रतिरोधत्व उसका लक्षण है।

प्रोटोन तथा न्यूट्रोन के चारों ओर इलेक्ट्रोन गति करते हैं। जो गति का कर्त्ता है वह 'वायु महाभूत' है। गतिज ऊर्जा से ताप, विद्युत् प्रकाश (अग्निरूप तेजस) की उत्पत्ति होती है। स्थितिज ऊर्जा जब तक गतिज ऊर्जा में परिवर्तित नहीं होती है, अग्निरूप तेजस की उत्पत्ति नहीं होती है। इलेक्ट्रोन की गति करने से इनकी स्थितिज ऊर्जा विद्युत्, प्रकाश तथा उष्णता का विकिरण करता है। विकिरित ऊर्जा की तेजस महाभूत संज्ञा है। इसके बिना रूप का ग्रहण नहीं हो सकता है। अतः तेजस का गुण रूप है। किसी एटम में जितने इलेक्ट्रोन, प्रोटोन तथा न्यूट्रोन होंगे उतना ही अधिक तेज उनसे विकिरित होगा। धातुयें विद्युत् एवं ऊष्मा की सुचालक होती हैं अतः विकिरण और परावर्तन से धात्विक चमक (metallic lustre) निकलती है। इसलिए धातुओं (metals) को तेजस भी कहते हैं।

एटम के केन्द्र में अत्यन्त शक्तिशाली ऊर्जा के द्वारा प्रोटोन तथा न्यूट्रोन परस्पर एक दूसरे से गुंथे हुए रूप में रहते हैं। यदि इन्हें पृथक् करें तो एक

असीम ऊर्जा स्वतन्त्र हो जाती है। यदि इस स्वतन्त्र ऊर्जा को समुचित लाभ के लिए उपयोग नहीं किया जाता है तो अत्यन्त भयंकर विपत्ति का कारण बन जाता है। एटम शक्ति इसी सिद्धान्त पर आधारित है। इनका पृथक्करण महाप्रलय है। प्रोट्रोन तथा न्यूट्रोन को केन्द्र में एकत्रित रखने वाला तथा इलेक्ट्रोन को भी सीमा में रखने वाला जल महाभूत है (cohesion) इसका कार्य है।

प्रोटोन, न्यूट्रोन तथा इलेक्ट्रोन में जो अपना भार है वही घनत्व है। वह पृथिवी महाभूत है। जिनमें घनत्व होता है उन्हीं का वाष्पीकरण हो सकता है और गन्ध की उत्पत्ति होती है। द्रव्य (matter) घनत्व द्वारा ही जाना जाता है।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक एटम चाहे वह किसी भी मूलतत्त्व (element) का हो पांचभौतिक है तथा इन पाँचों महाभूतों के अतिरिक्त इनके संगठन में अन्य कुछ नहीं है। पंचमहाभूत आधुनिक विज्ञान में वर्णित तत्त्व (elements) नहीं हैं वरन् प्रत्येक तत्त्व के निर्मात्ता हैं। मूल तत्त्वों के नष्ट हो जाने पर भी इनकी स्थिति बनी रहती है। अतः भारतीय दार्शनिकों का मत है कि ब्रह्मांड में प्रत्येक वस्तु 'पांचभौतिक' है एक अटल सत्य है।

एटम के संगठन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि क्रियाकर महाभूत केवल तीन हैं— जल, तेजस तथा वायु महाभूत, शेष दो पृथिवी तथा आकाश महाभूत सहायक महाभूत हैं। परन्तु इन दोनों के बिना पहिले तीनों महाभूत क्रियाहीन हैं। पांचों का परस्पर संगठित रहना ही सृष्टि है।

सृष्टि के पांचभौतिक प्रतिपादन हेतु एक अन्य दृष्टिकोण उपस्थित किया जाता है। इसको समझने के लिए कुछ प्राकृतिक नियमों की आवश्यक जानकारी दी जा रही है।

1] उत्पत्ति के प्रारम्भ के लिए शून्य अवकाश अपेक्षित है।

2] स्थिति में निरन्तर परिवर्तन होते रहना ही जीवन है। परिवर्तन का अभाव मृत्यु है और मृत्यु का अर्थ प्रलय है।

3] परिवर्तन के लिए सबसे पहले पूर्व के संयोगों का विघटन होता है।

4] विघटित तत्त्वों के आधार पर नवीन संयोग बनते हैं।

5] संयोग विशेष से आकार विशेष की उत्पत्ति होती है।

उपरोक्त क्रम से एक के पश्चात् दूसरी प्रक्रिया के होते रहने के फलस्वरूप सृष्टि की उत्पत्ति होती है अन्यथा नहीं। सृष्टि में उपस्थित प्रत्येक वस्तु को इन क्रमों से क्रमानुसार निकलना पड़ता है। इन क्रमों में परिवर्तन सृष्टिविनाश [प्रलय] का कारण होता है। उत्पत्ति के इन प्राकृतिक क्रमों को क्रमशः आकाश

[space], वायु [change, diffusion, motion], अग्नि disintregation, ketabolism, analysis, जल [intregation, anabolism, synthesis] और पृथिवी [form] कहते हैं। काल, दिशा, आत्मा और मन के समान ये पंचमहाभूत भी अमूर्त [abstract] द्रव्य हैं। उपरोक्त क्रमों द्वारा इन महाभूतों के अमूर्त [अव्यक्त] भाव मूर्त [व्यक्त] रूप धारण कर सृष्टि के रूप में प्रकट होते हैं। इस प्रकार नित्य एवं सूक्ष्म सत्ताओं का अनित्य एवं स्थूल रूप धारण करना सृष्टि है तथा सृष्टि की उत्पत्ति में पांच महाभूत कारण होते हैं। जिस क्रम की प्रक्रिया अपेक्षाकृत प्रमुख होती है उस महाभूत की प्रधानता उस वस्तु में गुण रूप में प्रकट होती है। 'भूत' शब्द की परिभाषा उपरोक्त विवरण पर पूर्णरूपेण घटित होती है।

इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक परिवर्तन का प्रवर्तक वायु, वियोग का प्रवर्तक अग्नि तथा संयोग का प्रवर्तक जल है। इन प्रक्रियाओं को शरीर में क्रमशः वात, पित्त और श्लेष्मा [कफ] की प्रक्रियायें कहते हैं। सुश्रुत संहिता के अनुसार वात की उत्पत्ति वायु महाभूत से, पित्त की उत्पत्ति अग्नि (तेज) महाभूत से तथा कफ की उत्पत्ति जल माहभूत से हुई है एवं वाग्भट्ट संहिता में वात की उत्पत्ति आकाश तथा वायु महाभूतों से, पित्त की उत्पत्ति तेज महाभूत तथा श्लेष्मा [कफ] की उत्पत्ति जल तथा पृथिवी महाभूतों से मानी जाती है।

'तत्र वायोरात्मैवात्मा, पित्तमाग्नेयं, श्लेष्मा सौम्य इति।'

(सु० सू० 43/9)

'वाय्वाकाशधातुभ्यां वायुः, आग्नेयं पित्तम्, अम्भःपृथवीभ्यां श्लेष्मा।'

(अ० सं० सू० 20/3)

जैसा पीछे कहा जा चुका है कि पुरुष [जीवित प्राणी] छः धातुओं [पांच महाभूत तथा आत्मा] के संयोग से स्थित है। पञ्चमहाभूतों के शरीर में कार्यकारी तत्त्व वात, एवं कफ [श्लेष्मा] के रूप में कार्य सम्पादन करते हैं तथा आत्मा स्वयं कोई कार्य नहीं करता है, वह तो चेतना [जीवन के लक्षणों] का कारण होता है। वात, पित्त एवं कफ त्रिदोष संज्ञा से जाने जाते हैं। आगे के अध्यायों में इन्हीं पर विस्तार से विचार किया गया है। तथा 'मनोविज्ञान खण्ड' में आत्मा पर पुनः और अधिक विचार किया गया है।

2
दोषों की संख्या

शरीर के घटक–

जैसा पिछले अध्याय में कह आये हैं कि पंचमहाभूतों के विकार समूह तथा आत्मा के आश्रयभूत को शरीर कहते हैं। जो समयोगवाही होता है।

तत्र शरीरं नाम चेतनाधिष्ठानभूतं पञ्चभूतविकारसमुदायात्मकं समयोगवाहि।। [च० शा० 6/3]

पंचमहाभूत अविकृत अवस्था में अर्थात् प्रत्येक पृथक्–2 रहते हुए सृष्टि की उत्पत्ति का कारण नहीं हो सकते हैं। जब ये पंचीकृत हो एक दूसरे में अनुप्रविष्ट हो जाते हैं अर्थात् प्रत्येक में अन्य चारों का भी समावेश हो जाता है तब ही वे स्थूल शरीर का कारण बनते हैं। शरीर में आत्मा का आश्रय हो जाने पर उसमें जीवन के लक्षण प्रकट हो जाते हैं। जीवन के लक्षणों से युक्त पंचमहाभूतों से निर्मित यह शरीर पुरुष कहलाता है। समस्त उपादान कारणों के सम्यक् भाव में रहने पर ही इस शरीर की क्रियायें स्वाभाविक रूप से सम्पन्न होती हैं। अतः शरीर की परिभाषा में यह और बढ़ गया कि उसकी क्रियायें समयोगवाही हों।

शरीर की परिभाषा इस प्रकार कह सकते हैं कि जिसमें (1) पञ्चमहाभूतों का विकार समूह हो। [2] आत्मा का वास हो। तथा [3] आंतर एवं बाह्य क्रियायें सम्यक् भाव से हो रही हों, वह शरीर है।

शरीर में पञ्चमहाभूतों के विकार त्रिदोष, सप्तधातु तथा मल के रूप में होते हैं। ये (दोष, धातु और मल) शरीर के मूल माने गए हैं।

दोषधातुमलमूलं हि शरीरम्।। (सु० सू० 15/3)

दोषधातुमला मूलं सदा देहस्य।। (अ० हृ० सू० 11/1)

प्रत्येक की परिभाषा इस प्रकार है–

दूषयन्तीति दोषाः' जो शरीर [शरीरगत धातुओं] को दूषित करे उसे दोष कहते हैं। शरीर दोष तीन हैं। वात, पित्त तथा कफ (श्लेष्मा।

वायुः पित्तं कफश्चोक्तः शारीरो दोषसंग्रहः। च० सू० 1/56

वायुः पित्तं कफश्चेति त्रयो दोषाः समासतः। अ० हृ० सू० 1/6

'धारणात् धातवः' जो शरीर का धारण करे उसे धातु कहते हैं। शरीर धातु सात हैं– रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा तथा शुक्र।

रसाऽसृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्राणि धातवः। अ० हृ० सू० 1/13

'मलिनीकरणान्मलाः'— जो (समय से अधिक रुक जाने से) शरीर को मलिन करे उसे मल कहते हैं। मूत्र, पुरीष, स्वेद आदि मल हैं।

मला मूत्रशकृत्स्वेदादयोऽपि च। [अ० हृ० सू० 1/13]

दोष, धातु तथा मल शरीर के मूल हैं। मूल कहते हैं जड़ को। जड़ के बिना वृक्ष का अस्तित्व नहीं होता है। जिसके बिना उत्पत्ति, स्थिति तथा जीवन न रह सके उसे मूल कहते हैं। दूसरे शब्दों में— जो कारणभूत हो उसे मूल कहते हैं। दोष, धातु तथा मलों में से यदि एक का भी अभाव होता है तो शरीर की स्थिति नहीं रह सकती। इसलिए दोष, धातु तथा मल इस शरीर के मूल हैं।

शारीर दोष— वात पित्त कफ दोष; रस रक्तादि धातु तथा मूत्र पुरीषादि मल कहे जाते हैं। यद्यपि इन सबके लिए 'धातु' संज्ञा का व्यवहार किया जा सकता है, क्योंकि ये सब शरीर का धारण करते हैं। परन्तु इन सबको एक ही संज्ञा देने से इनकी जो अपनी-अपनी विशेषताएं हैं उनका ज्ञान नहीं होता है। यथा देवदत्त नामक एक कवि है। देवदत्त मात्र कहने से उसका केवल मनुष्यत्व प्रकट होता है कवि होना नहीं। इसी प्रकार दोषादि की संज्ञा धातु देने से उनका केवल 'धारण करना' गुण प्रकट होगा 'दूषण करना नहीं'। जैसे देवदत्त को कवि उस समय भी कहते हैं जबकि वह कविता नहीं करता होता है, इसी प्रकार वात, पित्त तथा कफ की 'दोष' संज्ञा उस समय भी होती है जबकि वे प्राकृतिक अवस्था में रहते हुए देह धारण का कार्य करते हैं। **'प्राधान्याद् व्यपदेशा भवन्ति'** प्रधान गुण कर्म के अनुसार ही किसी पदार्थ का नाम रखा जाता है। अतः वात, पित्त, कफ को 'दोष' संज्ञा से, रस रक्तादि सप्त धातुओं को 'धातु' संज्ञा से एवं पुरीष, मूत्र, स्वेद आदि को 'मल' संज्ञा से निर्दिष्ट किया जाता है।

आचार्य चरक ने शरीर के सम्बन्ध में कहा है कि **'आहारसम्भवं वस्तु'** (च० सू० 28/44) यह शरीर आहार से उत्पन्न होने वाली वस्तु है। शरीर में आहार द्रव्यों के पाक के पश्चात् आहार रस का विसरण होकर शरीर में चयापचय होता है। चयापचय के परिणामस्वरूप सार अंश से शरीर के ऊतकों (tissues) की वृद्धि क्षय पूर्ति तथा स्थायी धातुओं की उत्पत्ति होती है और निस्सार भाग मल रूप शरीर से उत्सर्जित हो जाता है। जीवन के लिए ये शारीरिक क्रियायें आवश्यक हैं। इनका नियन्त्रण त्रिदोष द्वारा होता है। यदि ये क्रियायें प्राकृतिक रूप से शरीर से सम्पादित हो रही हैं तो वात्त, पित्त तथा कफ का कार्य धारण करना मात्र होता है। परन्तु **जब वात, पित्त तथा कफ के** द्वारा शारीरिक क्रियाओं **में विषमता उत्पन्न** हो जाती है **तब विषमता उत्पन्न करने की विशेष शक्ति** से

सम्पन्न होने के कारण इन्हें दोष संज्ञा प्रदान की गई है। इनकी दूषण क्रियाओं से सातों धातुयें ही प्रभावित होती हैं। अतः सातों धातुओं को दूष्य कहा जाता है। अत्यन्त विकृतावस्था में दोष मल रूप से शरीर में उपस्थित रहते हैं अतः इन्हें 'मल' संज्ञा भी दी जा सकती है।

शरीरदूषणाद्दोषा धातवो देहधारणात्।
वातपित्तकफा ज्ञेया मलिनीकरणान्मलाः।। शा० पू० 5/24

शरीर की समस्त क्रियाओं का एक ही उद्देश्य है और वह है शरीर को स्वस्थ रखना। इसके लिए इन सब क्रियाओं में परस्पर तालमेल रहना आवश्यक है। यदि किसी एक क्रिया में विकृति आती है तो उसका विपरीत प्रभाव अन्य शारीरिक क्रियाओं पर भी पड़ता है। शरीर की इन क्रियाओं का ठीक प्रकार से सम्पन्न न होने का नाम ही व्याधि है। शारीरिक क्रियाओं में दोषों की प्रमुखता को प्रकट करने के लिए आचार्यों ने शरीर को 'त्रिस्थूण' तीन स्तम्भों (वात, पित्त, कफ) के ऊपर आधारित कहा है।

वातपित्तश्लेष्माण एव देहसंभवहेतवः। तैरेवाव्यापन्नैरधोमध्योर्ध्वसन्निविष्टैः शरीरमिदं धार्यतेऽऽगारमिव स्थूणाभिस्तिसृभिः, अतश्च त्रिस्थूणमाहुरेके। त एव च व्यापन्नाः प्रलयहेतवः।। सू० सू० 21/2

वात, पित्त, कफ शरीर की उत्पत्ति के कारण हैं। शरीर में नीचे (नाभि के नीचे, वात का स्थान, मध्य में (नाभि और हृदय के मध्ये) पित्त का स्थान और ऊपर (हृदय से ऊपर) कफ का स्थान माना गया है। वात, पित्त, कफ के विकार रहित स्थिति में रहने से शरीर का उसी प्रकार धारण होता है जिस प्रकार कम से कम तीन स्तम्भों पर मकान स्थित रह सकता है। अतः शरीर को त्रिस्थूण कहते हैं। जिस प्रकार किसी एक स्तम्भ की निर्बलता से मकान की दृढ़ता में संदेह हो जाता है उसी प्रकार जब वात, पित्त, कफ में किसी एक में भी विकृति आ जाती है तब ये इस शरीर रूपी मकान के नाश के कारण बन जाते हैं।

शरीर क्रियाओं में परस्पर तालमेल उसी समय तक बना रह सकता है जब तक कि प्रत्येक का कार्यक्षेत्र पृथक्–पृथक् हो। शरीर में ऐसा ही होता है यद्यपि वात, पित्त, कफ शरीर की क्रियाओं के जनक हैं परन्तु प्रत्येक का कार्य व क्षेत्र पृथक्–पृथक् है। शरीर के अन्दर विभिन्न जैव भौतिक (bio-Physical) तथा जैव रासायनिक (bio-chemical) क्रियायें इन्हीं वात–पित्त–कफ के द्वारा सम्पन्न होती हैं। उदाहरण देते हुए कहा गया है कि जैसे चन्द्रमा अपने विसर्ग कर्म (creating power), सूर्य अपने आदान कर्म (assimilating power) तथा

वायु अपने विक्षेप कर्म (diffusing power) द्वारा जगत् को धारण करते हैं। उसी प्रकार कफ अपने विसर्ग कर्म [anabolic functions] पित्त अपने आदान कर्म [ketabolic functions] द्वारा तथा वायु अपने विक्षेप कर्म [nervous and hormonal functions] द्वारा शरीर को धारण करते हैं।

विसर्गादानविक्षेपैः सोमसूर्यानिला यथा।
धारयन्ति जगद्देहं कफपित्तानिलास्तथा।। सु० सू० 21/7

आधुनिक विज्ञान के अनुसार जो स्थान घेरता तथा घनत्व रखता है उसे द्रव्य अथवा पदार्थ [matter] कहते हैं। स्थान घेरने तथा घनत्व रखने वाली वस्तु का प्रत्यक्ष हो सकता है। उस वस्तु को हम नेत्रों द्वारा देख सकते हैं, फिर चाहे हमें देखने के लिए यन्त्रों का उपयोग क्यों न करना पड़े।

वात, पित्त तथा कफ पर विज्ञान की यह परिभाषा लागू नहीं होती है। आचार्य चरक ने वात के प्रसंग में उसे आकार रहित [अमूर्तत्व] तथा आचार्य सुश्रुत ने केवल कर्मों द्वारा प्रत्यक्ष [अव्यक्तो व्यक्तकर्मा] कहा है। इन्हें ऊर्जा [energy] भी नहीं कह सकते हैं क्योंकि ऊर्जा भी किसी द्रव्य का आधार लेकर ही स्थित हो सकती है वात, वित्त तथा कफ आधुनिक विज्ञान की परिभाषाओं के अनुसार न तो द्रव्य [matter] हैं और न ही ऊर्जा [energy] हैं।

आयुर्वेद में द्रव्य की परिभाषा उपरोक्त परिभाषा से भिन्न है। आयुर्वेद अनुसार **'यत्राश्रिताः कर्मगुणाः कारणं समवायि यत् तद् द्रव्यम्'** च० सू० 1/50 जिस पर कर्म तथा गुण आश्रित हैं, जो उनका समवायि कारण है उसे द्रव्य कहते हैं। समवायि सम्बन्ध नित्य सम्बन्ध को कहते हैं। समवायि का अभिप्राय है कि गुणों तथा कर्मों की स्थिति द्रव्य के बिना नहीं रहती है। द्रव्य के नष्ट होने पर उसके आश्रित गुण तथा कर्म भी स्वतः नष्ट हो जाते हैं।

इसके अनुसार द्रव्य नौ हैं– पंचमहाभूत, आत्मा, मन, काल एवं दिशा।

खादीन्यात्मा मनः कालो दिशश्च द्रव्यसंग्रहः। च० सू० 1/47

पिछले पृष्ठों में हम इसका विवेचन कर चुके हैं कि शरीर के मूल, दोष– **धातु तथा, मल, पंचभूता**त्मक हैं। अतः द्रव्य पदार्थ है। यद्यपि द्रव्य तथा ऊर्जा का **सम्बन्ध** नित्य **सम्बन्ध** है तो भी हम द्रव्य को ऊर्जा नहीं कह सकते हैं। शरीर में ये **पंचभूतात्मक** द्रव्य विशेष शक्तिसम्पन्न होते हुए भी सूक्ष्म रूप (abstract form भावरूप] में रहते हैं ये अपनी कर्मशक्ति द्वारा ज्ञेय हैं तथा समस्त शारीरिक क्रियाओं के कर्त्ता हैं। इन्हें दोष संज्ञा से जानते हैं। जो शारीर मूल द्रव्य अपेक्षाकृत कम शक्ति सम्पन्न होते हैं व अपनी कर्मशक्ति द्वारा दूसरों को प्रभावित

नहीं कर सकते हैं परन्तु स्वयं दोषों द्वारा प्रभावित हो जाते हैं उन्हें दूष्य कहते हैं और धातु संज्ञा से जाने जाते हैं। जो शारीर मूल द्रव्य निम्न शक्ति सम्पन्न होते हैं एवं शक्तिहीन होने के कारण शरीर की क्रियाओं में भाग नहीं लेते हैं तथा उनका शरीर में समय से अधिक रुक जाना शरीर की क्रियाओं पर हानिकारक प्रभाव डालता है, ये मल संज्ञा से जाने जाते हैं।

मानस दोष–

जिस प्रकार वात, पित्त एवं कफ, ये तीन शरीर दोष हैं इसी प्रकार मन को प्रभावित करने वाले रज एवं तम मानस दोष हैं।

वायुः पित्तं कफश्चोक्तः शारीरो दोषसंग्रहः।
मानसः पुनरुद्दिष्टो रजश्च तम एव च। च० सू० 1/56

वास्तव में मन को प्रभावित करने वाले तीन कारण हैं, सत्व, रज एवं तम। परन्तु सत्व गुण स्वयं विशुद्ध है अतः उसके द्वारा मन में किसी प्रकार का विकार उत्पन्न नहीं हो सकता है। शेष दोनों गुण रज एवं तम मन को विकृत करते हैं। इसलिए मानस दोषों में इन्हीं दोनों की गणना की जाती है। तर्क के लिए यदि सत्व को अविकारी नहीं मानें तो परिणाम यह होगा कि मन कभी भी विकार रहित स्थिति हो प्राप्त नहीं होगा। इस पर तीनों गुणों में किसी न किसी का प्रभाव बना रहेगा और वह सदैव विकृत स्थिति में रहेगा। बिना अविकारी मन के यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति असम्भव है और यथार्थ ज्ञान रहित व्यक्ति के लिए मोक्ष असम्भव है अतः सत्व गुण के द्वारा मन की विकृति नहीं होती है।

मोक्ष का अर्थ है कि आत्मा को पुनः शरीर धारण की आवश्यकता नहीं रहे। ऐसा उस समय सम्भव है जब रजोगुण तथा तमोगुण का अभाव हो जाए। अर्थात् वे निःशेष रूप से समाप्त हो जायें व बलवान् कर्मों [जिन कर्मों का फल अवश्य भोगना हो वे बलवान् कर्म कहे जाते हैं] के क्षय से कर्म के बन्धन से छुटकारा हो जाए तो यह अपुनर्भव दशा अर्थात् पुनः उत्पन्न न होने की दशा होती है। इसी को मोक्ष कहा गया है। च० शा० 1/141

कर्म दो प्रकार के होते हैं। पूर्व जन्म में किए गए कर्मों को 'दैव' कर्म कहते हैं तथा इस जन्म में किए गये कर्मों को 'पौरुष' कहते हैं। जब दैव बलवान् होता है अर्थात् पूर्व जन्म के कर्मों का फल भोगना शेष रहता है तो उत्तर जन्मों में उसे अवश्य भोगना पड़ता है। मोक्ष का भाव है कि पूर्वजन्म में किये कर्मों का फल भोगना शेष न रहे एवं वर्तमान जन्म में ऐसा कोई कर्म न किया जाए जिससे फल भोगना हो अर्थात् रजोगुण व तमोगुण का मन पर प्रभाव नहीं पड़ने दिया

जाए तो उस अवस्था में केवल सत्व गुण ही मन पर प्रभाव डालने को शेष रह जाता है। जिसका प्रभाव सदैव यथार्थ ज्ञान का कारण होता है। ऐसी स्थिति में पुनर्जन्म की आवश्यकता समाप्त हो जाती है। इस स्थिति को मोक्ष कहते हैं।

जब तक यह स्थिति नहीं आती है उस समय तक रजोगुण एवं तमोगुण में जो प्रबल होगा मन पर प्रभाव डालेगा और उसके अनुसार मन विकृत होगा। मन के इन विकारों को मानस विकार तथा कारण, रज एवं तम को मानस दोष कहते हैं।

मानस दोषों से उत्पन्न विकार हैं– काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, अंहकार, अभिमान, शोक, चित्तग्लानि, भय, हर्ष आदि।

रजस्तमश्च मानसौ दोषौ-तयोर्विकाराः कामक्रोधलोभमोहेर्ष्या–
मानमदशोकचित्तोद्वेगभयहर्षादयः। च० वि० 6/6

मानस विकारों में पहले मन विकृत होता है और फिर उसके प्रभाव से शरीर दोष भी विषम हो शरीर में विकृति उत्पन्न करते हैं। यदि मन को विकृत करने वाले कारण हट जाते हैं तो सामान्यतः शरीर से विकार स्वयमेव नष्ट हो जाते हैं इसी प्रकार यदि वात, पित्त तथा कफ में किसी भी असाम्यास्था से शारीरिक विकार उत्पन्न होते हैं तो उनके प्रभाव से मन में भी विकार उत्पन्न होने की सम्भावना से इन्कार नहीं किया जा सकता तथा शारीरिक विकार के कारणों के नष्ट हो जाने से मानसिक असंतुलन भी संतुलित हो जाता है।

वात, पित्त एवं कफ की साम्यावस्था शारीरिक क्रियाओं के स्वाभाविक सम्पादन को तथा असाम्यावस्था शरीर में भौतिक, जैव एवं रासायनिक (Physiobio chemical) क्रियाओं में विकार को इंगित करते हैं इसी प्रकार रज एवं तम की साम्यावस्था मानसिक क्रियाओं में सन्तुलन को इनकी असाम्यावस्था मानसिक विकारों को इंगित करते हैं। धातुओं (दोषों) की विषमता को विकार कहते हैं तथा इनकी समता को आरोग्य कहते हैं आरोग्य का नाम सुख है तथा विकारों का नाम दुःख है।

विकारो धातुवैषम्यं साम्यं प्रकृतिरुच्यते।
सुखसंज्ञकमारोग्यं विकारो दुःखमेव च।। च० सू० 9/3
रोगस्तु दोषवैषम्यं दोषसाम्यमरोगता।। अ० हृ० सू० 1/20

असाम्यावस्था के कारण–

शारीर एवं मानस दोनों प्रकार की असाम्यावस्था (विषमताओं) के तीन प्रधान कारण हैं।

तत्र तु खल्वेषां द्वयानामपि दोषाणां त्रिविधं प्रकोपणं तद्यथा- आत्म्येन्द्रिार्थसंयोगः प्रज्ञापराधः परिणामश्चेति।।

(च० वि० 6/7)

1) असात्म्येन्द्रिार्थसंयोगः — इन्द्रियों का अपने विषयों के साथ असात्म्य संयोग होना। असात्म्य संयोग का अर्थ है इन्द्रियों का अपने–अपने विषय के साथ समयोग न होकर अतियोग, अयोग अथवा मिथ्यायोग का होना।

2) प्रज्ञापराध— प्रज्ञा के अन्तर्गत धी (निश्चयात्मक बुद्धि), धृति (धारणात्मक बुद्धि) तथा स्मृति[स्मरणात्मक बुद्धि] का समावेश है। इनका अतियोग, अयोग अथवा मिथ्यायोग होना प्रज्ञापराध का कारण होता है।

परिणाम— काल [ऋतुजन्य काल अथवा वातावरणजन्य काल] का अतियोग, अयोग अथवा मिथ्यायोग होना।

दोषों की संख्या यद्यपि सीमित है परन्तु प्रत्येक प्रकोपक कारण असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग प्रज्ञापराध तथा परिणाम की विभिन्नता के कारण अनगिनत प्रकार की व्याधियां एवं विकार उत्पन्न होते हैं।

~~~~~~~~
~~~~~~~~

3
दोषों के स्थान

दोषों का कार्यक्षेत्र समस्त शरीर है। शरीर में इनकी क्रियायें निरन्तर अबाध गति से होती रहती हैं। दोषों की साम्यावस्था इनकी सूक्ष्मावस्था है। इस अवस्था में हमको इनकी क्रियाओं का भान नहीं होता यद्यपि ये क्रियायें निरन्तर हो रही होती हैं। उस समय इनकी असाम्य क्रियाओं का प्रभाव शरीर में प्रकट हो जाता है। यह दोषों की स्थूलावस्था है। इस अवस्था में शरीर के जिन स्थानों पर दोषों की क्रियाशीलता विशेष रूप से प्रकट होती है उन स्थानों को दोषों के स्थानविशेष कहते हैं।

सर्वशरीरचरास्तु वातपित्तश्लेष्माणो हि सर्वस्मिन् शरीरे कुपिताकुपिताः शुभाशुभानि कुर्वन्ति।। च० सू० 20/8

कुपित अथवा अकुपित होकर समस्त शरीर में व्याप्त वात, पित्त, कफ, देह में अशुभ व शुभ क्रियाओं के कारण होते हें। अर्थात् साम्यावस्था में दोष शुभ [हितकर] शारीर क्रियाओं के तथा असाम्यावस्था में अशुभ [अहितकर] क्रियाओं के कारण हैं।

वात्तपित्तश्लेष्मणां पुनः सर्वशरीरचराणां सर्वस्त्रोतांस्ययनभूतानीति। च० वि० 5/5

समस्त शरीर में संचार करने वाले वात, पित्त तथा कफ के लिए शरीर के समस्त स्रोत मार्ग हैं।

वात के स्थान

वस्तिः पुरीषाधानं कटिः, सक्थिनी पादावस्थीनि च वातस्थानानि, तत्रापि पक्वाशयो विशेषेण वातस्थानम्।। च० सू० 20/7

वस्ति (मूत्राशय), पुरीषाधान [वृहदन्त्र], कटि [श्रोणि भाग—pelvic region], सक्थिनी [जंघा], पाद [पैर] और अस्थीनि [अस्थियां] वात के स्थान हैं परन्तु इनमें भी पक्वाशय [वृहदन्त्र] विशेष रूप से वात का स्थान है।

तत्र समासेन वातः श्रोणिगुदसंश्रयः।। सु० सू० 21/7

श्रोणि [pelvic] तथा गुदा [rectum] संक्षेप में वायु के विशेष स्थान हैं। 'समासेन' शब्द का आशय है कि यद्यपि वात के शरीर में सभी स्थान हैं परन्तु संक्षेप में विशेष स्थानों का वर्णन किया गया है।

पक्वाशयः कटिसक्थिश्रोत्रास्थिस्पर्शनेन्द्रियम्।
स्थानं वातस्य, तत्रापि पक्वाधानं विशेषतः।। अ० हृ० सू० 12/1

पक्वाशय, कटि, सक्थि, श्रोत्र (कर्ण), अस्थि, स्पर्शनेन्द्रिय (त्वचा) ये सब वात के स्थान हैं परन्तु पक्वाशय (वृहदन्त्र) वात का विशेष स्थान है।

अधोनाभ्यस्थिमज्जानौ वातस्थानं प्रचक्षते।। काश्यप संहिता

अधोनाभि [नाभि के नीचे के अंग] अस्थि तथा मज्जा ये वात के स्थान हैं।

यद्यपि वात का सम्पूर्ण शरीर क्षेत्र है परन्तु उसके लक्षण विशेषतया वस्ति, कटि, सक्थिनी, पाद, अस्थि, श्रोत्र, स्पर्शनेन्द्रिय, मज्जा आदि स्थानों पर प्रकट होते हैं। सबसे स्पष्ट लक्षण पक्वाशय में दिखाई देते हैं। इसलिए पक्वाशय वात का विशेष स्थान कहा गया है। वात व्याधियों में पक्वाशय के शुद्ध हो जाने पर अर्थात् आहार के पाचन एवं पुरीष के सम्यक् प्रकार से निष्कासन पर, वातज रोग शान्त हो जाते हैं अथवा रोगों की तीव्रता में न्यूनता आ जाती है।

पित्त का स्थान

स्वेदो रसो लसीका रुधिरमामाशयश्च पित्तस्थानानि तत्राप्यामाशयो विशेषेण पित्तस्थानम्।। च० सू० 20/7

स्वेद (sweet), रस (plasma), लसीका (lymph), रक्त और अमाशय ये पित्त के स्थान हैं। इनमें भी आमाशय (ग्रहणी सहित क्षुद्रान्त्र) पित्त का विशेष स्थान है।

तत् (श्रोणि गुद) उपर्यधो नाभेः पक्वाशयः।

पक्वामाशयमध्यं पित्तस्य।। सु० सू० 21/5

श्रोणि और गुद के ऊपर तथा नाभि के नीचे पक्वाशय है। पक्वाशय और आमाशय के मध्य पित्त का स्थान है।

नाभिरामाशयः स्वेदो लसीका रुधिरं रसः।

दृक् स्पर्शनं च पित्तस्य नाभिरत्र विशेषतः।। अ० हृ० सू० 12/1

नाभि, आमाशय, स्वेद, लसीका, रक्त, रस, चक्षु तथा त्वचा ये पित्त के स्थान हैं इनमें भी नाभि विशेष रूप से पित्त का स्थान है। नाभि का अर्थ नाभि क्षेत्र है अर्थात् वह क्षेत्र जिसमें ग्रहणी (duodenum) सहित क्षुद्रान्त्र स्थित है।

तीनों संहिता ग्रन्थों में, जिनका उल्लेख ऊपर किया गया है, पित्त का विशेष स्थान उल्लेख करने में अन्तर प्रतीत होता है। चरक संहिता में आमाशय, सुश्रुत संहिता में पक्वाशय तथा आमाशय के मध्य और वाग्भट संहिता में नाभि क्षेत्र पित्त के विशेष स्थान कहे गए हैं। वास्तव में तीनों संहिताओं में पित्त के विशेष स्थानों से ग्रहणी तथा क्षुद्रान्त्र क्षेत्र का ही अभिप्राय है। चरक संहिता में आमाशय की स्थिति के विषय में कहा है कि 'नाभिस्तनान्तरं जन्तोरामाशय इति स्मृतः' अर्थात् नाभि और स्तनों के मध्य का भाग आमाशय है। सुश्रुत संहिता में

वर्णित पक्वाशय तथा आमाशय के मध्य का क्षेत्र भी यही है। आचार्य वाग्भट्ट इसी क्षेत्र को नाभि क्षेत्र के नाम से कहते हैं। अतः पित्त का विशेष स्थान ग्रहणी सहित क्षुद्रान्त्र है।

कफ के स्थान

उरः शिरो ग्रीवा पर्वाण्यामाशयो मेदश्च श्लेष्मणः स्थानानि,
तत्राप्यूरो विशेषेण श्लेष्मणः स्थानम्।। च० सू० 20/7

उरः (वक्षः), सिर, ग्रीवा, पर्व (Joints), आमाशय तथा मेद, ये कफ (श्लेष्मा) के स्थान हैं। इनमें भी उर श्लेष्मा का विशेष स्थान है।

★ ★ ★

आमाशयः श्लेष्मणः। सु० सू० 21/5

आमाशय श्लेष्मा का स्थान है।

★ ★ ★

उरः कण्ठः शिरः क्लोम पर्वाण्यामाशयो रसः।
मेदो घ्राणं च जिह्वा च कफस्य सुतरामुरः।।

अ० हृ० सू० 12/3

वक्ष, कण्ठ, शिर, क्लोम, पर्व, आमाशय, रस, मेद, नासिका तथा जिह्वा ये कफ के स्थान हैं। इनमें भी उर (वक्ष) विशेष रूप से कफ का स्थान है।

★ ★ ★

यह स्थूल शरीर पाञ्चभौतिक है तथा पाञ्चभौतिक आहार से बना है। अतः पाञ्चभौतिक आहार द्रव्यों का शरीरोपयोगी रूप में परिवर्तन होना शरीर में सम्पन्न होने वाली सर्वप्रथम तथा प्रमुख क्रिया है। इन क्रियाओं के सम्पादन में कफ, पित्त तथा वात भाग लेते हैं। मुख में आमाशय पर्यन्त अन्न प्रणाली वक्ष में स्थित है तथा इस भाग की भित्तियों से क्षरित जलयुक्त श्लेष्मल अंश अन्न का क्लेदन करता है जिससे आमाशय से आगे अन्त्र में होने वाली पाक क्रिया को सफलता प्राप्त हो। यह क्लेदन क्रिया आहार पाक की एक प्रमुख क्रिया है। कफ के कार्य में किसी प्रकार की विकृति आने से सर्वप्रथम इस क्रिया पर प्रभाव पड़ता है। अतः आचार्यों ने कफ का विशेष स्थान वक्ष तथा आमाशय कहा है।

शरीर में होने वाली समस्त पाक क्रियाओं का कारक पित्त है, इन क्रियाओं का स्वरूप विभिन्न हो सकता है क्योंकि आहार पाक क्रिया अन्य समस्त पाक क्रियाओं का आधार है। परिणामतः आहार पाक क्रिया के प्रमुख स्थान ग्रहणी तथा क्षुद्रान्त्र को पित्त का विशेष स्थान कहा गया है।

आहार पाक के फलस्वरूप उत्पन्न सार अंश का रक्त में विसरण तथा मलांश का शरीर से निष्कासन ये वात की क्रियायें हैं। वात की क्रियाओं में विकृति आने से निष्कासन कार्य में बाधा उत्पन्न हो जाती है और इसके लक्षण तुरन्त प्रकट हो जाते हैं। मलों के निष्कासन का मुख्य स्थान श्रोणि क्षेत्र है। इनमें भी मूत्र और पुरीष का निष्कासन दैनिक आहार पाक के लिए आवश्यक है। इस विशेषता की ओर इंगित करते हुए आचार्यों ने पक्वाशय को वात का विशेष स्थान कहा है।

तीनों वातादि दोष सम्पूर्ण शरीर का धारण तथा पालन करते हुए तथा समस्त शरीर में व्याप्त रहते हुए भी अपने कर्म के कारण शरीर के तीन भागों में विशेष रूप से प्रकट रहते हैं अर्थात् हृदय के ऊपर के भाग में कफ, हृदय और नाभि के मध्य में पित्त तथा नाभि के नीचे के भाग में वायु अपनी उपरोक्त वर्णित क्रियाओं के कारण विशेष रूप से प्रकट रहते हैं।

ते व्यापिनोऽपि हृन्नाभ्योरधोमध्योर्ध्वसंश्रयाः ।। अ० हृ० सु० 1/7

सर्व शरीरचर वात, पित्त एवं कफ के मुख्य स्थान हैं—

वात के स्थान	पित्त के स्थान	कफ के स्थान
1. वस्ति	1. स्वेद	1.उर (विशेषस्थान)
2. पुरीषाधान	2. रस	2. सिर
3. कटि	3. लसीका	3. ग्रीवा
4. सक्रिय (जंघा)	4. रक्त	4. पर्व
5. पाद	5. आमाशय (विशेषस्थान)	5. आमाशय
6. अस्थियां	(च० सू० 20/7)	6. मेद
	6. पक्वामाशय मध्य	(च० सू० 20/7)
7. पक्वाशय (विशेष स्थान)	(सु० सू० 21/5)	7. कण्ठ
(च० सू० 20/7)	7. नाभि	
8. श्रोणि	8. दृष्टि	8. क्लोम
9. गुद	9. त्वक्	9. रस
(सु० सू० 21/5)	(अ० हृ० सू० 12/2)	10. नासिका
10. श्रोत्र		(अ० हृ० सू० 12/3)
11. स्पर्शनेन्द्रिय		
(अ० हृ० सू० 12/1)		
12. अधोनाभि		
13. मज्जा (काश्यप संहिता)		

★ ★ ★

4

दोषों के स्वरूप, गुण एवं कर्म

दोषों के स्वरूप

दोषों के स्वरूप को हम दो प्रकार से जान सकते हैं [i] उनके नामों की व्युत्पत्ति द्वारा तथा [ii] उनके गुण तथा कर्मों के विश्लेषण द्वारा।

नामों की व्युत्पत्ति—

वात— **'वा गतिगन्धनयोः'** इति धातुः [सु० सू० 21/5]। इस धातु से 'त' औणादिक प्रत्यय करने से वात सिद्ध होता है। इसलिए वात का अर्थ है गति। गति के तीन अर्थ होते हैं— ज्ञान, गमन और प्राप्ति। शरीर में गति, ज्ञान तथा प्राप्ति के जनक को वात कहते हैं।

प्रकृति में स्थित वायु इस संसार में संचार करता हुआ भूमण्डल को धारण करता है, अग्नि को जलाता है, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र तथा ग्रहों को निरन्तर नियम पूर्वक गति में रखता है एवं मेघों को बनाना, बीजों से अंकुर उत्पन्न करना आदि प्राकृतिक कार्यों का सम्पादन करता है। वायु जब कुपित हो जाता है तब इनके विपरीत संहार कार्य करता है यह वायु शरीर वायु की आत्मा [योनि—उत्पत्ति हेतु] होने के कारण शरीर में भी 'वायु' अथवा 'वात' संज्ञा से जाना जाता है।

वायोरात्मैवात्मा सु० सू० 42/6

वात की आत्मा वायु है।

वात नाम से ज्ञात होता है कि शरीर के अन्दर प्रत्येक प्रकार की चेष्टाएं तथा गतियां, जहाँ जिस वस्तु की आवश्यकता हो वहां उसकी प्राप्ति, इन्द्रियों का अपने—अपने विषयों को ग्रहण कर ज्ञान उत्पन्न करना, ये समस्त क्रियायें वात के द्वारा सम्पन्न होती हैं।

सर्वा हि चेष्टा वातेन स प्राणः प्राणिनां स्मृतः।
तेनैव रोगा जायन्ते तेन चैवोपरुध्यते।। च० सू० 17/116

शरीर के अन्दर होने वाली समस्त चेष्टाएं वात के द्वारा होती हैं यह सब प्राणियों का प्राण [जीवनीय शक्ति] है। इसके कुपित होने से रोग उत्पन्न होते हैं।

पित्त— "तप सन्तापे" [सु० सू० 21/5]। इस धातु के 'त' के स्थान में 'इत' प्रत्यय करने से पित्त सिद्ध होता है। इसका अर्थ है दहन अथवा उष्ण करना। अतः शरीर में अग्नि कर्म के कर्त्ता को पित्त कहा है। पित्त को 'मायु' भी कहा गया है। इस शब्द का अर्थ है **'मिनोति देहे ऊष्माणम्'** अर्थात् जो शरीर में ऊष्मा को व्याप्त करे उसे मायु कहते हैं।

श्लेष्मा— "श्लिष आलिंगने" इस धातु के साथ 'मनिन्' प्रत्यय करने से श्लेष्मन् सिद्ध होता है। इसका शब्दार्थ है मिलन, संयोग, आलिंगन। शरीर में इन क्रियाओं के कर्त्ता की संज्ञा श्लेष्मा है।

'केन जलेन फणति इति कफः' जल से जिसकी उत्पत्ति हो उसे कफ कहते हैं। जल का कार्य संयोग करना भी है। अतः संयोग के कर्त्ता को श्लेष्मा अथवा कफ कहा गया है।

शरीर में श्लेष्मा के अन्तर्गत सोम (शरीर का जल तथा स्निग्ध अंश) कुपित अथवा अकुपित हो अशुभ तथा शुभ कर्मों को करता है।

सोम एव शरीरे श्लेष्मान्तर्गतः कुपिताकुपितः शुभाशुभानि करोति।।
च० सू० 12/15

सुश्रुत संहिता में वात को अव्यक्त तथा चरक संहिता में अमूर्त कहा गया है। दोनों विशेषणों का तात्पर्य एक ही है। पित्त और कफ भी अव्यक्त हैं परन्तु उनके कार्यों का परिणाम व्यक्त है जैसा आप आगे पढ़ेंगे परन्तु वात के कार्य का परिणाम भी अव्यक्त, अमूर्त है वह वस्तु (matter) के रूप में दृष्टिगोचर नहीं होता है। वातज क्रियायें सामान्यतः तन्त्रिका क्रियायें (nervous functions) हैं जो लक्षणों द्वारा ही जानी जा सकती हैं।

दोष जब असाम्य हो जाते हैं तो पहले उनके भौतिक गुणों में परिवर्तन होता है तत्पश्चात् रासायनिक एवं मानसिक क्रियायें प्रभावित होती हैं।

दोषों के सामान्य प्राकृत गुण

वात के गुण—

वात रूक्ष, शीत, लघु, सूक्ष्म, चल (अस्थिर अनवस्थित), विशद और खर गुण युक्त समस्त शरीर में विचरण करने वाला है। वात के ये गुण अव्यक्त रूप से उपस्थित रहते हैं। इनकी व्यक्तता वात के कर्मों द्वारा प्रकट होती है। वात में आकाश एवं वायु के गुण [शब्द एवं स्पर्श] होते हैं तथा रजोगुण प्रधान होता है।

वात के गुणों वाले आहार विहार से वात की शरीर में वृद्धि होती है तथा विपरीत गुणों वाले आहार विहार के सेवन से बढ़ा हुआ वात शांत हो जाता है।

रूक्षः शीतो लघुः सूक्ष्मश्चलोऽथ विशदः खरः।
विपरीतगुणैर्द्रव्यैर्मारुतः संप्रशाम्यति।। च० सू० 1/58
अव्यक्तो व्यक्तकर्मा च रूक्षः शीतो लघुः खरः।
तिर्यग्गो द्विगुणश्चैव रजोबहुल एव च।। सु० नि० 1/7
तत्र रूक्षो लघुः शीतः खरः सूक्ष्मश्चलोऽनिलः। अ० हृ० सू० 1/14

संक्षेप में प्राकृत वात के गुण इस प्रकार हैं–

भौतिक गुण–

1. रूक्ष, 2. शीत, 3. लघु, 4. सूक्ष्म [अव्यक्त, अमूर्त]
5. चल [अनवस्थितः] 6. विशद, 7. खर

रासायनिक गुण–

1. योगवाही [योगवाही परं वायुः] च० चि० 3/37
2. आशुकारी एवं शीघ्र कार्य करने वाला [आशुकारी] सु० नि० 1/8
3. अचिन्त्य शक्ति [अचिन्त्यवीर्यः] सु० नि० 1/6

मानसिक गुण–

1. रजोगुण प्रधान 2. दारुणः [वारुणः चरक]

पित्त के गुण–

ईषत् स्निग्ध, उष्ण, तीक्ष्ण, द्रव, सर, कटु, रूक्ष, लघु, विशद, विस्र, पूति [दुर्गन्ध–युक्त], पीत, नील तथा अम्ल [विदग्धावस्था में] ये पित्त के गुण हैं। मानसिक गुण में सत्त्व गुण प्रधान होता है।

सस्नेहमुष्णं तीक्ष्णं च द्रवमम्लं सरं कटु।
विपरीतगुणैः पित्तं द्रव्यैराशु प्रशाम्यति।। च० सू० 1/59
औष्ण्यतैक्ष्ण्यरौक्ष्यलाघववैशद्यगुणलक्षणं पित्तम्।।
सु० सू० 42/9

पित्तं तीक्ष्णं द्रवं पूति नीलं पीतं तथैव च।
उष्णं कटुरसं चैव विदग्धं चाम्लमेव च।। सु० सू० 21/10
पित्तं सस्नेहतीक्ष्णोष्णं लघु विस्रं सरं द्रवम्। अ० हृ० सू० 1/11
पित्तमुष्णं द्रवं पीतं नीलं सत्त्वगुणोतरम्।। शा० पू० 5/25

संक्षेप में पित्त के गुण इस प्रकार हैं–

भौतिक गुण– स्निग्ध, उष्ण, तीक्ष्ण, द्रव, सर, रूक्ष, लघु, विशद।

रासायनिक गुण– कटु, पीत, नील, विदग्धावस्था में अम्ल, विस्र व पूति।

मानसिक गुण– सत्त्वगुणप्रधान।

पित्त के ऊपर लिखित गुण उसकी प्राकृत एवं वैकृत अवस्थाओं के हैं। स्निग्ध, उष्ण, तीक्ष्ण, द्रव, सर, लघु, विशद आदि भौतिक गुण उसकी प्राकृतावस्था अथवा निरामावस्था के हैं शेष गुण रासायनिक क्रियाओं के परिणाम अथवा सामाजिक [वैकृतावस्था] या किट्टावस्था के हैं।

★ ★ ★

शरीर में होने वाली प्रत्येक अपचयन क्रिया [ketabolic function] चाहे वह जैव भौतिक [bio-physical] अथवा जैव रासायनिक [bio-chemical] है, पित्त द्वारा सम्पन्न होती है। पित्त की क्रियायें अव्यक्त हैं परन्तु परिणाम व्यक्त हैं। पित्त के गुणों के विपरीत आहार–विहार से पित्त प्रकोप शान्त होता है।

कफ के गुण–

गुरु, शीत, मृदु, [श्लक्ष्ण], स्निग्ध, स्थिर, पिच्छिल [मृत्स्न], श्वेत, मन्द, प्राकृतावस्था में मधुर रस तथा वैकृतावस्था में लवण रस, तथा तमो गुण, ये कफ के गुण हैं।

गुरुशीतमृदुस्निग्धमधुरस्थिरपिच्छिलाः।
श्लेष्मणः प्रशमं यान्ति विपरीतगुणैर्गुणाः।। च० सू० 1/60
श्लेष्मा श्वेतो गुरुः स्निग्धः पिच्छिलः शीत एव च।
मधुरस्त्वविदग्धः स्याद्विदग्धो लवणः स्मृतः।। सु० सू० 21/24
स्निग्धः शीतो गुरुर्मन्दः श्लक्ष्णो मृत्स्नः स्थिरः कफः।
अ० हृ० सू० 1/12
कफः स्निग्धो गुरुः श्वेतः पिच्छिल शीतलस्तथा।
तमोगुणाधिकः स्वादुर्विदग्धो लवणो भवेत्।। शा० पू० 5/29

संक्षेप में कफ के गुण इस प्रकार हैं–

भौतिक गुण– गुरु, शीत, मृदु, स्निग्ध, स्थिर, पिच्छिल, श्वेत, मन्द।
रासायनिक गुण– प्राकृतावस्था में मधुर तथा वैकृतावस्था में लवण रस।
मानसिक गुण– तमोगुणप्रधान।

शरीर के अन्दर होने वाली प्रत्येक क्रिया का जनक वात का गतिज [स्थिति में परिवर्तन करना] कार्य है। पित्त अपनी अपचर्य (ketabolic) एवं रासायनिक (chemical) क्रियाओं द्वारा शरीर की धातुओं के निर्माण के लिए मूल द्रव्यों की उत्पत्ति करता है। इन मूल द्रव्यों से कफ अपनी संश्लेष्णात्मक (चयात्मक anabolic) क्रियाओं द्वारा शरीर में नवीन धातुओं की उत्पत्ति तथा पहले की धातुओं की क्षयपूर्ति का कार्य करता है। इसलिए कफ के भौतिक गुणों से वात के गत्यात्मक गुण विपरीत होते हैं परन्तु वात तथा कफ दोनों के कार्यों में एक समानता है कि दोनों के कार्य अग्निकर्म से भिन्न हैं। अतः दोनों में शीत गुण समान हैं।

दोषों के सामान्य कर्म

वात के सामान्य कर्म–

उत्साहोच्छ्वासनिःश्वासचेष्टा धातुगतिः समा।

समो मोक्षो गतिमतां वायोः कर्माविकारजम्।।

च० सू० 18/51

उत्साह (कार्य करने की मानसिक एवं शारीरिक प्रवृत्ति) उच्छ्वास, निःश्वास (श्वसन क्रिया), चेष्टा (कायिक, वाचिक तथा मानसिक चेष्टायें) धातुओं (रसादि) की सम्यक् प्रकार से गति, मलादि का सम्यक् प्रकार से शरीर मोक्षण (निष्कासन), आदि क्रियायें अविकृत वात के कर्म हैं।

उपरोक्त वर्णित कर्म अविकृत वात के प्रथम कर्म हैं। इनमें सब कर्मों का समावेश हो जाता है। इन कर्मों को चरक सूत्र स्थान 12वें अध्याय में विस्तार से निम्न प्रकार से कहा गया है–

1. **वायुस्तन्त्रयन्त्रधरः** – वात शरीररूपी यन्त्र का धारण करने वाला है अथात् शरीरगत विभिन्न धातुओं को अपने–अपने नियमित कर्मों में प्रवृत्त कराता है।

2. **प्रोणोदानसमानव्यानापानात्मा** – प्राण, उदान, समान, व्यान और अपान इन पांचों वायुओं की आत्मा है अर्थात् यद्यपि वायु एक ही है परन्तु स्थान एवं कर्म भेद से पांचों रूपों वाला है।

3. **प्रवर्तकश्चेष्टानामुच्चावचानाम्** – शरीर में होने वाली प्रत्येक ऐच्छिक तथा अनैच्छिक चेष्टाओं का प्रवर्तक है।

4. **नियन्ता प्रणेता च मनसः** – वात मन का नियामक तथा प्रेरणा देने वाला है। मन को इष्ट विषय में प्रवृत्त कराता है। आत्मा, मन, इन्द्रिय तथा विषयों का जब संयोग होता है उस समय ही ज्ञान उत्पन्न होता है। परन्तु कुछ ज्ञान ऐसे हैं जो बाह्य इन्द्रियों द्वारा उत्पन्न नहीं होते हैं। किसी विषय का चिन्तन, संकल्प अथवा निर्णय करना तथा दुःख सुख की अनुभूति होना, बिना बाह्य इन्द्रियों के संयोग के केवल मन तथा आत्मा के संयोग से होते हैं। मन को अनिष्ट विषयों से हटाकर इष्ट विषयों की ओर लगाना तथा प्रेरणा देना वात का कार्य है।

5. **सर्वेन्द्रियाणामुद्योजकः** – वात समस्त इन्द्रियों को उनके विषयों में प्रेरित करता है।

6. **सर्वेन्द्रियार्थानामभिवोढा** – वात सम्पूर्ण इन्द्रियों के विषय का वहन करने वाला है। पांच ज्ञानेन्द्रियां– चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसना तथा स्पर्शनेन्द्रिय हैं। इनके क्रमशः विषय रूप, शब्द, गन्ध, रस तथा स्पर्श हैं। इन विषयों का ज्ञान वात के द्वारा ही होता है तथा इसी प्रकार पांचों कर्मेन्द्रियों के, [1] वाणी का बोलाना, [2] पाणि [हस्त] द्वारा आदान–प्रदान, [3] पाद का विहरण, [4] पायु [गुदा] का मल–त्याग तथा [5] उपस्थ [जननेन्द्रिय] का सन्तानोत्पत्ति आदि कर्म वात द्वारा होते हैं।

7. **सर्वशरीरधातुव्यूहकरः** – वात शरीर की सम्पूर्ण धातुओं [ऊतकों

tissues] को अपने–अपने स्थानों पर यथानियम स्थापित रखता है।

8. **संघानकरः शरीरस्य** – शरीर का संघानकर अर्थात् जोड़ने वाला वात है। शरीर के अंग–प्रत्यंगों को अपने–अपने अनुपात से अपने–अपने स्थानों पर एक–दूसरे से सम्बन्धित रखने का कार्य वात करता है।

9. **प्रवर्तको वाचः** – वाणी को प्रवृत्त करने वाला है।

10. **प्रकृतिः स्पर्शशब्दयोः श्रोत्रस्पर्शनयोर्मूलम्** – वायु ही स्पर्श तथा शब्द की प्रकृति है अर्थात् उनका हेतु है, वायु के द्वारा ही शब्द एवं स्पर्श का ज्ञान होता है। श्रोत्र तथा स्पर्शेन्द्रिय के निर्माण का मूल कारण वायु ही है।

11. **हर्षोत्साहयोर्योनिः** – हर्ष तथा उत्साह का कारण वात है।

12. **समीरणोऽग्नेः** – शरीर में अग्नि कर्म को प्रेरणा देता है तथा प्रदीप्त करता है।

13. **दोषसंशोषणः** – शरीर में उत्पन्न क्लेद आदि दोषों को नष्ट करता है।

14. **क्षेप्ता बहिर्मलानाम्** – शारीरिक क्रियाओं से उत्पन्न मलों को शरीर से बाहर निकालता है।

15. **स्थूलाणुस्रोतसां भेत्ता** – बड़े तथा छोटे स्रोतों का भेदन करने वाला है।

16. **कर्त्ता गर्भाकृतीनाम्** – गर्भ की आकृति को बनाने वाला है।

17. **आयुषोऽनुवृत्तिप्रत्ययभूतो** – वात ही आयु के अनुवर्तन, परिपालन का कारण है।

वायुरायुर्बलं वायुर्वायुर्धाता शरीरिणाम्।। च० चि० 28/2

अविकृत वायु ही आयु है, वायु ही बल है तथा वायु ही देह का धारण करने वाला है अर्थात् देह की स्थिति का मूल कारण है।

दोषधात्वग्निसमतां संप्राप्तिं विषयेषु च।
क्रियाणामानुलोम्यं च करोत्यकुपितोऽनिलः।। सु० नि० 1/9

अविकृत वायु शरीर में दोष, धातु तथा अग्निकर्म की समता बनाए रखता है। विषयों का इन्द्रियों से सम्बन्ध स्थापित करता है तथा शारीरिक व मानसिक क्रियाओं की उचित प्रवृत्ति का कारण है।

उत्साहोच्छ्वासनिश्वासचेष्टावेगप्रवर्तनैः।
सम्यग्गत्या च धातूनामक्षाणां पाटवेन च।।
अनुगृह्णात्यविकृतः।। अ० हृ० सू० 11/1, 2

अविकृत वायु शरीर में उत्साह, उच्छ्वास निश्वास तथा समस्त चेष्टा,

मलादि वेगों का प्रवर्तन, रसादि धातुओं की सम्यक् प्रकार से गति तथा सम्पूर्ण इन्द्रियों को स्वस्थ, चैतन्य और अपने–अपने कर्म में प्रवृत्त रखने आदि कर्मों से शरीर का पालन, पोषण, धारण आदि अनुग्रह कर्म करता है।

पित्तं पंगु कफः पगुः पंगवो मलधातवः।
वायुना यत्र नीयन्ते तत्र गच्छन्ति मेघवत्।। शा० पू० 5/25

पित्त, कफ, मल तथा धातु ये सब स्वयं पंगु हैं अर्थात् स्वयं गति [कर्म] करने में असमर्थ हैं। वायु ही इन्हें गति [कर्म करने की प्रेरणा] प्रदान करता है।

पित्त के सामान्य कर्म –

दर्शनं पक्तिरूष्मा च क्षुत्तृष्णादेहमार्दवम्।
प्रभा प्रसादो मेधा च पित्तकर्माविकारजम्।। च० सू० 18/52

देखना, पचाना [भोजन आदि का] शरीर की स्वाभाविक ऊष्मा को बनाए रखना, भूख तथा प्यास को उत्पन्न करना, शरीर की मृदुता बनाए रखना, प्रभा [कांति], प्रसाद [मानसिक प्रसन्नता], मेधा [धारणात्मक बुद्धि] को कार्यरत रखना ये अविकृत पित्त के कर्म हैं।

पित्तादेवोष्मणः पक्तिर्नराणामुपजायते।
तच्च पित्तं प्रकुपित्तं विकारान् कुरुते बहून्।। च० सू० 17/114

अग्निरूप पित्त से ही मनुष्यों में धातुओं का पाक होता है तथा पित्त के कुपित [विकृत] होने पर अनेक विकार उत्पन्न हो जाते हैं।

पित्त एवं अग्नि –

तत्र जिज्ञास्यं किं पित्तव्यतिरेकादन्योऽग्निः, आहोस्वित् पित्तमेवाग्निरिति ?

एक जिज्ञासा हो सकती है कि क्या पित्त से अग्नि पृथक् है अथवा पित्त ही शारीरिक अग्नि है ?

इस जिज्ञासा का समाधान इस प्रकार किया गया है–

अत्रोच्यते– न खलु पित्तव्यतिरेकादन्योऽग्निरुपलभ्यते, आग्नेयत्वात् पित्ते दहनपचनादिष्वभिप्रवर्तमानेऽग्निवदुपचारः क्रियतेऽन्तराग्निरिति। क्षीणे ह्यग्निगुणे तत्समानद्रव्योपयोगात्, अतिवृद्धे शीतक्रियोपयोगात्, आगमाच्च पश्यामो न खलु पित्तव्यतिरेकादन्योऽग्निरिति।। सु० सू० 21/8

इस विषय पर यह कहा जा सकता है कि पित्त के अतिरिक्त अन्य कोई शारीरिक अग्नि प्रतीत नहीं होती है, क्योंकि आग्नेय भाव के कारण पित्त के दाह, पाक आदि कार्यों में वृद्धि होने पर अग्नि के समान ही उपचार किया जाता है। अतएव

पित्त अन्तराग्नि है। अग्नि गुणतुल्य पित्त के क्षीण होने पर उसके समान (उष्ण) द्रव्यों के उपयोग करने से क्षीण पित्त की वृद्धि होती है तथा पित्त के बढ़ने से शीतल उपचार करने से उसकी शांति होती है। शास्त्रों के आधार पर भी हम देखते हैं कि पित्त के अतिरिक्त अन्य अग्नि नहीं है।

बाह्य जगत् में होने वाले अग्निकर्म तथा शरीर के अन्दर होने वाले अग्निकर्म में बहुत अन्तर है। शरीर से बाहर इस जगत् में जितने अग्निकर्म हैं, वे विभिन्न तापमानों (temperature) पर सम्पन्न होते हैं यथा कर्पूर का दहन बहुत कम तापमान पर होता है, काष्ठ के दहन के लिए उससे अधिक तापमान की आवश्यकता होती है, धातुओं (metals) के दहन के लिए और अधिक तापमान चाहिए। परन्तु पित्त द्वारा शरीर में होने वाले समस्त अग्निकर्म एक ही तापमान, जो शरीर का अभ्यन्तर तापमान है, पर सम्पन्न होते हैं इसलिए परिणाम की दृष्टि से यद्यपि पित्त का कर्म एक अग्निकर्म है परन्तु बाह्य जगत् के अग्निकर्मों से भिन्न है। इस अन्तर को दर्शाने के लिए शरीर के अन्दर होने वाले अग्निकर्म को पृथक् 'पित्त' संज्ञा प्रदान की गई है।

अग्निरेव शरीरे पित्तान्तर्गतः कुपिताकुपितः शुभाशुभानि करोति, तद्यथा पक्तिमपक्तिं दर्शनमदर्शनं, मात्रामात्रत्वमूष्मणः, प्रकृतिविकृति-वर्णौ शौर्यं भयं क्रोधं हर्षं मोहं प्रसादमित्येवमादीनि चापराणि द्वन्द्वानीति।

(च० सू० 12/11

पित्त के अन्तर्गत अग्नि ही कुपित अथवा अकुपित हुई अशुभ अथवा शुभ का कारण होती है। अर्थात् पित्त की साम्यावस्था में अग्निकर्म आरोग्य एवं सुख का कारण होता है तथा विषमावस्था में अग्निकर्म व्याधि एवं दुःख का कारण होता है। यथा पचन (भोजन व धातुओं का सम्यक् पाक) अथवा अपचन दर्शन (देखने की क्रिया होना) अथवा अदर्शन, शरीर की ऊष्मा (temperature) का मात्रा में रहना अथवा न रहना, शरीर का प्राकृतिक वर्ण बने रहना अथवा वर्ण में विकृति आ जाना, शूरता अथवा कायरता, क्रोध आना तथा नहीं आना, हर्ष को प्राप्त होना अथवा नहीं होना, मोह होना अथवा नहीं होना, प्रसन्न होना अथवा अप्रसन्न होना तथा इसी प्रकार के अन्य जो सुख–दुःख आदि शरीर एवं मन को प्रभावित करने वाले द्वन्द्व हैं उनका कारण पित्त है।

पित्त कर्मों को संक्षेप में कह सकते हैं।

पित्तं पक्त्यूष्मदर्शनैः।

क्षुत्तृड्रुचिप्रभामेधा-धी-शौर्यतनुमार्दवैः।। अ० हृ० सू० 11/3

पित्त शरीर में पचन, ऊष्मा की उत्पत्ति, दृष्टि, कर्म, क्षुधा, तृष्णा, रुचि, कांति, मेधा, बुद्धि, शौर्य, लघुत्व तथा मृदुता आदि कर्मों को करता हुआ उसका धारण तथा पालन करता है।

कफ के सामान्य कर्म –

स्नेहो बन्धः स्थिरत्वं च गौरवं वृषता बलम्।

क्षमा धृतिरलोभश्च कफकर्माविकारजम्।। च० सू० 18/53

शरीर में स्नेह (स्निग्धता), बन्ध (विभिन्न रचनाओं का परस्पर अनुबन्ध), स्थिरत्व (शारीरिक अवयवों में दृढ़ता) गौरव (गुरुता), वृषत्व (वीर्यवत्ता), बल [शारीरिक एवं मानसिक शक्ति तथा रोगप्रतिरोधक शक्ति] एवं क्षमा, धैर्य तथा अलोभता आदि मानसिक प्रवृत्तियों का सम्यक् सम्पादन, अविकृत कफ के कर्म हैं।

सोम एव शरीरे श्लेष्मांतर्गतः कुपिताकुपितः शुभाशुभानि करोति। तद्यथा-दार्ढ्यं शैथिल्यमुपचयं कार्श्यमुत्साहमालस्यं, वृषतां क्लीवतां ज्ञानाज्ञानबुद्धिमोहमेवमादीनि चापराणि द्वंद्वानीति।।

(च० सू० 12/15)

शरीरगत कफ के अन्तर्गत सोम (शरीर का जलीयांश) कुपित (विकृत) अथवा अकुपित (प्राकृत) होकर शरीर में अशुभ (रोग) अथवा शुभ (स्वास्थ्य) का कारण होता है, यथा प्राकृतावथा में दृढ़ता, पुष्टि, उत्साह, वृषत्व, ज्ञान एवं बुद्धि का कारण होता है तथा अप्राकृतावस्था में इसके विपरीत शिथिलता, अपुष्टि (कृशता), अनुत्साह, आलस्य) अवृषत्व [क्लीवता], अज्ञान एवं मोह का कारण होता है।

प्रकृतस्तु बलं श्लेष्मा विकृतो मल उच्यते।

स चैवोजः स्मृतः काये स च पात्मोपदिश्यते।।

च० सू० 17/115

प्राकृत [साम्यावस्था में स्थित] कफ शरीर को बल प्रदान करता है। अतः बल भी कहलाता है एवं विकृत कफ मल [mucous] कहलाता है। प्राकृत कफ को शरीर में ओज भी कहते हैं तथा विकृत कफ रोग का कारण है।

त्रिविधं बलमिति-सहजं, कालजं युक्तिकृतं च।

तत्र सहजं यच्छरीरसत्वयोः प्राकृतं, कालकृतमृतुविभागजं वयस्कृतं च, युक्तिकृतं पुनस्तद्यदाहारचेष्टायोगजम्। च० सू० 11/34

बल तीन प्रकार का होता है। सहज बल, कालज बल तथा युक्तिकृत बल। शरीर तथा मन के स्वाभाविक बल को सहज बल कहते हैं। मानसिक बल को उत्साह कहते हैं। जो सहज बल का ही अंग है।

ऋतु तथा काल के प्रभाव से तथा आयु के अनुसार जो बल होता है उसे कालज बल कहते हैं यथा ऋतुओं के अनुसार विसर्ग काल [वर्षा] के प्रारम्भ में तथा आदान काल [ग्रीष्म] के अन्त में मनुष्यों में दुर्बलता रहती है विसर्ग तथा आदान काल के मध्य [शरद् तथा वसन्त ऋतु] में मध्यम बल रहता है तथा विसर्ग काल के प्रारम्भ [हेमन्त, शिशिर] में श्रेष्ठ बल रहता है। बाल्यावस्था, युवावस्था तथा वृद्धावस्था में अवस्था भेद के कारण जो शारीरिक तथा मानसिक बल है वह भी कालज बल कहलाता है।

आहार, विहार तथा चेष्टा के समयोग से उत्पन्न बल को युक्तिकृत बल कहते हैं। युक्तिकृत बल उपार्जित बल है।

कफ के कर्मों को संक्षेप में कह सकते हैं—

सन्धि संश्लेषण स्नेहन रोपण पूरण बल स्थैर्यकृत्।।

सु० सू० 15/5

संधियों का संश्लेषण करना, शरीर का स्नेहन, रोपण तथा पूर्ण करना तथा शरीर में बल को स्थिर रखना ये कफ के कार्य हैं।

श्लेष्मा स्थिरत्वस्निग्धत्वसंधिबन्धक्षमादिभिः।।

अ० हृ० सू० 11/3

श्लेष्मा [कफ] शरीर में स्थिरता, स्निग्धता, संधियों की श्लिष्टता तथा क्षमा अर्थात् सहिष्णुता आदि कर्मों को करता है।

शरीर के जलीयांश द्वारा शरीर की समस्त धातुयें अपनी क्षयपूर्ति तथा वृद्धि के लिए आवश्यक द्रव्यों की उपलब्धि करती हैं। प्रत्येक शारीर कोशिका की समस्त क्रियायें उसमें उपस्थित तथा बाह्य जलीय तरल [ऊतक तरल tissue fluid] से प्राप्त पोषक तत्त्वों पर आश्रित हैं। इन पोषक तत्त्वों से प्रत्येक कोशिका अपने लिए उपयोगी द्रव्यों का संश्लेषण करती रहती है। शरीर में जितनी भी संश्लेषणात्मक [चयात्मक anabolic] रासायनिक क्रियायें होती रहती हैं उन सबका कारण 'कफ' है। कफ अपनी प्राकृत क्रियाओं द्वारा शारीरिक तथा मानसिक बल को बनाये रखता है क्योंकि शरीर में होने वाली चयात्मक रासायनिक क्रियाओं के सम्यक् प्रकार से सम्पन्न होने के कारण समस्त धातुयें पुष्ट होती हैं तथा समयानुसार अपनी वृद्धि करती हैं एवं शरीर की व्याधिक्षमत्व शक्ति बनी रहती है अतः कफ शरीर की अपक्षय [decay], व्यपजनन [degeneration] तथा उपसर्गों [infections] से रक्षा करता है और शरीरगत तरलों की परासरण दाब [osmotic pressure] बनाये रखता है। उपसर्गों से रक्षा करने के गुण के कारण कफ को ओज भी कहते हैं।

★ ★ ★

5

वात के विशिष्ट कर्म

शरीर के स्थूल तथा सूक्ष्म सभी अवयवों में (1) गति परिवर्तन--changes, motion, विभवान्तर–potential changes); (2) पचन (अपचय कर्म, ketabolic functions विच्छेदन, analysis, disintegration) तथा (3) पोषण (चयकर्म anabolic functions, संश्लेषणात्मक कर्म– synthesis, intregation) निरन्तर होते रहते हैं। ये कर्म क्रमशः वात, पित्त तथा कफ के हैं। इन क्रियाओं के सम्पन्न होने वाले स्थान भेद के कारण क्रिया के स्वरूप में भी भेद हो जाता है इस आधार पर प्रत्येक दोष के पांच–पांच भेद कहे गए हैं। चरक संहिता में केवल वात के पांच भेदों का वर्णन है। सुश्रुत संहिता में वात के भेदों के अतिरिक्त पित्त के पांच भेद दिए गए हैं। सबसे पहली बार वाग्भट्ट संहिता में कफ के भी पांच भेदों का वर्णन करते हुए तीनों दोषों के पांच–पांच भेद कहे हैं।

प्राणादिभेदात्पंचात्मा वायुः।। अ० हृ० सू० 12/4

वात प्राण आदि भेद से पांच प्रकार का होता है।

पित्त पाँच प्रकार का होता है।

श्लेष्मा तु पंचधा।। अ० हृ० सू० 12/15

श्लेष्मा पाँच प्रकार का होता है।

वायु के भेद–

प्राणोदानसमानाख्यव्यानापानैः स पञ्चधा।

देहं तन्त्रयते सम्यक् स्थानेष्वव्याहतश्चरन्।। च० चि० 28/4

(1) प्राण, (2) उदान, (3) समान, (4) व्यान तथा (5) अपान भेद से पाँच प्रकार का वात अपने–अपने स्थानों में बिना बाधा के गमन करते हुए देह में सम्यक् प्रकार से अपने–अपने कार्यों को करता हैं।

यथाऽग्निः पञ्चधा भिन्नो नामस्थानात्मकर्मभिः।

भिन्नोऽनिलस्तथा ह्येको नामस्थानक्रियामयैः।।

प्राणोदानौ समानश्च व्यानश्चापान एव च।

स्थानस्था मारुताः पंच यापयन्ति शरीरिणम्।।

सू० नि० 1/10,11

जिस प्रकार नाम, स्थान तथा क्रियाओं की विभिन्नता के कारण पित्त पाँच प्रकार से विभक्त है उसी प्रकार एक ही वात नाम, स्थान क्रिया तथा विकृति स्वरूप उत्पन्न रोगों के विभिन्न स्वरूप के कारण पांच प्रकार से विभक्त है।

वायु के ये पांच भेद (प्राण, उदान, समान, व्यान एवं अपान) अपने–अपने–कार्य क्षेत्र में साम्यावस्था में स्थित हो शरीर का धारण करते हैं।

विमार्गस्था ह्ययुक्ता वा रोगैः स्वस्थानकर्मजैः।

शरीरं पीडयन्त्येते प्राणानाशु हरन्ति च।। च० चि० 28/11

जब पाँचों प्रकार की वायु अपने स्वस्थानों पर रहती हुई अपने प्राकृत कर्मों से संलग्न रहती है तो उनसे शरीर में कोई विकार नहीं होता है वरन् आरोग्य में वृद्धि होती है परन्तु जब वायु के कर्म में विकृति आ जाती है अथवा वह अपने स्थान को छोड़ देती है तो उसके स्वाभाविक कर्मों में विकृति हो जाती है।

प्राण वायु

आयुर्वेद में निम्न वर्णित बारह को प्राण संज्ञा से सम्बोधित किया गया है क्योंकि इनके द्वारा प्राणों का रक्षण होता है। इसलिए जीवन की संज्ञा प्राण तथा जीवित की संज्ञा प्राणी है।

अग्निः सोमो वायुः सत्वं रजस्तमः पञ्चेन्द्रियाणि भूतात्मेति प्राणाः।

सु० शा० 4/3

अग्नि, सोम, वायु, सत्व, रज, तम, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ (चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसन, स्पर्शन) और भूतात्मा (जीवात्मा) ये बारह प्राण कहलाते हैं।

अग्नि (पित्त) अपने पाचन तथा अपचय कर्म के द्वारा, सोम (कफ), अपने चय कर्म द्वारा, वायु अपने गत्यात्मक कर्म द्वारा, सत्व, रज एवं तम, अपने मानसिक कर्मों को प्रभावित करने वाले गुणों के द्वारा, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, शरीर का बाह्य जगत् से सम्बन्ध बनाये रखने के कारण एवं भूतात्मा, शरीर की चेतना का कर्त्ता होने के कारण, जीवन के आधार हैं। अतः प्राण कहलाते हैं।

परन्तु यहाँ वर्तमान प्रसंग में प्राण शब्द का 'प्राण' संज्ञा वाले वायु से तात्पर्य है। उसी के विषय में नीचे कहा जा रहा है।

स्थानं प्राणस्य शीर्षोरः (मूर्धोरः) कर्णजिह्वास्यनासिकाः।

ष्ठीवनं क्षवथूद्गारः श्वासाहारादि कर्म च।। च० चि० 28/5

शिर (मस्तिष्क), उर (वक्ष), कान, जिह्वा, आस्य (मुख) तथा नासिका प्राण वायु के स्थान हैं। थूकना, छींकना, डकार लेना, श्वसन क्रिया तथा आहार निगलना इसके कर्म हैं।

नियन्ता प्रणेता च मनसः। सर्वेन्द्रियाणामुद्योजकः।

सर्वेन्द्रियार्थानामाभिवोढ़ा।। च० सू० 12/7

प्राण वायु मन का नियामक तथा प्रेरक है। सम्पूर्ण इन्द्रियों का उनके अपने–अपने विषयों में परिचालन करता है तथा हर्ष और उत्साह का जनक है।

वायुर्हि वक्त्रसंचारी स प्राणो नाम देहधृक्।

सोऽन्नं प्रवेशयत्यन्तः प्राणांश्चाप्यवलम्बते।। सु० नि० 1/12

प्राण संज्ञा से ज्ञात देह धारण करने वाला वायु मुख में संचार करता है। यह आहार के निगलने की क्रिया को सम्पादित करता है तथा प्राणों का अवलम्बन (श्वसन क्रिया) इसके द्वारा ही होता है।

प्राणेऽत्र मूर्धगः।

उरः कंठचरो बुद्धिहृदयेन्द्रियचित्तधृक्।

ष्ठीवनं क्षवथूद्गारनिःश्वासान्नप्रवेशकृत्।। अ० हृ० सू० 12/4

प्राण वायु मस्तिष्क में रहता है तथा उर और कण्ठ में विचरण करता है। बुद्धि, हृदय, इन्द्रिय तथा मन का धारण करता है अर्थात् उनके कर्मों का प्रेरक है। थूकना, छींकना, डकार लेना, श्वास लेना, अन्न का निगलना आदि इसके (अन्य) कार्य हैं।

नाभिस्थः प्राणपवनः स्पृष्ट्वा हृत्कमलान्तरम्।

कण्ठाद्बहिर्विनिर्याति पातुं विष्णपदामृतम्।।

पीत्वा चाम्बरपीयूषं पुनरायाति वेगतः।

प्रीणयन्देहमखिलं जीवं च जठरानलम्।। शा० पू० 5/44, 45

नाभि स्थित प्राण वायु हृदय का स्पर्श करता हुआ विष्णुपद (अम्बर= आकाश) के अमृत (पीयूष=शुद्ध वायु) को पान करने की इच्छा से कण्ठ मार्ग से बाहर आता है, और इस अम्बर पीयूष [शुद्ध वायु] का ग्रहण कर पुनः वेग पूर्वक उसी मार्ग से अन्दर लौटकर हृत्कमल का स्पर्श करता हुआ समस्त शरीर, जीवात्मा तथा जठराग्नि को प्राण [जीवन] प्रदान करता है, अर्थात् प्राण वायु द्वारा श्वसन क्रिया सम्पन्न होती है।

विष्णुपदामृत अर्थात् विष्णु भगवान् के पैरों का अमृत 'शुद्ध वायु' के लिए आलंकारिक भाषा में कहा गया है। देवाताओं का निवास ऊपर स्वर्ग में माना जाता है एवं पाद शरीर के नीचे का अंग होता है। स्वर्ग के नीचे का भाग आकाश के लिए प्रयुक्त हुआ है तथा अमृत शुद्ध वायु के लिए प्रयुक्त हुआ है। अतः विष्णुपदामृत का अर्थ होता है आकाशीय वायु अर्थात् शुद्ध वायु, ऐसी वायु, जिसके संगठन में लगभग 70 प्र०श० नाईट्रोजन तथा 21 प्र०श० ऑक्सीजन हो। इसी शुद्ध वायु के लिए अम्बर पीयूष शब्द भी प्रयुक्त होता है। अम्बर पीयूष अथवा विष्णुपदामृत का अर्थ ऑक्सीजन नहीं है क्योंकि शुद्ध ऑक्सीजन मनुष्य के लिए विषतुल्य होती है। शुद्ध ऑक्सीजन के मण्डल में व्यक्ति जीवित

नहीं रह सकता है। पीयूष [अमृत] सदैव एवं प्रत्येक दशा में प्रणादाता ही रहता है। यह सत्य ऑक्सीजन पर घटित नहीं होता है। अतः अम्बर पीयूष अथवा विष्णुपदामृत का अर्थ ऑक्सीजन नहीं हो सकता है। केवल शुद्ध वायु के लिए ही इसका प्रयोग विज्ञान समस्त है।

संक्षेप में प्राण वायु के कार्य हैं—

1.	समस्त मानसिक क्रियाओं का नियन्ता—	नियन्ता प्राणेता च मनसः। चरक बुद्धिचित्तधृक्।। अ० हृ०
2.	समस्त ज्ञानेन्द्रियों के कार्यों का प्रेरक—	सर्वेन्द्रिणामुद्योजकः। चरक सर्वेन्द्रियार्थानामभिवोढ़ा। चरक इन्द्रियधृक्। अ० हृ०
3.	फुफ्फुसों के कार्यों का कर्त्ता—	श्वास कर्म। चरक प्राणांश्चाप्यवलम्बते सुश्रुत
4.	हृदय के कार्यों का कर्त्ता—	हृदयधृक्।
5.	भोजन के निगलने की क्रिया का सम्पादन—	आहारादि कर्म। चरक सोऽन्नं प्रवेशयत्यन्तः। सुश्रुत अन्नप्रवेशकृत्। अ० हृ०

6. अन्य कर्म— ष्ठीवन [थूकना], क्षवथु (छीकना), उद्‌गार (डकार लेना) आदि।

प्राण वायु की विकृति से उत्पन्न रोग—

प्रायशः कुरुते दुष्टो हिक्काश्वासादिकान् गदान्। सु० नि० 1/13

प्राण वायु की विकृति से हिक्का (हिचकी), श्वास आदि रोग प्रायः हो जाते हैं।

उदान वायु

उदानस्य पुनः स्थानं नाभ्युरः कण्ठ एव च।
वाक्प्रवृत्तिः प्रयत्नौर्जोबलवर्णादि कर्म च।। च० चि० 28/6

नाभि, उर (वक्ष) तथा कण्ठ उदान वायु के स्थान हैं एवं वाणी की प्रवृत्ति प्रयत्न, ऊर्ज (उत्साह) तथा बल वर्ण आदि का सम्पादन इसका कर्म है।

उदानो नाम यस्तूर्ध्वमुपैति पवनोत्तमः।
तेन भाषितगीतादि विशेषोऽभिप्रवर्तते।। सु० नि० 1/14

जो श्रेष्ठ वायु (वक्ष से) ऊपर की ओर गमन करता है उसका नाम **उदान वायु है। इससे भाषण, गान (अर्थात् गद्य एवं पद्य का उच्चारण, केवल ध्वनि मात्र ही नहीं)** आदि ये **विशेष** क्रियायें प्रवृत्त होती हैं।

उरः स्थानमुदानस्य नासानाभिगलांश्चरेत्।

वाक्प्रवृत्तिः प्रयत्नोर्जा-बलवर्णस्मृतिक्रियः।। अ० ह० सू० 12/5

उर [वक्ष], नासिका, नाभि तथा कण्ठ में गमन करने वाला वायु उदान वायु है। यह वाणी की प्रवृत्ति, प्रयत्न, उत्साह, बल, वर्ण तथा स्मृति का सम्पादन करता है।

उदान वायु की वातज क्रिया–

परावर्ती स्वर यन्त्र तन्त्रिका (recurrent larynageal nerve) की प्रेरणा से स्वर यन्त्र (larynx) में स्थित स्वर रज्जुओं (vocal cords) में कम्पन तथा स्वरयन्त्र उपास्थि (cartilage) में गति उत्पन्न होती है। तन्त्रिका (nerve) इन गतियों पर नियन्त्रण रखती है। साथ ही साथ फुफ्फुसों से वायु इसी मार्ग द्वारा बाहर की ओर गमन करता है। इससे वाक्–प्रवृत्ति होती है। यदि स्वररज्जु कम्पन तथा स्वरयन्त्र–उपास्थि की गतियों का उचित नियन्त्रण नहीं होता है, उस दशा में वायु के इनसे टकराने से जो ध्वनि उत्पन्न होती हैं उसका कोई अर्थ नहीं होता। जिस ध्वनि का कोई अर्थ नहीं है उसे नाद कहते हैं।

जब कम्पन तथा उपास्थि की गति पर तन्त्रिका का नियन्त्रण होता है तथा दांत, ओष्ठ, जीह्वा और तालु की सहायता से ध्वनि नियन्त्रित होती है तब उसे विभिन्न अक्षरों का रूप मिल जाता है। अक्षरों के परस्पर संयोग से वर्णात्मक शब्द उत्पन्न होते हैं।

वाणी मानसिक प्रसन्नता का कारण है क्योंकि इससे मानसिक तनाव कम होता है। अतः इससे उत्साह, बल, वर्ण, ऊर्जा एवं स्फूर्ति को प्राप्ति होती है। जो शब्द उच्चारित किए जाते हैं वे स्मृति पटल पर गहरे अंकित होते हैं। इनका समय पर स्मरण स्मृति कहलाता है।

मनुष्य जब बोलने की इच्छा करता है तब बुद्धि युक्त मन से आत्मा का संयोग होता है और फिर मन द्वारा प्रेरणा प्राप्त कर उदान वायु शब्द उत्पन्न करता है।

उदान वायु की विकृति से उत्पन्न रोग–

ऊर्ध्वजत्रुगतान् रोगान् करोति च विशेषतः।। सु० नि० 1/16

उदान वायु के विकृत होने पर विशेषतः ऊर्ध्वजत्रुगत (शिरोरोग, कर्णरोग, दन्त रोग, नेत्र–नासिका एवं मुख रोग आदि) रोग विशेषतः होते हैं।

व्यान वायु

देहं व्याप्नोति सर्वं तु व्यानः शीघ्रगतिर्नृणाम्।

गतिप्रसारणाक्षेपनिमेषादिक्रियः सदा।। च० चि० 28/7

शीघ्र गति करने वाला व्यान वायु सम्पूर्ण देह में व्याप्त रहता है तथा गति (चलना, फिरना आदि), प्रसारण (अंगों का फैलना), आक्षेप (convulsion), निमेष (पलक का बन्द होना) आदि क्रियायें सम्पादित करता है।

प्रसारण क्रिया के अन्तर्गत आकुञ्चन तथा प्रसारण दोनों का समावेश है। इसी प्रकार निमेष क्रिया में उन्मेष का भी अन्तर्भाव है। सामान्य अवस्था में पलकें खुली रहती हैं अतः उन्मेष का उल्लेख नहीं किया गया है।

व्यानेन रसधातुर्हि विक्षेपोचितकर्मणा।
युगपत्सर्वतोऽजस्रं देहे विक्षिप्यते सदा।।

च० चि० 15/35 तथा अ० हृ० शा० 3/68

विक्षेपण आदि कर्म करने वाला व्यान वायु रस धातु को सदा (निरन्तर) युगपत् (एक साथ) समस्त शरीर में विक्षेपित करता रहता है।

कृत्स्नदेहचरो व्यानो रससंवहनोद्यतः।
स्वेदासृक्स्रावणश्चापि पञ्चधा चेष्टयत्यपि।। सु० नि० 1/16

समस्त देह में विचरण करने वाला व्यान वायु है जो (1) समस्त शरीर में प्रवृत्त रहता है। (2) स्वेद का निर्माण एवं निष्कासन करता है, [3] रक्त का संवहन करता है तथा [4] शरीर में पांचों प्रकार की चेष्टाओं [i] गति, [ii] अपक्षेपण [नीचे की ओर विक्षेपण], [iii] उत्क्षेपण [ऊपर की ओर विक्षेपण], [iv] निमेष तथा [v] उन्मेष का कारण है।

व्यानो हृदि स्थितः कृत्स्नदेहचारी महाजवः।
गत्यपक्षेपणोत्क्षेपनिमेषोन्मेषणादिकाः।।
प्रायः सर्वाः क्रियास्तस्मिन् प्रतिबद्धाः शरीरिणाम्।।

अ० हृ० सू० 12/6-7

व्यान वायु हृदय में स्थित रहता है तथा बड़े वेग से सम्पूर्ण शरीर में विचरण करता है एवं गति, अपक्षेपण, उत्क्षेपण, निमेष तथा उन्मेष आदि पांचों प्रकार की चेष्टाओं को करता है। शरीर में होने वाली सम्पूर्ण चेष्टायें प्रायः व्यान वायु के अधीन रहती हैं अर्थात् व्यान वायु द्वारा होती हैं।

★ ★ ★

आचार्य वाग्भट्ट ने व्यान वायु का स्थान हृदय कहा है। (**व्यानो हृदि स्थितः**) परन्तु उसका कार्यक्षेत्र सम्पूर्ण शरीर है। [**कृत्स्नदेहचारी**– वाग्भट्ट] [**देहं व्याप्नोति सर्वं तु व्यानः**– चरक], [**कृत्स्नदेहचारी व्यानो**– सुश्रुत] ऐसा तीनों आचार्यों ने कहा है। तीनों आचार्यों ने व्यान वायु को रससंवहन का कारक तथा समस्त चेष्टाओं का प्रवर्तक माना है। रस संवहन में हृदय मुख्य

भाग लेता है। यद्यपि आचार्य वाग्भट्ट ने व्यान वायु का स्थान हृदय कहा है परन्तु कार्य में कोई विभिन्नता नहीं कही है।

अन्य तरल द्रव्यों के समान रस आदि शारीरिक तरल द्रव्य भी उच्च दाब से निम्न दाब की ओर गति करते हैं। धमनी रक्त के दाब और शिरा रक्त के दाब में अन्तर होना रक्त संवहन का कारण है। धमनी रक्तदाब परिसरीय प्रतिरोध (peripheral resistance) एवं हृद् निकास (cardiac output) पर निर्भर करता है। परिसरीय प्रतिरोध का नियन्त्रण वाहिका प्रेरक केन्द्र (vasomotor centre) के द्वारा होता है तथा हृद् निकास का नियन्त्रण हृद् केन्द्र (cardiac centre) के द्वारा होता है। ये दोनों मस्तिष्क में स्थित होते हैं। वेगस तन्त्रिका (vagus nerve) तथा अनुकम्पी तन्त्रिकाएं (sympathetic nerves) इन क्रियाओं में प्रमुख भाग लेती हैं। इन्हीं तन्त्रिकाओं के द्वारा शरीर में होने वाली प्रायः समस्त अनैच्छिक चेष्टाओं का नियन्त्रण होता है। सोते समय बाह्य उत्तेजनाओं के न्यूनतम हो जाने से अनुकम्पी तन्त्रिकाओं की क्रियाशीलता भी न्यूताम हो जाती है। फलस्वरूप वेगस तन्त्रिका हृदय की गति को मन्द कर देती है। इसके विपरीत जागृत अथवा अधिक उत्तेजित अवस्था में अनुकम्पी तन्त्रिकाओं की क्रियाशीलता बढ़ जाती है जिससे हृदय की गति भी बढ़ जाती है और रक्त संवहन अधिक तेजी से होने लगता है। व्यान वायु द्वारा सम्पन्न इस प्राकृतिक कर्म को सुश्रुत ने बहुत ही स्पष्ट रूप में कहा है–

पुण्डरीकेण सदृशं हृदयं स्यादधोमुखम्।
जाग्रतस्तद्विकसति स्वपतश्च निमीलति।। सु० शा० 4/31

हृदय आकार में अधोमुखकमल (कमल की कालिका) के समान होता है। जागरूक प्राणी का हृदय विकसित रहता है अर्थात् अनुकम्पी तन्त्रिकाओं की क्रियाशीलता में वृद्धि के कारण हृदय की गति बढ़ जाती है तथा निद्रित प्राणी का हृदय संकुचित हो जाता है अर्थात् वेगस तन्त्रिका की क्रियाशीलता में वृद्धि तथा अनुकम्पी तन्त्रिकाओं की क्रियाशीलता में ह्रास के कारण हृदय गति मन्द हो जाती है।

व्यान वायु की विकृति से उत्पन्न रोग–

क्रुद्धश्च कुरुते रोगान् प्रायशः सर्वदेहगान्।।

व्यान वायु के विकृत होने पर प्रायः सर्व शरीरगत रोग उत्पन्न होते हैं।

क्षिप्यमाणः स्ववैगुण्याद्रसः सज्जति यत्र सः।
करोति विकृतिं चात्र खे वर्षमिव तोयदः।।
दोषाणामपि चैवं स्यादेकदेशप्रकोपणम्। च० चि० 15/37

अष्टांग हृदय में भी उपरोक्त पाठ है परन्तु **'करोति विकृतिं' के स्थान** पर **'तस्मिन्विकारं कुरुते'** (अ० हृ० शा० 3/69) पाठ है।

निरन्तर फैंका हुआ रस यदि स्रोत की विगुणता अथवा विकृति के कारण रुक जाता है तो रुके हुए स्थान में रोग उत्पन्न कर देता है। जिस प्रकार आकाश में गमन करने वाले मेघ जिस स्थान पर रुक जाते हैं वहीं वर्षा करते हैं। इसी प्रकार भ्रमण करते हुए दोष जिस स्थान पर रुक जाते हैं अर्थात् संचित हो प्रकुपित हो जाते हैं, उसी स्थान पर रोग उत्पन्न करते हैं। व्यान वायु का स्थान समस्त शरीर है। अतः व्यान के सामान्य कर्मों में विकृति होने पर समस्त शरीर में रोग उत्पन्न हो सकते हैं।

समान वायु

स्वेददोषाम्बुवाहीनि स्रोतांसि समधिष्ठितः।

अन्तरग्नेश्च पार्श्वस्थः समानोऽग्निबलप्रदः।। च० चि० 28/2

स्वेदवह, दोषवह तथा अम्बुवह स्रोतों में आश्रित और अन्तराग्नि के पार्श्व में स्थित समान वायु अग्नि (पाचकाग्नि) को बल प्रदान करता है।

आमपक्वाशयचरः समानो वह्निसंगतः।

सोऽन्नं पचति तज्जांश्च विशेषान्विविनक्ति हि।। सु० नि० 1/15

आमाशय तथा पक्वाशय में विचरण करने वाला समान वायु जठराग्नि को सहायता प्रदान कर अन्न को पचाता है और अग्नि द्वारा परिपाकजन्य पदार्थों के सार तथा मल अंशों को पृथक्–पृथक् करता है।

समानोऽग्निः समीपस्थः कोष्ठे चरति सर्वतः।

अन्नं गृह्णाति पचति विवेचयति मुंचति।। अ० हृ० सू० 1/8

पाचकाग्नि के समीप रहता हुआ और समस्त कोष्ठ में विचरता हुआ समान वायु अन्न को ग्रहण कर और जठराग्नि को बल प्रदान कर उसे पचाता है। तत्पश्चात् रस (सार अंश) और मल को पृथक्–पृथक् करता है।

★ ★ ★

पाचक रस जिन स्थानों पर आहार द्रव्यों पर क्रिया करते हैं वे स्थान आमाशय (आम=अपक्व, आशय=स्थान); ग्रहणी तथा क्षुद्रान्त्र हैं। इस समस्त क्षेत्र को पच्यमानाशय या नाभि प्रदेश भी कहते हैं। यहां पर पाचकाग्नि को समान वायु सहायता प्रदान करता है जिससे भोजन का पाचन ठीक प्रकार से हो जाता है। अन्न की पाचनक्रिया में सहायक होना तथा पचने के पश्चात् सार भाग को किट्ट भाग से पृथक् कर अवशोषण करना एवं किट्ट भाग को निष्कासन हेतु पक्वाशय में पहुंचाना, ये सब कार्य समान वायु द्वारा सम्पन्न होते हैं।

आहार के पाचन में तथा रस भाग और किट्ट भाग के पृथकीकरण में समान वायु दो प्रकार से सहायक होता है— [1] पाचक रसों को उसके कार्य क्षेत्र में पहुंचाकर तथा [2] आमाशय तथा आन्त्र में गति उत्पन्न करके।

प्रथम कार्य की प्रमुख तन्त्रिका वेगस तन्त्रिका (vagus nerve) है। इस तन्त्रिका की उत्तेजना से पाचक रसों की उत्पत्ति बढ़ जाती है। इसके विपरीत प्रभाव अनुकम्पी (sympathetic) तन्त्रिकाओं का होता है।

आन्त्र गति में आन्त्रभित्ति में स्थित प्रेरक तन्त्रिकाओं (motor nerves) का आरबैक तन्त्रिका जालिका (Auerbach's nerve plexus) तथा संवेदी तन्त्रिकाओं का मेसनर तन्त्रिका जालिका (Meissner's nerve plexus) मुख्य रूप से भाग लेते हैं। आन्त्र में होने वाली पुरःसरण गति (peistaltic movement) तथा आन्त्रभित्ति की स्वाभाविक तान (tone) को बनाए रखना इन जालिकाओं का कार्य है। इन दोनों जालिकाओं का सम्बन्ध परानुकम्पी (parasympathetic) तन्त्रिकाओं, वेगस तन्त्रिका, त्रिक (sacral) तन्त्रिका तथा अनुकम्पी तन्त्रिकाओं से रहता है, जिसके कारण आवश्यकतानुसार इनके कार्य में मन्दता अथवा उद्दीप्तता उत्पन्न होती रहती है। दोनों जालिकाओं का कार्य अन्य तन्त्रिकाओं से सम्बन्ध विच्छेद हो जाने पर भी होता रहता है और इस प्रकार इस स्थिति में भी पुरःसरण गति होती रहती है।

ये तन्त्रिकायें अपचित आहार अंश को शेषान्धान्त्र कपाटिका (ileo-caecal valve) द्वारा वृहदन्त्र में पहुंचाने का कार्य भी करती हैं। आन्त्रगति के कारण आहार का अपचित अंश (मलांश) नीचे की ओर गति करता हुआ पक्वाशय (वृहदन्त्र) में प्रवेश कर जाता है। क्षुद्रान्त्र की भित्ति द्वारा आहार का पक्व अंश (रस भाग) अवशोषित हो जाता है।

समान वायु की विकृति से उत्पन्न रोग—

गुल्माग्निसादातिसारप्रभृतीन् कुरुते गदान्। सु० नि० 1/16

समान वायु की विकृति पर गुल्म, मन्दाग्नि, अतिसार आदि रोग हो जाते हैं।

अपान वायु

वृषणौ वस्तिमेढ्रं च नाभ्यूरुवंक्षणौ गुदम्।
अपानस्थानमन्त्रस्थः शुक्रमूत्रशकृन्ति सः।।
सृजत्यार्तवगर्भौ च।। च० चि० 28/9-10

दोनों वृषण (अण्डकोष) वस्ति (मूत्राशय), मूत्रेन्द्रिय, नाभि, ऊरु, दोनों वंक्षण, गुदा तथा अन्त्र अपान वायु के स्थान हैं।

यह वायु, वीर्य, मूत्र, पुरीष, आर्तव तथा गर्भ को [उचित समय पर] बाहर निकालता है।

पक्वाधानालयोऽपानः काले कर्षति चाप्ययम्।

समीरणः शकृन्मूत्रशुक्रगर्भार्त्तवान्यधः।। सु० नि० 1/18

अपान वायु पक्वाधान [वृहदन्त्र] में रहता तथा पुरीष, मूत्र, शुक्र, गर्भ तथा आर्तव को [अधारण काल में) नीचे के मार्ग से निष्कासित कर देता है।

अपानोऽपानगः श्रोणिवस्तिमेढ्रोरुगोचरः।

शुक्रार्तवशकृन्मूत्रगर्भनिष्क्रमणक्रियः।। अ० हृ० सू० 12/9

अपान वायु श्रोणि [pelvic region], गुदा, मूत्राशय, मूत्रेन्द्रिय, वंक्षण तथा ऊरु में विचरता हुआ शुक्र, आर्तव, पुरीष, मूत्र एवं गर्भ को [वेगकाल] में बाहर निकालने का कार्य करता है।

★ ★ ★

अपान वायु द्वारा वहदन्त्र, मलाशय तथा श्रोणिगुहा में होने वाली तांत्रिक क्रियाओं का नियन्त्रण होता है। इस क्षेत्र में होने वाली इच्छाहीन क्रियाओं का नियन्त्रण दैहिक तन्त्रिका तन्त्र [somatic nervous system] की तन्त्रिकाओं द्वारा होता है। इस कारण वेगकाल होते हुए भी यदि परिस्थितियां अनुकूल नहीं होती हैं तो पुरीष, मूत्र आदि के वेग को धारण किया जा सकता है। इस क्षेत्र में अनैच्छिक क्रियाओं का नियन्त्रण स्वचालित तन्त्रिका तन्त्र [automatic nervous system] की परानुकम्पी [parasympathetic] तथा अनुकम्पी [sympathetic] तन्त्रिकाओं द्वारा होता है। प्रायः इस क्षेत्र को अनुकम्पी तन्त्रिकाओं की उद्दीप्तता से धारण कार्य होता है तथा परानुकम्पी तन्त्रिकाओं की उद्दीप्तता से निष्कासन कार्य होता है।

उपरोक्त क्रियाओं में अधोजठर जालिका (hypogastric plexus), श्रोणि जालिका [pelvic plexus] कटि अनुकम्पी तन्त्रिकायें तथा त्रिक और अनुत्रिक परानुकम्पी तन्त्रिकायें भाग लेती हैं।

आर्तव, गर्भ तथा वीर्य के धारण तथा निष्कासन में विभिन्न जनन ग्रन्थि प्रेरक हार्मोन भी भाग लेते हैं।

अपान वायु की विकृति से उत्पन्न रोग–

क्रुद्धश्च कुरुते रोगान् घोरान् वस्तिगुदाश्रयान्। सु० नि० 1/19

अपान वायु के विकृत होने पर गुदा तथा वस्ति में गम्भीर रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

पञ्चविध वात के कर्म

प्राण वायु के कर्म	उदान वायु के कर्म	समान वायु के कर्म	व्यान वायु के कर्म	अपान वायु के कर्म
1. ष्ठीवन [थूकना]	1. वाक् प्रवृत्ति	1. अग्निबलप्रद	1. गति	1. शुक्रोत्सर्ग
2. क्षवथु [छींकना]	2. प्रयत्न	[च.चि. 2/87]	2. प्रसारण	2. मूत्रोत्सर्ग
3. उद्गार	3. ऊर्ज [उत्साह]	2. अन्न पाचन	3. आक्षेप	3. पुरीषोत्सर्ग
4. श्वसन	4. बल	3. रस मलादि	4. निमेष	4. आर्तवोत्सर्ग
5. आहरण	5. वर्ण	4. विवेचन	5. उन्मेष	5. गर्भोत्सर्ग
[निगलना]	[च. चि. 28/6]	[सु. नि. 1/15]	[च. चि. 28/7]	[च. चि.18/9]
[च. चि. 28/5]	6. स्मृति		6. रस संवहन	
6. बुद्धि धारण	[अ. हृ. सू.12/5]		7. स्वेद स्रावण	
7. हृद् धारण			8. असृक् स्रावण	
8. इन्द्रिय धारण			[सु. नि. 1/16]	

पित्त के विशिष्ट कर्म

पित्त के भेद—

पित्तं पंचात्मकम्।। अ० हृ० सू० 12/10

पित्त पांच प्रकार का होता है।

चरक संहिता में केवल वायु के पाँच भेदों को पृथक्–पृथक् संज्ञा प्रदान की गई है जबकि सुश्रुत और वाग्भट्ट संहिता ग्रन्थों में पित्त के पांच भेदों के पृथक्–पृथक् नाम दिए गए हैं।

सुश्रुत संहिता सूत्र स्थान (21/2) तथा वाग्भट्ट संहिता (अष्टांग हृदय) सूत्र स्थान 12/11,12) के अनुसार पित्त के पांच भेदों के नाम इस प्रकार हैं—

(1) रञ्जक पित्त, (2) पाचक पित्त, (3) आलोचक पित्त, (4) साधक पित्त तथा (5) भ्राजक पित्त।

रागपक्तितेजोमेधोष्मकृत् पित्तं पञ्चधा प्रविभक्तमग्निकर्मणाऽनुग्रहं करोति।।

रागकृत रस को वर्ण प्रदान करने वाला— (रंजक) पक्तिकृत् (पाचन करने वाला— पाचक), तेजकृत् (दृष्टि उत्पन्न करने वाला— आलोचक), मेधाकृत् (बुद्धि उत्पन्न करने वाला— साधक) तथा ऊष्माकृत (ऊष्मा उत्पन्न करने वाला भ्राजक) इन पाँच प्रकार से विभक्त होकर पित्त अग्नि कर्म द्वारा शरीर को अनुगृहीत करता है।

रञ्जक पित्त

तेजो रसानां सर्वेषां मनुजानां यदुच्यते।
पित्तोष्मणः स रागेण रसो रक्तत्वमृच्छति।। च० चि० 25/27

समस्त मनुष्य में रसों का अपना जो तेज है, उस तेज तथा पित्त की ऊष्मा के रञ्जन से रस रक्तता को प्राप्त होता है अर्थात् रस का कुछ अंश जो अपने विशेष रासायनिक संगठन के कारण रस का तेजस अंश कहलाता है पित्त की विशेष प्रकार की पाक क्रिया (रंजन क्रिया) के द्वारा रक्त में परिवर्तित हो जाता है।

यत्तु यकृत्प्लीह्नोः पित्तं तस्मिन् रञ्जकोऽग्निरिति संज्ञा।
स रसस्य रागकृदुक्तः।। सु० सू० 21/9

जो पित्त यकृत् तथा प्लीहा में रहता है उसी की रंजक अग्नि (पित्त) संज्ञा है यह रस को रक्त बनाता है।

स खल्वाप्यो रसो यकृत्प्लीहानौ प्राप्य रागमुपैति।
रंजितास्तेजसा त्वापः शरीरस्थेन देहिनाम्।

अव्यापन्ना प्रसन्नेन रक्तमित्यभिधीयते।। सु० सू० 14/5-6

जल रूप रस यकृत् तथा प्लीहा में पहुंच कर लाल वर्ण का हो जाता है। मनुष्यों के शरीर में विशुद्ध तेज द्वारा रक्त वर्ण को प्राप्त हुआ यह प्रसाद रूप रस रक्त कहलाता है।

आमाशयाश्रयं पित्तं रंजकं रसरंजनात्।। अ० हृ० सू० 11/13

आमाशय में आश्रित रंजक पित्त रस का रंजन कर उसे रक्त में परिणत करता है।

उपरोक्त विवरण से रक्त निर्माण के सम्बन्ध में आयुर्वेद का दृष्टिकोण स्पष्ट है। रस धातु का कुछ अंश रंजक पित्त की सहायता से रक्त धातु का निर्माण करता है। रंजक पित्त के कार्य के सम्बन्ध में अथवा रक्त धातु के निर्माण विधि के सम्बन्ध में संहिता ग्रन्थों में मतैक्य है परन्तु रंजक पित्त के स्थान के सम्बन्ध में सुश्रुत संहिता तथा वाग्भट्ट संहिता विभिन्न मत रखते हैं। सुश्रुत संहिता के अनुसार यकृत् एवं प्लीहा रंजक पित्त के स्थान हैं तथा वाग्भट्ट संहिता के अनुसार रंजक पित्त आमाशय में स्थित रहता है। आधुनिक विद्वान् अनुसंधान के पश्चात्, इस निर्णय पर पहुंचा है कि गर्भकाल में गर्भ शिशु के रक्त के निर्माण स्थल यकृत् तथा प्लीहा हैं परन्तु जन्म के पश्चात् रक्त के निर्माण का कार्य अस्थियों में स्थित सरक्त मेद [red bone marrow] में होता है। रक्त के निर्माण में जो बाह्य तत्त्व भाग लेते हैं वे रस धातु [प्लाज्मा-plasma] में विलेय रूप से उपस्थित रहते हैं तथा उनकी उत्पत्ति अथवा संग्रह स्थान आमाशय, यकृत् और प्लीहा हैं।

रक्त का रक्तवर्ण उसमें उपस्थित लोहित कोशिकाओं में हीमोग्लोबिन के कारण है। हीमोग्लोबिन के निर्माण में मुख्य सहायक द्रव्य विटामिन बी $_{12}$, लौह तथा प्रोटीन हैं। विटामिन बी$_{12}$ का पूर्व रूप जान्तव आहार द्रव्यों में उपस्थित होता है इसे बहिःस्थ कारक [castle's extrinsic factor] कहते हैं। आन्त्र भित्ति द्वारा इसके अवशोषण के लिए एक अन्य द्रव्य की आवश्यकता होती है जो आमाशय की भित्ति कोशिकाओं द्वारा उत्पन्न होता है इसे अन्तःस्थ कारक [castle's intrinsic factor] कहते हैं। यदि आमाशय भित्ति द्वारा अन्तःस्थ कारक की उत्पत्ति नहीं होती है तो बहिःस्थ कारक का अवशोषण असम्भव है। रस धातु में बहिस्थ कारक की अल्पता अथवा हीनता होने से सरक्त मेद निर्मित लोहित कोशिकायें [red blood corpuscles] परिपक्वता को प्राप्त नहीं होती हैं। परिणामस्वरूप वृहत् लोहित कोशिका अरक्तता [macrocytic anaemia] हो जाता है।

विटामिन बी $_{12}$ रक्तोत्पादन कारक के रूप में यकृत् में संगृहीत रहता है तथा रस धातु द्वारा निरन्तर सरक्त मेद को प्राप्त होता रहता है। इस विटामिन के अतिरिक्त अन्य अनेक रक्तोत्पादन में सहायक एन्जाइम भी यकृत् में उत्पन्न होते हैं और सरक्त मेद में पहुंच लोहित कोशिकाओं के विकास में भाग लेते हैं। रक्त के निर्माण में यकृत् की भूमिका से आचार्य वाग्भट्ट पूर्णरूप से परिचित थे। चाहे शुद्ध कारणों का स्पष्ट ज्ञान नहीं हो रहा हो।

प्लीहा द्वारा भी गर्भ शिशु में लोहित कोशिकाओं का निर्माण होता है परन्तु जन्म के पश्चात् कुछ वैकृत अवस्थाओं में, यथा मज्जाभ इतरविकसन (myeloid metaplasia) में प्लीहा, पुनः कोशिकाओं का निर्माण करने लगती है।

रंजक पित्त का अग्नि कर्म शरीर में होने वाले अन्य अग्नि कर्मों से भिन्न हैं। अन्य शरीर अग्नि कर्मों में पर्याप्त मात्रा में ऑक्सीजन की आवश्यकता होती है। परन्तु रंजक पित्त का अग्नि कर्म उसी समय सम्भव होता है जबकि ऑक्सीजन अत्यन्त अल्प मात्रा में उपस्थित होती है। सरक्त मेद में लोहित कोशिकाओं के निर्माण के समय उस स्थान की रक्त कोशिकाओं में संवहन रुक जाता है, फलस्वरूप ऑक्सीजन की अल्पता हो जाती है। लोहित कोशिकाओं में उपस्थित हीमोग्लोबिन जब फुफ्फुसों में पहुंच ऑक्सीजन को ग्रहण करता है तो रक्त का लाल वर्ण प्रकाशित हो जाता है।

साधक पित्त

अग्निनेव शरीरे पित्तान्तर्गतः कुपिताकुपितः शुभाशुभानि करोति, तद्यथा— शौर्यं, भयं, क्रोधं, हर्षं, मोहं, प्रसादमित्येवमादीनि चापराणि द्वन्द्वानीति।

भय अथवा शूरता, क्रोध अथवा हर्ष, मोह अथवा प्रसन्नता आदि द्वन्द्व पित्त के अन्तर्गत कुपित [विषम विकृत] अथवा अकुपित [सम–अविकृत] अग्नि द्वारा होते हैं अर्थात् अकुपित साधक पित्त शूरता, हर्ष, प्रसन्नता आदि मानसिक क्रियाओं का सम्पादन करता है। यही कुपित [विकृत] अवस्था में भय, क्रोध, मोह आदि का कारण होता है।

प्रभा प्रसादो मेधा च पित्तकर्माविकारजम्।। च० सू० 18/52

प्रभा [कान्ति], प्रसाद [प्रसन्नता], मेधा [धारणात्मक बुद्धि] ये अविकृत पित्त के कर्म हैं।

हृदि तिष्ठति यत् शुद्धं रक्तं ईषत् सपीतकम्।
ओजः शरीरे संख्यातस्तन्नाशाद् ना विनश्यति।।

च० सू० 7/73

हृदय में जो शुद्ध कुछ लाल एवं पीला–सा पदार्थ रहता है वह ओजस् है इसे पित्त कह सकते है क्योंकि ओजस्वी मनुष्य ही कार्य साधन में समर्थ होता है।

यत् पित्तं हृदयसंस्थितं तस्मिन् साधकोऽग्निरिति संज्ञा।

सोऽभिप्रार्थितमनोरथसाधनकृदुक्तः।।

सु० सू० 21/9

हृदय में स्थित पित्त की संज्ञा साधक पित्त है। यह पित्त अभिप्रार्थित [वाँछित] मनोरथों [धर्म–अर्थ–काम–मोक्ष रूपी पुरुषार्थ] को सिद्ध करता है।

बुद्धिमेधाऽभिमानाद्यैरभिप्रेतार्थसाधनात्। साधकं हृदयगतं पित्तम्।।

अ० हृ० सू० 12/14

हृदय में रहकर बुद्धि, मेधा व अभिमान आदि तथा सब मनोरथ सिद्ध करने वाले पित्त को साधक पित्त कहते हैं।

उपरोक्त वर्णन के अनुसार साधक पित्त का स्थान हृदय है तथा वांछित मनोरथों का साधक है। शोक, भय, क्रोध, हर्ष आदि मन की भावावेशजन्य अवस्थायें हैं। कल्पना द्वारा अथवा सुनने, देखने आदि से पूर्व अनुभूत पदार्थों के स्मरण को स्मृति कहते हैं। पूर्व अनुभूत पदार्थों का स्मरण जितना स्पष्ट होगा उतनी ही स्मृति दृढ़ होगी। स्मृति तथा धृति से बुद्धि उत्पन्न होती है। मन में विचार उत्पन्न हों तथा वे स्थिर रहें इसे ही बुद्धि कहते हैं। इसलिए बुद्धि को चतुराई [intelligence], तर्क [reason] तथा न्याय [correct judement] भी कहते हैं मेधा से मानसिक विचारणा शक्ति का भी ग्रहण होता है। अभिमान का दूसरा नाम अंहकार, अपने को सबसे बड़ा मानने की भावना है। बुद्धि, मेधा तथा अभिमान को सिद्ध करने वाला साधक पित्त है। ये समस्त कर्म मन द्वारा सम्पन्न होते हैं। मन ही बुद्धि को अच्छे या बुरे की क्षमता प्रदान करता है। अतः साधक पित्त एवं मन का एक ही स्थान होना चाहिए। मन के स्थान के विषय में भेल संहिता में लिखा है कि '**शिरस्ताल्वन्तरगतं सर्वेन्द्रियपरं मनः।**' मन का स्थान शिर और तालु के मध्य है। शरीर रचना की दृष्टि से यहां मस्तिष्क होता है। इसलिए मन का स्थान मस्तिष्क है। अन्य आयुर्वेदीय संहिताओं के समान भेल संहिता भी हृदय को चेतना का स्थान मानती है। '**हृदयमेव चेतनायतनम्**' संहिताओं के अनुसार छः अंग युक्त इस शरीर, विज्ञान, इन्द्रियां, इन्द्रियों के विषय, आत्मा, मन [चेतस्] तथा चिन्त्य [मन के कर्म] आदि का नियन्त्रण हृदय से होता है। इन सबको हृदय के आश्रित माना गया है।

षडङ्गमङ्गं विज्ञानमिन्द्रियाण्यर्थपञ्चकम्।

आत्मा च सगुणश्चेतश्चिन्त्यं च हृदि संश्रितम्।। च० सू० 30/3

हृदय शब्द का अर्थ है 'आदान प्रदान करने वाला' इसके अनुसार शिरोगत

हृदय अर्थात् मस्तिष्क एवं उरोगत हृदय (heart) दोनों में हृदय की कल्पना की जा सकती है। अथर्ववेद द्वारा इस कल्पना की पुष्टि होती है कि **मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं च।** (10-2-26) अर्थात् (ईश्वर) ने मनुष्य के सिर एवं हृदय को सीया हुआ है।

साधक पित्त के समस्त कार्य मन द्वारा सम्पन्न होते हैं इसलिए साधक पित्त का स्थान एवं कर्मक्षेत्र शिरोगत हृदय (मस्तिष्क) है परन्तु उरोगत हृदय भी उसके कार्यों में प्रमुख सहायक है। अपने सुचारुपूर्वक किए गए कर्मों के लिए साधक पित्त दोनों पर आश्रित है।

शरीर में मस्तिष्क ही ऐसा भाग है जिसे अबाध गति से रक्त मिलते रहना अनिवार्य है। मस्तिष्क की कोशिकायें केवल रक्त ग्लूकोज से ही ऊर्जा उत्पन्न करने में समर्थ होती हैं अन्यथा नहीं। यदि मस्तिष्क में रक्त संचार रुक जाता है तो मस्तिष्क की कोशिकाओं का कार्य भी रुक जाता है। मस्तिष्क की ये कोशिकायें रक्त के अभाव में यदि क्रियाहीन हो जाती हैं तो उन्हें पुनः जीवन प्रदान नहीं किया जा सकता है। मस्तिष्क पूर्ण रूप से रक्तसंचार पर, जो उरोगत हृदय का कार्य है, निर्भर करता है। अतः हृदय (उरोगत) तथा हृदय (शिरोगत) दोनों ही चेतना और साधक पित्त के स्थान हैं। परन्तु शिरोगत हृदय (मस्तिष्क) उसका कार्य क्षेत्र है।

आलोचक पित्त

दर्शनं......पित्तकर्माविकारजम्।। च० सू० 18/22

देखना अविकृत पित्त का कर्म है।

यद्दृष्ट्यां पित्तं तस्मिन्नालोचकोऽग्निरिति संज्ञा।

स रूपग्रहणाधिकृतः।। सु० सू० 21/9

जो पित्त दृष्टि में रहता है तथा रूप को ग्रहण करने का अधिकारी है उसकी आलोचक पित्त संज्ञा है।

रूपलोचनतः स्मृतं दृक्स्थमालोचकम्।।

नेत्रों में रहकर रूप का दर्शन कराने वाले पित्त को आलोचक पित्त कहते हैं।

आलोचक पित्त के भेद—

आचार्य भेल ने दो प्रकार के आलोचक पित्त का वर्णन किया है।

स (आलोचकः) द्विविधः चक्षुर्वैशेषिको बुद्धिवैशेषिकश्चेति।

आलोचक पित्त दो प्रकार का होता है— [1] चक्षुवैशेषिक तथा [2] बुद्धिवैशेषिक।

चक्षुवैशेषिक आलोचक पित्त

नेत्र द्वारा वस्तुओं को देखकर उनमें जो परस्पर भिन्नता का ज्ञान हमको होता है वह चक्षुवैशेषिक आलोचक पित्त द्वारा होता है। एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य का अन्तर, कुत्ते का गधे से अन्तर, एक फल का दूसरे फल से अन्तर, एक साथ अनेक को देखकर अथवा पृथक्–पृथक् एक–एक को देखकर उनमें वर्ण, आकार, स्थिति आदि के अन्तर का ज्ञान चक्षुवैशेषिक पित्त कराता है।

रूपवह दृष्टि तन्त्रिका [optic nerve] के अन्तिम सिरे नेत्र गोलक की भीतरी भित्ति पर फैले रहते हैं। इन सिरों को उनकी रचनाओं की दृष्टि से शंकु [cones] तथा श्लाका [rods] कहते हैं। प्रकाश किरणें जब इन पर पड़ती हैं इनमें भूरासायनिक [photochemical] परिवर्तन हो जाता है। यह परिवर्तन दृष्टितन्त्रिका को उद्दीप्त करता है तथा इस उद्दीपन द्वारा उत्पन्न संवेदना को मस्तिष्क के दृष्टि केन्द्र पर वहन कर ले जाता है। दृष्टि केन्द्र अपने पूर्व के अनुभव से एक वस्तु की दूसरी वस्तु से विभेदकता का ज्ञान कराता है। चक्षुवैशेषिक आलोचक पित्त द्वारा दृष्टि ज्ञान के लिए नेत्र में दृष्टितन्त्रिका का प्रकाश तरंगों द्वारा प्रभावित होना अनिवार्य है। दृष्टि तन्त्रिका तथा दृष्टि केन्द्र दोनों का संयुक्त अग्निकर्म दृष्टि ज्ञान कराता है। इनमें से किसी एक में विकृति उत्पन्न हो जाने से चक्षुवैशेषिक ज्ञान नहीं होता है।

बुद्धिवैशेषिक आलोचक पित्त

बुद्धिवैशेषिक आलोचक पित्त भ्रुवों के मध्य शृंगाटक में रहता है। इसके कारण ही मनुष्य अत्यन्त सूक्ष्म [गहन] अर्थों को भी ग्रहण कर लेता है, ग्रहण किए अर्थों को धारण कर समय पर उपस्थित करता है। भूतकाल की देखी हुई वस्तुओं की स्मृतियों के आधार पर भविष्य में तत्सम्बन्धी ज्ञान को उत्पन्न करता है। अपने पिछले जन्म के संस्कारों की स्मृति के कारण इस जन्म में पैदा होते ही शिशु माता के स्तन्य की इच्छा करता है। विचार तथा कार्य में तारतम्य स्थापित कर बुद्धिवैशेषिक को उत्पन्न करता है।

शृंगाटक एक मर्म क्षेत्र है इसके सम्बन्ध में सुश्रुत संहिता में लिखा है—

नासिका, कर्ण, नेत्र तथा जिह्वा का संतर्पण करने वाली सिराओं के मध्य शृंगाटक नामक सिरा–सन्निपात है; ये चारों मर्म हैं। यहां पर वेधन होने से तत्काल मृत्यु हो जाती है। सु० शा० 6/37

इस दृष्टि से विचार करने पर मस्तिष्क के मूल में स्थित गह्वर सिरानाल (cavernous sinus; सिरनाल=सन्निपात) का क्षेत्र शृंगाटक मर्म क्षेत्र है। इस क्षेत्र में नेत्र आदि को आने–जाने वाली रक्तवाहिकायें (नेत्र धमनी, नेत्र सिरा

आदि) तथा तन्त्रिकायें होती हैं। इस क्षेत्र के ऊपर की ओर मस्तिष्क का मनःसंवेदी [psycho-sensory] क्षेत्र स्थित होता है तथा उसके समीप ही मनःप्रेरक [psycho-motor] क्षेत्र होता है। मस्तिष्क के इन क्षेत्रों द्वारा बुद्धिवैशेषिक के उपरोक्त वर्णित कार्यों का सम्पादन होता है।

भ्राजक पित्त

अग्निरेव शरीरे पित्तान्तर्गतः कुपिताकुपितः शुभाशुभानि करोति, तद्यथा............मात्रामात्रत्वमूष्मणः प्रकृतिविकृतवर्णम्।। च० सू० 12/14

शरीर के ताप का मात्रा में रहना अथवा नहीं रहना, त्वचा का वर्ण प्राकृत रहना अथवा विकृत हो जाना इत्यादि शुभ अथवा अशुभ कर्म अकुपित [प्राकृत] अथवा कुपित [विकृत] भ्राजक पित्त द्वारा होते हैं।

कुपित भ्राजक पित्त शरीर के ताप को सम मात्रा में रखता है एवं त्वचा के वर्ण को भी प्राकृत रूप प्रदान करता है तथा कुपित भ्राजक पित्त इसके विपरीत कार्य करता है।

यत् त्वचि पित्तं तस्मिन् भ्राजकोऽग्निरिति संज्ञा। सोऽभ्यङ्गपरिषेकादगाहावलेपनादीनां क्रियाद्रव्याणां पक्ता, छायानां च प्रकाशकः।। सु० सू० 21/9

त्वचा में रहने वाले पित्त की भ्राजक पित्त संज्ञा है। मर्दन, सेचन, अवगाहन, लेपन आदि क्रियाओं में प्रयुक्त [त्वचा द्वारा अवशोषित] द्रव्यों को पचाना तथा छाया का प्रकाशन करना इसके कर्म हैं।

त्वक्स्थं भ्राजकं भ्राजनात्त्वचः।। अ० हृ० सू० 12/14

त्वचा में रहकर शरीर की प्रभा को प्रकाशित करने वाले पित्त को भ्राजक पित्त कहते हैं।

★ ★ ★

भ्राजक शब्द की निरुक्ति दीप्ति [प्रभा] अर्थ वाली भ्राज [जृ] धातु से है।

संहिता ग्रन्थों के उपरोक्त उद्धरणों से प्रकट है कि भ्राजक पित्त त्वचा में स्थित होकर [1] शरीर में ऊष्मा का नियमन— [चरक] [2] शरीर पर अभ्यंगादि में प्रयुक्त होने वाले तैल आदि द्रव्यों के अवशोषित हो जाने पर उनका पाचन— [सुश्रुत] तथा [3] शरीर की प्रभा, छाया आदि का प्रकाशन— [सुश्रुत तथा वाग्भट्ट] का कार्य करता है।

वैसे तो समस्त शरीर पित्त का कार्यक्षेत्र है परन्तु अग्नि कर्म की विशेषता के कारण कुछ स्थान प्रमुख हैं, उन्हीं का विशेष वर्णन पञ्च पित्त के अन्तर्गत आचार्यों ने किया है। रंजक पित्त मन्द अग्नि कर्म है। इसमें ऑक्सीजन की अति अल्प

आवश्यकता होती है। साधक पित्त के रूप में अग्निकर्म मानसिक क्रियाओं का साधन है। आलोचक पित्त के रूप में अग्निकर्म दृष्टि ज्ञान का दाता है। इसी प्रकार भ्राजक पित्त विकिरण द्वारा न केवल शारीरिक ऊष्मा पर नियन्त्रण रखता है वरन् वर्ण का प्रकाशन भी करता है।

त्वचा के अतिरिक्त शरीर के अन्य अंगों में ऊष्मा का नियमन उस स्थान विशेष की चयापचयजन्य आवश्यकताओं पर आश्रित होता है। यदि वह अंग अधिक कार्यशील होता है तो उसको ऑक्सीजन की आवश्यकता अधिक होती है और वहां अग्निकर्म प्रबल होता है। परन्तु शरीर में त्वचा ही ऐसा भाग है जहां ऊष्मा का नियमन तथा रक्तपरिसंचरण उसकी अपनी आवश्यकता के अनुरूप न होकर समस्त शरीर में उत्पन्न ऊष्मा की मात्रा के ऊपर आधारित होता है। त्वचा में ऊष्मा का नियन्त्रण तथा रक्तपरिसंचरण का नियन्त्रण मस्तिष्क के अधश्चेतक (hypothalamus) में स्थित ऊष्मा नियमन केन्द्र (temperature regulating centre) द्वारा होता है। शरीर में ऊष्मा की वृद्धि हो जाने पर यह केन्द्र अधिक क्रियाशील हो जाता है। जिससे 'त्वक् रक्तपरिसंचरण' बढ़ जाता है तथा त्वचा द्वारा शरीर से अधिक ऊष्मा का निष्कासन होने लगता है। तीव्र ज्वर में त्वचा की लालिमा का यही कारण है।

शरीर की ऊष्मा का 60 प्रतिशत त्वचा से विकिरण (radiation) द्वारा, 15 प्रतिशत संवहन (convection) द्वारा तथा 25 प्रतिशत स्वेदादि के रूप में त्वचा से तथा श्वसन क्रिया द्वारा जलवाष्प के रूप में फुफ्फुसों से निष्कासन होता है। शरीर की ऊष्मा को उचित् मात्रा में बनाए रखने में इस प्रकार त्वचा का अति प्रमुख भाग है।

ऊष्मा का सबसे अधिक निष्कासन विकिरण द्वारा होता है और ऐसा प्रत्येक मनुष्य में होता है। अतः कोई भी मनुष्य प्रभा तथा छाया से रहित नहीं है।

नाच्छायी नाप्रभः कश्चिद्विशेषाश्चिन्हयन्ति तु।
नृणां शुभाशुभोत्पत्ति-काले छायाः प्रभाश्रयाः।। च० इ० 7/16

कोई भी मनुष्य छाया तथा प्रभा से रहित नहीं है। समय विशेष पर छाया तथा प्रभा के आश्रित भेद ही शुभ (निरोग) तथा अशुभ (रोग) की स्थिति को प्रकट करते हैं।

छाया तथा प्रभा में अन्तर— छाया वर्ण पर छा जाती है तथा प्रभा वर्ण को प्रकाशित करती है। छाया निकट से दिखाई पड़ती है और प्रभा दूर से प्रकाशित होती है।

वर्णमाक्रामति च्छाया भास्तु वर्णप्रकाशिनी।
आसन्ना लक्ष्यते छाया भाः प्रकृष्टा प्रकाशते।। च० इ० 7/15

वर्णमाक्रामति च्छाया प्रभा वर्णप्रकाशिनी।
आसन्ने लक्ष्यते छाया विकृष्टे भाः प्रकाशते।। अ० हृ० शा० 5/51

छाया वर्ण पर छा जाती है तथा प्रभा वर्ण को प्रकाशित करती है। छाया पास से दिखाई देती है प्रभा दूर से प्रकाशित होती है (कारण प्रभा तेज से उत्पन्न होती है तथा छाया पंचभूतात्मक है)।

छाया तथा प्रतिच्छाया में अन्तर— जल, दर्पण आदि में जो छाया दिखाई देती है वह प्रतिच्छाया (प्रतिबिम्ब) कहलाती है।

प्रतिप्रमाण— संस्थाना जलादर्शातपादिषु।
छाया या सा प्रतिच्छाया छाया वर्णप्रभाश्रया।। च० इ० 7/8

देह के प्रमाण, आकृति के अनुसार जल, दर्पण, धूप में जो छाया पड़ती है वह प्रतिच्छाया (image) कहलाती है। छाया शरीरगत वर्ण तथा प्रभा पर आश्रित होती है।

आतपाऽदर्शतोयादौ या संस्थानप्रमाणतः।
छायाऽङ्गात्संभवत्युक्ता प्रतिच्छायेति सा पुनः।।
वर्णप्रभाश्रया या तु सा छायैव शरीरगा। अ० हृ० शा० 5/42,43

शरीर की जो छाया, धूप, दर्पण, जल आदि में संस्थान और प्रमाण के अनुसार होती है उसको प्रतिच्छाया कहते हैं एवं जो छाया शरीर के वर्ण और प्रभा के आश्रय शरीर में होती है उसे छाया कहते हैं।

छाया के प्रकार

खादीनां पञ्च पञ्चानां छाया विविधलक्षणाः।

च० इ० 7/9,अ० हृ० शा० 5/46

(1) आकाश, (2) वायु, (3) तेज, (4) जल तथा (5) पृथ्वी इन पांचों महाभूतों की पृथक्–पृथक् लक्षणों वाली छायायें होती हैं। अर्थात् छायायें पांच प्रकार की होती हैं।

(1) नाभसी छाया—

नाभसी निर्मला नीला सस्नेहा सप्रभेव च।

च० इ० 7/9,अ० हृ० शा० 5/46

नाभसी (आकाशीय) छाया निर्मल, नील वर्ण की, स्निग्ध तथा प्रभा (कांति) युक्त होती है।

(2) वायवी छाया—

रूक्षा श्यावाऽरुणा या तु वायवी सा हतप्रभा। च० इ० 7/10

वायवी छाया रूक्ष, श्याव या अरुण वर्ण की कान्तिहीन होती है।

वातादोजोऽरुणा श्यावा भस्मरूक्षा हृतप्रभा।।

अ० हृ० शा० 5/47

वायवी छाया अरुण या श्याव वर्ण की भस्म के समान रूक्ष तथा कान्तिहीन होती है।

3. आग्नेयी छाया–

विशुद्धा रक्ता त्वाग्नेयी दीप्ताभा दर्शनप्रिया।।

च० इ० 7/10, अ० हृ० शा० 5/47

आग्नेयी छाया विशुद्ध रक्त वर्ण के समान चमकदार, आभायुक्त तथा देखने में प्रिय लगने वाली होती है।

4. जलीय छाया–

शुद्धा वैदूर्यविमला सुस्निग्धा चाम्भसी मता।। च० इ० 7/11

जलीय छाया शुद्ध वैदूर्य मणि के समान आभावाली तथा अत्यन्त स्निग्ध होती है।

शुद्धा वैदूर्यविमला सुस्निग्धा तोयजा सुखा।।

अ० हृ० शा० 5/48

शुद्ध वैदूर्य मणि के समान निर्मल, स्निग्ध, सुखदायक छाया जलीय होती है।

5. पार्थिवी छाया–

स्थिरा स्निग्धा घना श्लक्ष्णा श्यामा श्वेता च पार्थिवी।।

च० इ० 7/11

पार्थिवी छाया स्थिर, स्निग्ध, घनी, चिकनी, श्याम तथा श्वेत वर्ण की होती है।

स्थिरा स्निग्धा घना शुद्धा श्यामा श्वेता च पार्थिवी।।

अ० हृ० शा० 5/48

पार्थिवी छाया स्थिर, स्निग्ध, घनी, शुद्ध श्याम एवं श्वेत वर्ण की होती है।

★ ★ ★

वायवी गर्हिता त्वासां चतस्रः स्युः शुभोदयाः।
वायवी तु विनाशाय क्लेशाय महतेऽपि वा।। च० इ० 7/12

उपरोक्त पांचों प्रकार की छायाओं में वायवी छाया निन्दित है, शेष छायायें शुभ फलदायक होती हैं। वायवी छाया मृत्यु अथवा महाक्लेश का कारण है।

वायवी रोगमरणक्लेशायान्याः सुखोदयाः।। अ० हृ० शा० 5/49

वायवी छाया रोग, क्लेश अथवा मरण का कारण है। शेष चारों प्रकार की छायायें सुख देने वाली होती हैं।

प्रभा की उत्पत्ति तथा प्रकार–

स्यात्तैजसी प्रभा सर्वा सा तु सप्तविधा स्मृता।
रक्ता पीता सिता श्यावा हरिता पाण्डुराऽसिता।। च० इ० 7/13
प्रभोक्ता तैजसी सर्वा, सा तु सप्तविधाः स्मृता।
रक्ता पीता सिता श्यावा हरिता पाण्डुराऽसिता।।

अ० हृ० शा० 5/50

सब प्रभायें तेज से उत्पन्न होती हैं तथा सात प्रकार की – (1) रक्ता (लाल), (2) पीली, (3) श्वेत, (4) श्याम, (5) हरित, (6) पाण्डुर (ईषत्पीत) तथा (7) असित (काली) होती है।

तासां याः स्युर्विकासिन्यः स्निग्धाश्च विमलाश्च याः।
ता शुभा रूक्षमलिनाः संक्षिप्ताश्चाशुभोदयाः।। च० इ० 7/14
तासां याः स्युर्विकासिन्यः स्निग्धाश्च विमलाश्च याः।
ता शुभा मलिना रूक्षाः संक्षिप्ताश्चाशुभोदयाः।।

अ० हृ० शा० 5/50

इन सातों प्रकार की प्रभाओं में खिली हुई (प्रकाशयुक्त), स्निग्ध व निर्मल प्रभा शुभ होती है तथा रूक्ष, मलिन तथा छोटी अशुभ फल देने वाली होती है। चरक संहिता की कुछ प्रतियों में 'विमलाश्च' के स्थान पर 'विपुलाश्च' पाठान्तर है। इस दिशा में 'निर्मल' के स्थान पर 'विस्तृत' अर्थ हो जाएगा।

स्वस्थ जीवित व्यक्तिविशेष की अपनी प्रभा होती है। यह त्वचा के रक्त परिसंचरण की मात्रा तथा वर्ण पर निर्भर करती है तथा विकिरण द्वारा प्रकाशित होती है। त्वचा के बाह्य स्तर द्वारा ऊष्मा का विकिरण होता है। सुश्रुत तथा वाग्भट्ट संहिताओं में इस स्तर का नाम इसी कारण अवभासिनी कहा है।

सप्त त्वचो भवन्ति। तासां प्रथमाऽवभासिनी नाम, या सर्ववर्णानवभासयति पंचविधां च छायां प्रकाशयति।। सु० शा० 4/3

सात त्वचायें होती हैं सबसे पहली– सबसे ऊपर की– अवभासिनी नामक त्वचा है जो सब वर्णों को प्रकट करती है तथा पांचों प्रकार की छाया को प्रकाशित करती है।

आधुनिक त्वक्–स्तर वर्गीकरण के अनुसार बाह्य त्वचा (epidermis) का सबसे भीतरी स्तर वर्णस्तर (malpighian layer, ताम्रा–सुश्रुत) कहलाता है। इस स्तर की कोशिकाओं में वर्णक कण (pigments) होते हैं जिन्हें मेलेनिन (melanin) कहते हैं। इन कणों का वर्ण काला होता है। त्वचा के इस स्तर में इनकी संख्या जितनी अधिक होगी वर्ण उतना ही अधिक श्यामल होता चला जाएगा। सूर्य प्रकाश इनकी उत्पत्ति में सहायक होता है। अतः गर्म देश के निवासी श्यामल वर्ण के होते हैं। यदि त्वचा के इस स्तर में इस वर्णक का अभाव

होता है तो त्वचा का वर्ण श्वेत हो जाता है। भारत में ऐसे व्यक्ति को 'सूर्यमुखी' कहते हैं। मेलेनिन की उत्पत्ति जाति तथा देश पर भी निर्भर करती है। नीग्रो जाति के व्यक्तियों में इसकी मात्रा सबसे अधिक होती है तथा उत्तर यूरोप के निवासियों में कम। वर्णक स्तर के बाहर की ओर, बाह्य त्वचा के अन्य तीनों स्तर पारदर्शक हैं अतः अवभासिनी द्वारा वर्ण प्रकट होता है। जाति विशेष के कारण वर्ण कैसा ही क्यों न हो यदि शरीर स्वस्थ होगा तो प्रभा प्रकाशयुक्त, स्निग्ध तथा निर्मल होती है।

जल तथा जल में घुले हुए पदार्थों का त्वचा द्वारा अवशोषण नहीं होता है परन्तु मेदस् द्रव्यों तथा तैल अथवा घृत में घुलित पदार्थों का अभ्यंग (मालिस), अवगाहन (सिद्ध तैल आदि के टब में बैठना), लेपन आदि द्वारा कुछ मात्रा में त्वचा द्वारा अवशोषण हो जाता है। इस अवशोषित अंश का भ्राजक पित्त द्वारा पाचन होता है।

पाचक पित्त

पक्ति............ पित्तकर्माविकारजम्।

पचाना अविकृत पित्त का कर्म है।

तच्चादृष्टहेतुकेन विशेषेण पक्वामाशयमध्यस्थं पित्तं चतुर्विधमन्नपानं पचति, विवेचयति च दोषरसमूत्रपुरीषाणि तत्रस्थमेव चात्मशक्त्या शेषाणां पित्तस्थानानां शरीरस्य चाग्निकर्मणाऽनुग्रहं करोति, तस्मिन् पित्ते पाचकोऽग्निरिति संज्ञा। सु सू० 21/9

पक्वाशय एवं आमाशय (आमाशय=ग्रहणी सहित क्षुद्रान्त्र जिसे नाभिक्षेत्र भी कहते हैं) के मध्य स्थित हुआ पाचक पित्त चारों प्रकार के अन्नपान (पान, अशन, भक्ष्य तथा लेह्य) को पचाता है तथा पचे हुए आहार से पाचन के समय उत्पन्न दोष तथा प्रसाद (रस) एवं मल (मूत्र तथा पुरीष) को पृथक्–पृथक् करता है। यहाँ पर स्थित पाचक पित्त शरीर में अन्य पित्त स्थानों में स्थित पित्त को अपनी शक्ति से अनुगृहीत करता है।

..............................पक्वामाशयमध्यगम्।
पंचभूतात्मकत्वेऽपि यत्तैजसगुणोदयात्।।
व्यक्तद्रवत्वं पाकादिकर्मणाऽनलशब्दितम्।
पचत्यन्नं विभजते सारकिट्टौ पृथक् तथा।।
तत्रस्थमेव पित्तानां शेषाणामप्यनुग्रहम्।
करोति बलदानेन पाचकं नाम तत्स्मृतम्।।

अ० हृ० सू० 12/10-12

पक्वाशय तथा आमाशय के मध्य का पित्त पंचभूतात्मक होता हुआ भी तेजस् गुण की प्रधानता के कारण तथा द्रवत्व होने से और पाचन आदि कर्म के कारण पाचक पित्त कहलाता है।

यह पाचक पित्त आहार का पाचन कर उसके सार भाग तथा मल भाग को पृथक्–पृथक् करता है। अपने स्थान पर रहता हुआ अन्य स्थानों पर स्थित पित्तों को बल प्रदान कर अनुग्रह करता रहता है।

इससे पाचक पित्त की अन्य पित्तों से श्रेष्ठता प्रकट होती है। यदि आहार का पाक उचित प्रकार से नहीं होता हो तो शरीर में अन्य धातु आदि में होने वाली पाक क्रियाओं में तथा दूसरे चारों पितों के कार्यों में विकृति आ जाती है।

अन्नस्य पक्ता सर्वेषां पक्तृणामधिपो मतः।
तन्मूलास्ते हि तद्वृद्धिक्षयवृद्धिक्षयात्मकाः।। च० चि० **15/38**

अन्य अग्नियों (पांच भूताग्नि तथा सात धात्वग्नियों) में पाचक अग्नि प्रधान है। इसी अग्नि पर भूताग्नियां तथा धात्वग्नियां निर्भर हैं। पाचकाग्नि की वृद्धि होने पर अन्य अग्नियों की वृद्धि तथा पाचकाग्नि के क्षीण होने पर अन्य अग्नियों का क्षय होता है।

तस्मात्तं विधिवद्युक्तैरन्नपानेन्धनैर्हितैः।
पालयेत् प्रयतस्तस्य स्थितौ ह्यायुर्बलस्थितिः।। च० चि० **15/39**

अतः विधिपूर्वक किए गए हितकारी अन्नपान के पाचन के लिए प्रयत्नशील होकर पाचकाग्नि की रक्षा करनी चाहिए। इस पाचकाग्नि की सम्यक् स्थिति पर आयु और बल निर्भर है।

उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट है कि पाचन पित्त के कार्य हैं– (1) आहार का समुचित पाक करना, (2) आहार के पाक अंश के सार भाग का अवशोषण होने देना तथा मल भाग को पृथक् करना। (3) पाचन पित्त की अपनी क्रिया ठीक प्रकार से है तो शरीर की अन्य समस्त पित्त क्रियायें भी ठीक प्रकार से होती रहती हैं। अतः अपने स्थान पर रहते हुए अपनी शक्ति से शेष पित्तक्रियाओं पर अनुग्रह करना अर्थात् समस्त शरीर में अपचयक्रियाओं का सम्यक् प्रकार से होते रहना। (4) इस प्रकार आयु और बल को बनाए रखना।

प्रतिक्षण शरीर के क्रियाशील रहने के कारण उसकी धातुओं का क्षय होता रहता है। इस क्षय की पूर्ति तथा वृद्धि के लिए निरन्तर पोषण तत्त्वों की आवश्यकता बनी रहती है। इसकी पूर्ति खाये गए आहार द्रव्यों से होती है। आहार द्रव्यों का पाचकाग्नि द्वारा पाक हो जाने के पश्चात्

ही शरीर उनका उपभोग कर सकता है। हितकर तथा समुचित मात्रा में तथा उचित काल में ग्रहण किया हुआ आहार पाचन के पश्चात् अन्न रस में परिवर्तित हो जाता है तथा पुरीष, मलस्वरूप, पृथक् हो जाता है। इस अन्नरस से शरीर की अन्य समस्त धातुओं का निर्माण, वृद्धि तथा क्षय–पूर्ति होती है। यदि पाचकाग्नि में विकृति आ जाती है तो विकृत रस का निर्माण होता है और समस्त शारीरिक धातुयें शनैः शनैः विकृत हो जाती हैं। इसलिए पाचकाग्नि का कार्य समस्त शारीरिक अग्नियों में प्रधान कहा गया है। इस पर ही अन्य अग्नियां (पाक क्रियायें– अपचय क्रियायें) आश्रित हैं और आयु, बल, वर्ण, उत्साह, कान्ति, ओज, तेज तथा प्राण बने रहते हैं।

आयुर्वर्णो बलं स्वास्थ्यमुत्साहोपचयौ प्रभा।
ओजस्तेजोऽग्नयः प्राणाश्चोक्ता देहाग्निहेतुकाः।।

च० चि० 15/2

आयु, वर्ण, बल, स्वास्थ्य, उत्साह, पुष्टि, प्रभा, ओज, तेज व अन्य अग्नियां तथा प्राण (जीवनीय शक्ति) इन सब की स्थिति का देहाग्नि (पाचकाग्नि, कायाग्नि, जठराग्नि) ही कारण है। अर्थात् यदि पाचकाग्नि ठीक है तो शरीर की अन्य क्रियायें भी ठीक प्रकार सम्पन्न होती हैं।

शान्तेऽग्नौ म्रियते, युक्ते चिरं जीवत्यनामयः।
रोगी स्याद्विकृते मूलमग्निस्तस्मान्निरुच्यते।। च० चि० 15/3

अग्नि (पाचकाग्नि) के शांत (समाप्त) होने पर मनुष्य की मृत्यु हो जाती है। यदि पाचकाग्नि स्वस्थ है समभाव से अवस्थित है तो मनुष्य नीरोग एवं चिरायु रहता है तथा यदि वह अग्नि विकृत (मन्द, तीक्ष्ण अथवा विषम) है तो मनुष्य रोगी हो जाता है। इसलिए पाचकाग्नि को रोगरहित (स्वस्थ) जीवन का मूल कहा जाता है।

यदन्ने देहधात्वोजोबलवर्णादिपोषकम्।
तत्राग्निर्हेतुराहारान्न ह्यपक्वाद्रसादयः।। च० चि० 15/2

यद्यपि शरीर के धातु, ओज, बल, वर्ण आदि का पोषक अन्न है परन्तु अपने इन कर्मों के लिए पाचकाग्नि पर आश्रित है क्योंकि अपक्व आहार से रस, रक्तादि धातुओं की उत्पत्ति नहीं होती है। पाचकाग्नि के द्वारा परिपक्व आहार से ही इन धातुओं की उत्पत्ति सम्भव है।

–X–

7

आहार पाक

आहार्यते गलादधोनीयत अत्याहारः।

जिस द्रव्य का निगरण होता है अर्थात् निगला जाता है वह आहार कहलाता है।

भिन्न–भिन्न प्रकार के खाने–पीने के द्रव्यों में निगलने की क्रिया समान होने के कारण सबको आहार कहते हैं।

आहारत्वमाहारस्यैकविधम्। च० सू० 25/35

सम्पूर्ण आहार में आहारता एक ही प्रकार की होती है।

अर्थाभेदात्, स पुनर्द्वियोनिः, स्थावरजंगमात्मकत्वात्।
द्विविधप्रभावो हिताहितोदर्कविशेषात्।
चतुर्विधोपयोगः, पानाशनभक्ष्यलेह्योपयोगात्।
षडास्वादः रसभेदतः षड्विधत्वात्।
विंशतिगुणः— गुरुलघुशीतोष्णस्निग्धरूक्षमन्दतीक्ष्णस्थिरसरमृदु–कठिनविशदपिच्छिलश्लक्ष्णखरसूक्ष्मस्थूलसान्द्रद्रवानुगमनात्।
अपरिसंख्येयविकल्पः, द्रव्यसंयोगकरणबाहुल्यात्।।

च० सू० 25/35

(अ) आहार द्रव्यों की दो योनि हैं अर्थात् प्राप्तिस्थान भेद से दो प्रकार के होते हैं। (1) स्थावर (वृक्ष आदि) तथा (2) जंगम (पशु आदि)।

(ब) प्रभाव भेद से भी आहार द्रव्य दो प्रकार के होते हैं–

(1) हितकर प्रभाव वाले द्रव्य तथा

(2) अहितकर प्रभाव वाले द्रव्य।

(स) उपभोग भेद से आहार द्रव्य चार प्रकार के होते हैं–

(1) पान (पीने योग्य), (2) अशन (कोमल परन्तु चबाकर निगलने योग्य), (3) भक्ष्य (कठोर भलीभांति चबाकर निगलने योग्य) तथा (4) लेह्य (चाटने योग्य)। इन भेदों से आहार द्रव्यों का चार प्रकार से उपयोग होता है।

षडेव रसाः— मधुराम्ललवणकटुतिक्तकषायाः।। च० सू० 26/16

[1] मधुर, [2] अम्ल, [3] लवण, [4] कटु, [5] तिक्त और [6] कषाय।

[क] गुणों के अनुसार आहार द्रव्य निम्न वर्णित 20 गुणों में अनेक गुणयुक्त होते हैं।

[1] गुरु अथवा [2] लघु, [3] शीत अथवा [4] उष्ण, [5] स्निग्ध अथवा [6] रूक्ष, [7] मन्द अथवा [8] तीक्ष्ण, [9] स्थिर अथवा [10] सर, [11] मृदु अथवा

[12] कठोर, [13] विशद अथवा [14] पिच्छिल [चिपचिपा], [15] श्लक्ष्ण [चिकना] अथवा [16] खर [खुरदरा], [17] सूक्ष्म अथवा [18] स्थूल, [19] सान्द्र [गाढ़ा] अथवा [20] द्रव [पतला] इन गुणों की भिन्नता के कारण आहार बीस प्रकार का होता है।

(ख) आहार द्रव्यों के अगणित संयोग तथा संस्कारों के कारण असंख्य विकल्प [भेदों] वाले होते हैं।

जिस प्रकार यह भौतिक शरीर पंचभूत विकार समुदाय से उत्पन्न है उसी प्रकार शरीर पोषक आहार द्रव्य भी पंचभूत विकार समुदाय से उत्पन्न है। इस प्रकार संसार के सम्पूर्ण द्रव्य पाञ्चभौतिक हैं।

सर्वं द्रव्यं पाञ्चभौतिकम्।। च० सू० 26/25

इन द्रव्यों की उत्पत्ति में पृथिवी उनका आयश्रयभूत अधिष्ठान है। पृथिवी का विशेष गुण गुरुत्व है। अतः समस्त द्रव्यों में गुरुत्व अवश्य होता है। जल पार्थिव अणुओं को परस्पर अनुबन्धित रखता है, अग्नि अपने अग्निकर्म द्वारा काठिन्य तथा रूप प्रदान करता है, वायु उनमें क्रिया उत्पन्न करता है तथा आकाश उन पार्थिव अणुओं के बीच अवकाश देने वाला होता है। इस प्रकार प्रत्येक द्रव्य में पाँचों महाभूतों का अंश होता है परन्तु जिस महाभूत के अंश की अधिकता होती है वह द्रव्य उसी वर्ग में माना जाता है। यथा पार्थिव, आप्य, तैजस्, वायव्य तथा नाभस द्रव्य।

समस्त भौतिक द्रव्यों को निम्न वर्णित दो वर्गों में विभाजित किया जाता है–
[1] कार्बनिक [Organic सेन्द्रिय, जैव] द्रव्य।

[2] अकार्बनिक [Inorganic, निरिन्द्रय, अजैव] द्रव्य।

कार्बनिक द्रव्य उन्हें कहते हैं जिनकी उत्पत्ति किसी जीव अथवा वनस्पति से होती है यथा मधु, दूध, मांस, फल, शाकादि। समस्त जंगम एवं औद्भिद् द्रव्य इसी वर्ग के हैं।

अकार्बनिक द्रव्य उन्हें कहते हैं जिनकी उत्पत्ति जीव अथवा वनस्पति से नहीं है यथा लोह, स्वर्ण, कैल्शियम आदि। समस्त पार्थिव [खनिज] द्रव्य इसी वर्ग के हैं।

कार्बनिक तथा अकार्बनिक द्रव्य भी रस [स्वाद] भेद से 6 प्रकार के होते हैं–

[1] मधुर, [2] अम्ल, [3] लवण, [4] कटु, [5] तिक्त तथा [6] कषाय। पदार्थ का रस किस प्रकार प्रकट होता है इसके लिए कहा गया है कि जल से रस की उत्पत्ति होती है।

'तस्मादाप्यो रसः।' [सु० सू० 42/2]

अन्तरिक्ष का जल सौम्य, शीत, लघु तथा अव्यक्त रस वाला होता है। जब यह जल भूमि पर गिरकर भूमिस्थ पञ्चमहाभूत विकारों अर्थात् जंगम एवं स्थावर शरीरों से समन्वित होता है तो उन स्थावर जंगम द्रव्यों में मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त तथा कषाय रस उत्पन्न करता है। [सु० सू० 42/2]

किन–किन महाभूतों से समन्वित होकर कौन–कौन रस उत्पन्न होते हैं इस सम्बन्ध में सु० सू० 42/4, 5 में कहा गया है कि–

1. पृथ्वी और जल के गुणों की अधिकता से मधुर रस उत्पन्न होता है।
2. पृथ्वी और अग्नि के गुणों की अधिकता से अम्ल रस उत्पन्न होता है।
3. जल और अग्नि के गुणों की अधिकता से लवण रस उत्पन्न होता है।
4. **वायु और** अग्नि के गुणों की अधिकता से कटु रस उत्पन्न होता है।
5. पृथ्वी और आकाश के गुणों की अधिकता से तिक्त रस उत्पन्न होता है।
6. पृथ्वी और वायु के गुणों की अधिकता से कषाय रस उत्पन्न होता है।

इनमें मधुर, अम्ल और लवण वात नाशक होते हैं।

तथा कटु, तिक्त और कषाय रस श्लेष्मा [कफ] नाशक होते हैं।

मधुर वर्ग के द्रव्य– दूध, घृत, वसा, मज्जा, चावल, गेहूं, जौ, उड़द, सिंघाड़े, कसेरु, खीरा, ककड़ी, खरबूजा, पियाल, कमलबीज, खजूर, द्राक्षा, नारियल, ईख, पेठा आदि मधुर वर्ग के द्रव्य हैं।

अम्ल वर्ग के द्रव्य– अनार, आंवला, नीम्बू, करौंदा, इमली, छोटे बेर, दही, छाछ, कांजी आदि अम्ल वर्ग के द्रव्य हैं।

लवण वर्ग के द्रव्य– विभिन्न प्रकार के लवण तथा सैंधव, विड, काला नमक, सांभर आदि लवण वर्ग के द्रव्य हैं।

कटु वर्ग के द्रव्य– मूली, सहिंजना [शिग्रु], तुलसी, लशुन आदि कटु वर्ग के द्रव्य हैं।

तेष्वाश्रयेषु द्रव्यसंज्ञकेषु गुणा गुरुलघुशीतोष्णस्निग्धरूक्षाद्याः।।

च० सू० 26/21

उपरोक्त वर्णित द्रव्यों में गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष आदि गुण आश्रित रहते हैं। गुणों का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता है। ये द्रव्यों के आश्रय से ही रहते हैं। शरीर धातुओं (द्रव्य) में तथा आहार द्रव्यों में ये गुण एक ही प्रकार से आश्रित रहते हैं। इसलिए आहार द्रव्य में उपस्थित गुणों से शरीर की रस, रक्त आदि धातुओं

में उन गुणों की वृद्धि होती है।

हितकर आहार–

जिस आहार से शरीरगत धातुओं की अपने स्वाभाविक प्रमाण में वृद्धि होती है उस आहार को स्वस्थहित अर्थात् स्वास्थ्य तथा आरोग्य की वृद्धि करने वाला हितकर आहार कहते हैं।

हितकर आहार का उपयोग पुरुष में शारीरिक वृद्धि का कारण है तथा अहितकर आहार का उपयोग रोगों की वृद्धि का कारण है। चू० सू० 25/30

हितकर आहार से ही शरीर की वृद्धि, बल, आरोग्य, वर्ण और इन्द्रियों की प्रसन्नता होती है तथा आहार की विषमता (अहितकर आहार, न्यून अथवा अधिक आहार) से रोग उत्पन्न होता है। सु० सू० 46/3

आहार द्रव्य रसप्रधान द्रव्य हैं अतः इनके सेवन से शरीर के समस्त अंगों की समप्रमाण में वृद्धि होती है। औषध द्रव्य वीर्यप्रधान द्रव्य हैं अतः शरीर में शमन अथवा कोपन करते हैं। शमन द्रव्य शरीर में बढ़े हुए दोषों एवं धातुओं को क्षीण करते हैं जिससे मनुष्य का स्वास्थ्य ठीक बना रहे तथा कोपन द्रव्य क्षीण दोषों एवं धातुओं की वृद्धि करके स्वास्थ्य प्रदान करते हैं।

आहार मात्रा–

भोजन करते समय मनुष्य को कुक्षि [आमाशय] के खाली स्थान को तीन प्रकार से रखना चाहिए। एक भाग को मूर्त अर्थात् ठोस आहार द्रव्यों के लिए, एक भाग को द्रवों (तरल पदार्थों) के लिए तथा एक भाग को वात–पित्त–कफ के लिए खाली स्थान रखना चाहिए। आहार की मात्रा का इस प्रकार उपयोग करने से किसी प्रकार का अहित नहीं होता है। च० वि० 2/2

आचार्य वाग्भट्ट के अनुसार भोजन करते समय कुक्षि के दो भाग अन्न से (ठोस आहार पदार्थों से) एक भाग जल से (तरल पदार्थों से) भरना चाहिए। चौथा भाग वातादिकों के संचार के लिए खाली छोड़ देना चाहिए।

अ० हृ० सू० 8/46

यदि वातादि के लिए स्थान नहीं रखा जायेगा तो भोजन का पाचन ठीक प्रकार से नहीं होगा।

राशि (मात्रा) की दृष्टि से आहार दो प्रकार का होता है– [1] मात्रायुक्त अर्थात् उचित मात्रा में होना अथवा [2] उचित मात्रायुक्त नहीं होना।

अमात्रावत्त्वं पुनर्द्विविधमाचक्षते– हीनम् अधिकं च।।

च० वि० 2/6

आहार उचित मात्रा में न होना भी दो प्रकार का होता है–

[1] हीनमात्रा– उचित मात्रा से कम होना तथा

[2] अतिमात्रा– उचित मात्रा से अधिक होना।

उचित मात्रा में सेवन किए गए आहार के लक्षण—

मात्रायुक्त (उचित मात्रा में किए गए) आहार के लक्षण हैं—

(1) कुक्षि [उदर, आमाशय] पर किसी प्रकार का दबाव नहीं पड़ता है। (2) हृदय के कार्यों में किसी प्रकार का अवरोध नहीं होता है। (3) पार्श्वों में ऐसा प्रतीत नहीं होता है कि वे अन्न भार से फटे जा रहे हैं। [4] उदर में भारीपन नहीं होता है। [5] इन्द्रियां प्रसन्न होती हैं। [6] भूख और प्यास को शान्ति मिलती है। [7] ठहरने, बैठने, सोने, चलने, श्वास लेने तथा श्वास छोड़ने, हंसने तथा बोलने में सुख की अनुभूति होती है। [8] प्रातःकाल के किए हुए भोजन का सांयकाल तक तथा सांयकाल के किए हुए भोजन का प्रातःकाल तक पाक हो जाता है। [9] बल, वर्ण तथा शरीर की पुष्टि होती है। च० वि 2/5

उचित मात्रा में खाया हुआ भोजन प्रकृति का उपघात न करके उपभोक्ता को बल, वर्ण, सुख तथा आयु से अवश्य युक्त करता है। च० सू० 5/5

आचार्य वाग्भट्ट के मत से जो आहार उचित समय में सुखपूर्वक पच जाए और किसी प्रकार का विकार उत्पन्न न करे वह मात्रा का यथार्थ प्रमाण जानना चाहिए। अ० हृ० सू० 8/2

हीनमात्रा में खाए गए आहार के लक्षण—

हीनमात्रा में किया गया भोजन [1] बल, वर्ण तथा पुष्टि (उपचय) को क्षीण करता है। [2] भोजन में तृप्ति नहीं होती। [3] उदावर्त रोग का कारण होता है। [4] वीर्य को क्षीण करता है। [5] आयु तथा भोजन के लिए अहितकर होता है। [6] शरीर, मन, बुद्धि और इन्द्रियों का घातक है। [7] आठों प्रकार के सारों का नाशक है। [8] अलक्ष्मी (दरिद्रता) को उत्पन्न करता है तथा [9] वात रोगों का कारण होता है।

च० वि० 2/6

हीनमात्रमसन्तोषं करोति च बलक्षयम्।। च० सू० 46/473

हीनमात्रा में सेवन किए गए भोजन से असन्तोष (अतृप्ति) होती है तथा बल का नाश होता है।

भोजनं हीनमात्रं तु न बलोपचयौजसे।
सर्वेषां वातरोगाणां हेतुतां च प्रपद्यते।। अ० हृ० सू० 8/3

हीनमात्रा में खाए गए भोजन से बल, शरीर की पुष्टि तथा ओज का क्षय होता है तथा वातजनित रोगों का कारण होता है।

अतिमात्रा में खाए गए आहार के लक्षण—

अतिमात्रं पुनः दोषप्रकोपणमिच्छन्ति सर्वकुशलाः।। च० वि० 2/7

कुशल चिकित्सक मात्रा से अधिक सेवन किए गए आहार को समस्त दोषों का प्रकोपक मानते हैं।

आलस्यगौरवाटोपसादांश्च कुरुतेऽधिकम्।। सु० सू० 46/473

मात्रा से अधिक सेवन किया गया भोजन आलस्य, भारीपन, पेट में गुड़–गुड़ शब्द तथा अवसाद उत्पन्न करता है।

अतिमात्रं पुनः सर्वानाशु दोषान् प्रकोपयेत्।। अ० हृ० सू० 8/4

अति मात्रा में किए गए भोजन से सब दोष शीघ्र प्रकुपित होते हैं।

अग्निबल–

भोजन की मात्रा अग्निबल की अपेक्षा **करती है।**

भोजन मात्रा से करना चाहिए परन्तु आहार मात्रा पाचकाग्नि के बल की अपेक्षा करती है। यदि पाचकाग्नि निर्बल है तो आहार मात्रा सामान्य से कम होती है तथा यदि पाचकाग्नि बलवान् है तो आहार मात्रा समान्य से अधिक होती है। जितनी मात्रा में खाया हुआ आहार प्रकृति का उपघात न करके यथासमय पच जाता है, उस व्यक्ति के लिए आहार की मात्रा का वह प्रमाण है। च० सू० 5/2

शरीर में 13 प्रकार की अग्नियां कार्य करती हैं।

5 भूताग्नियां, 7 धात्वग्नियां तथा एक पाचकाग्नि।

शरीर के बल भेद से पाचकाग्नि चार प्रकार की होती हैं।

(1) सम अग्नि, (2) विषम अग्नि, (3) तीक्ष्ण अग्नि तथा (4) मन्द अग्नि।

सम अग्नि– सम्यक् प्रकार से खाये हुए भोजन को ठीक प्रकार से पचा दे वह सम अग्नि है। इस समय तीनों दोष साम्य होते हैं। शारीरिक क्रियायें सम्यक् प्रकार से हो रही होती हैं। इसे सुश्रुत ने 'दोषानभिपन्न' अर्थात् सब दोषों की समानता के कारण सम पाचकाग्नि कहा है तथा शेष तीनों को 'विक्रियामापन्न' अर्थात् विकार युक्त पाचकाग्नि कहा गया है।

विषम अग्नि– जो अग्नि कभी–कभी अन्न का ठीक प्रकार से पाचन कर दे तथा कभी–कभी आध्मान (अफारा), पेट में शूल, मलावरोध, अतिसार, अन्न में भारीपन, अन्त्र में गुड़गुड़ाहट, कुन्थन आदि उत्पन्न करे वह विषम पाचकाग्नि कहलाती है। यह वात वृद्धि के कारण होती है।

तीक्ष्ण अग्नि– जो अग्नि मात्रा से अधिक सेवन किए गए अन्न को भी अत्यन्त शीघ्रता से पचाती है, वह तीक्ष्ण अग्नि होती है। पाचनक्रिया के पश्चात् गले, तालु, कोष्ठ में शुष्कता, दाह, सन्ताप उत्पन्न करती है। अधिक बढ़ जाने पर "अत्यग्नि" कहलाती है। यह पित्त की अधिकता के कारण होती है।

मन्द अग्नि– यथा विधि किये गये अल्प भोजन को जो नहीं पचा सके जिसके कारण उदर और सिर में भारीपन, खांसी, श्वास, हृल्लास, वमन, अंगों में अवसाद (थकान) आदि विकार उत्पन्न होते हैं, वह मन्दाग्नि है। यह कफ की अधिकता के कारण होती है।

विकृत अग्नियों में मन्दाग्नि सबसे अधिक मिलती है। भोजन के सम्यक् प्रकार से पाक न होने से यह आम दोषोत्पत्ति का कारण होती है।

आहारविधि विशेषायतन–

केवल उचित मात्रा में आहार का सेवन करने से ही हम उसका शुभ फल प्राप्त नहीं कर सकते हैं। पूर्ण शुभ फल प्राप्त करने के लिए आठों आहार विधि विशेषायतनों को भी ध्यान में रखना आवश्यक है।

च० वि० 2/3

आठ आहारविधि विशेषायतन हैं– (1) प्रकृति, (2) करण, (3) संयोग, (4) राशि, (5) देश, (6) काल, (7) उपयोग संस्था तथा (8) उपयोक्ता।

च० वि० 1/20

आहार का पूर्ण लाभ प्राप्त करने के लिए इन आठों को भी ध्यान में रखना आवश्यक है।

1. **प्रकृति**– आहार द्रव्यों में गुरु, लघु आदि स्वाभाविक गुण उत्पत्ति के साथ ही विद्यमान रहते हैं। उन सब गुणों का योग उस द्रव्य का स्वभाव अर्थात् प्रकृति है, यथा मूंग स्वभाव से लघु है तथा उड़द स्वभाव के गुरु है।

2. **करण**– द्रव्य के स्वाभाविक या पूर्व स्थित गुणों से भिन्न अन्य गुणों को द्रव्य में उत्पन्न करना संस्कार कहलाता है। इस संस्कार को ही करण कहते हैं। साफ करना, छीलना, धोना, अग्नि पर पकाना आदि संस्कारों के द्वारा द्रव्य में नवीन गुण उत्पन्न किए जाते हैं यथा कच्चा चावल गुरु होता है, उसे जल में डालकर अग्नि पर पकाने से पका हुआ चावल लघु हो जाता है।

3. **संयोग**– दो अथवा दो से अधिक द्रव्यों को एक साथ मिलाने को संयोग कहते हैं। संयोग से मिश्रित द्रव्यों में वे विशेष गुण उत्पन्न हो जाते हैं जो संयोग करने वाले पृथक्–पृथक् द्रव्यों में नहीं थे। उचित संयोग न होने से हानिकर गुण भी उत्पन्न हो जाते हैं यथा घी तथा मधु का सममात्रा में संयोग। घी विष नहीं है और मधु भी नहीं है परन्तु इन दोनों का सममात्रा में संयोग विषतुल्य होता है।

4. **राशि**– प्रमाण (मात्रा) को राशि कहते हैं। राशि पर विचार करते समय दो प्रकार से विचार किया जाता है। 1. सर्वग्रह, 2. परिग्रह।

सर्वग्रह– लिए जाने वाले सम्पूर्ण आहार द्रव्यों की राशि को एक साथ ग्रहण करना सर्वग्रह कहलाता है, यथा हमारे भोजन के विभिन्न द्रव्य मिलकर यदि राशि में आधा किलो हैं तब यह आधा किलो की मात्रा सर्वग्रह कहलाती है।

परिग्रह– आहार में उपस्थित प्रत्येक आहार द्रव्य की पृथक्–पृथक् राशि में ग्रहण करना परिग्रह कहलाता है। यथा हमारे भोजन के विभिन्न द्रव्यों में ¼ किलो रोटियां हैं। $^1/_8$ किलो चावल हैं तथा $^1/_8$ किलो दाल है। इस प्रकार परिमाण का ग्रहण परिग्रह राशि कहलाता है।

5. देश— देश का तात्पर्य स्थान से है। स्थान विशेष की जलवायु आदि का प्रभाव वहां पर उत्पन्न द्रव्यों पर पड़ता है यथा हिमालय पर उत्पन्न द्रव्य साधारणतया गुरु होते हैं तथा राजस्थान में उत्पन्न होने वाले द्रव्य लघु होते हैं। अतः हिमालय पर रहने वाले व्यक्तियों को उष्ण तथा रूक्षादि (विपरीत गुण वाले) द्रव्य सात्म्य होंगे और राजस्थान वालों के लिए शीत तथा स्निग्ध द्रव्य सात्म्य होंगे। अतः देश शब्द द्वारा द्रव्यों की उत्पत्ति, स्थान एवं उपयोग में साम्य दोनों का ग्रहण किया जाता है।

6. काल— काल दो प्रकार का होता है—

1. नित्यग तथा 2. आवस्थिक।

नित्यग काल— ऋतु सात्म्य की अपेक्षा रखता है। जिस ऋतु में पुरुष के लिए जो द्रव्य सात्म्य है वही हितकर है।

आवस्थिक काल— विकार की अपेक्षा रखता है। यथा नवज्वर में दूध हानिकारक है परन्तु जीर्णज्वर में लाभकर है। दूध का सेवन ज्वर की नव्यता तथा जीर्णता के विकार की अपेक्षा रखता है।

7. उपयोग संस्था— उपयोग के नियम को कहते हैं। यथा पहले खाये हुए आहार के पचने पर भोजन करने से आयु की वृद्धि होती है अथवा अजीर्ण पर किया गया भोजन त्रिदोष कोप का कारण होता है। ये उपयोग के नियम हैं जो प्रधानतः भोजन के पचने की अपेक्षा रखते हैं।

8. उपयोक्ता— कभी–कभी लगातार आहर विशेष के सेवन करते रहने से वह आहार सात्म्य हो जाता है। यथा सर्वथा दही का सेवन करने से व्यक्ति को वह ओक सात्म्य हो जाती है। भौतिक परिस्थितियों आदि के कारण किसी द्रव्य विशेष का सात्म्य होना आदि भाव उपभोक्ता से ग्रहण होते हैं। निरन्तर उपयोग होने से जो द्रव्य अनुकूल हो जाता है उसे सात्म्य कहते हैं।

कोष्ठ—

त्रयो रोगमार्गा इति— शाखा, मर्मास्थिसन्धयः कोष्ठश्च।।

च० सू० 11/51

शरीर में रोग के प्रवेश के तीन मार्ग हैं— [1] शाखा (त्वचा तथा रक्त आदि धातुयें) [2] मर्म, अस्थि, सन्धि तथा [3] कोष्ठ।

कोष्ठः पुनरुच्यते— महास्रोतः शरीरमध्यं महानिम्नमामपक्वाशयश्चेति पर्यायशब्दैस्तन्त्रे स रोगमार्ग आभ्यन्तरः। च० सू० 11/54

कोष्ठ का इस तन्त्र [आयुर्वेद] में महास्रोत [भोजन नलिका] शरीर मध्य [भोजन नलिका के शरीर मध्य स्थित होने के कारण], महानिम्न [भोजन नलिका का मुख नीचे की ओर होने के कारण], आम पक्वाशय [आमाशय व पक्वाशय]

इन पर्यायवाची शब्दों में कहा गया है। यह रोग का आभ्यन्तर (अन्दर का) मार्ग है। चिकित्सा में कोष्ठ का नाम महास्रोत (मुख से लेकर गुदा पर्यन्त भोजन नलिका) का है।

तत्र मृदु, क्रूरो, मध्यम इति त्रिविधः कोष्ठो भवति। तत्र बहुपित्तो मृदु, स दुग्धेनापि विरिच्यते। बहुवातश्लेष्मा क्रूरः, स दुर्विरेच्यः। समदोषो मध्यमः, स साधारण इति।। सु० चि० 33/21

कोष्ठ तीन प्रकार के होते हैं– (1) मृदु, (2) मध्यम तथा (3) क्रूर।

मृदु कोष्ठ– पित्त की अधिकता वाला कोष्ठ मृदु होता है। इसमें दूध से भी विरेचन हो जाता है। अर्थात् मृदु कोष्ठ वाला व्यक्ति सुख विरेच्य है, उसकी गर्म दूध से ही मल शुद्धि हो जाती है।

क्रूर कोष्ठ– वायु और कफ की अधिकता वाला कोष्ठ क्रूर कोष्ठ होता है। इस कोष्ठ वाले व्यक्ति को कठिनाई से विरेचन होता है।

मध्यम कोष्ठ– समान दोषों वाला कोष्ठ मध्यम कोष्ठ होता है। यह विरेचन में साधारण है।

आहार पाकक्रम

आहार गुणों का शरीर गुण भाव प्राप्त करना पाचन कहलाता है।

अन्नमादानकर्मा तु प्राणः कोष्ठं प्रकर्षति।
तद्द्रवैर्भिन्नसंघातं स्नेहेन मृदुतां गतम्।।
समानेनावधूतोऽग्निरुदर्यः पवनेन तु।
काले भुक्तं समं सम्यक् पचत्यायुर्विवृद्धये।। च० चि० 15/5,6

आदान कर्मवाला प्राणवायु (निगलने की क्रिया द्वारा अन्न को कोष्ठ में ले जाता है फिर (अन्न में उपस्थित तथा अन्नप्रणाली की भित्ति से उत्पन्न) द्रव पदार्थ उस अग्न के संधात (कड़ेपन) को छिन–भिन्न कर देते हैं एवं स्नेहन द्वारा वह अन्नसंघात मृदु हो जाता है (उचित) काल में समयोग (उचित संयोग तथा मात्रा) में खाए गए छिन्न–भिन्न और मृदु आहार को समान वायु द्वारा प्रज्वलित जठराग्नि (पाचक पित्त) आयु की वृद्धि के लिए सम्यक् प्रकार से पचाता है।

आहार के मुख में प्रविष्ट होने तथा जिह्वा आदि की सहायता प्राप्त कर दांतों द्वारा चबाए जाने के पश्चात् प्राणवायु द्वारा वह आमाशय में पहुंचता है। आहार में उपस्थित द्रवों द्वारा तथा मुख में उत्पन्न लालास्राव तथा अन्न प्रणाली भित्ति द्वारा निर्गत श्लेष्मा जलीयांश द्वारा भोजन का कड़ापन दूर हो जाता है। लालास्राव की श्लेष्मा, अन्नप्रणाली भित्ति द्वारा उत्पन्न श्लेष्मा तथा भोजन

के स्निग्ध अंश द्वारा वह आहार मृदु हो जाता है। इस अन्न क्लेदन में क्लेदक कफ हेतु है। इसके पश्चात् समान वायु द्वारा प्रेरित पाचकाग्नि उस भोजन पर अपनी क्रिया कर उसका पाचन करती है। भोजन पाचन में पांच मुख्य सहायक हैं। (1) पाचकाग्नि की क्रिया (विभिन्न एन्जाइमों की सहायता द्वारा) (2) समान वायु की क्रिया (तन्त्रिका कर्म-nervous mechanism) (3) क्लेदक कफ की क्रिया (अन्न प्रणाली में उत्पन्न क्लेदन तथा स्नेहन कर्म– humoral mucin, function) (4) काल (समय) (5) आहार समयोग (Proper combination and quantity of food)।

एवं रसमलायान्नमाशयस्थमधः स्थितः।
पचत्यग्निर्यथा स्थाल्यामोदनायाम्बुतण्डुलम्।। च० चि० 15/7

जिस प्रकार बर्तन में रखे हुए चावल और जल को नीचे से दी हुई अग्नि पका देती है उसी प्रकार पाचकाग्नि आमाशय (ग्रहणी क्षुद्रान्त्र) में स्थित अन्न को पचाकर रस [प्रसादांश] तथा मल [किट्टांश] में परिवर्तित करती है।

जिस प्रकार पतीली में चावल पकाने से पके हुए चावल (भात) तथा मांड भाग पृथक् हो जाता है उसी प्रकार पाचकाग्नि की क्रिया से आहार का पाक हो रस तथा मल भाग पृथक्–पृथक् हो जाते हैं।

अवस्थापाक–

अन्न प्रणाली [महास्रोतसः कोष्ठ] में आहार जब पहुंच जाता है, पाचनक्रिया आरम्भ हो जाती है। पाचनकाल में आहार द्रव्यों में जो परिवर्तन होते हैं वे तीन अवस्थाओं में से गुजरते हैं। पाचन की ये तीन अवस्थायें निम्न प्रकार हैं–

[1] मधुर अवस्था पाक [भुक्तमानावस्था, आमावस्था]
[2] अम्ल अवस्था पाक [पच्यमानावस्था, विदग्धावस्था]
[3] कटु अवस्था पाक [पक्वावस्था]

जैसे ही आहार द्रव्य मुख में पहुंचते हैं पाचकाग्नि का कार्य प्रारम्भ हो जाता है। मुख, ग्रहणी, क्षुद्रान्त्र में उपस्थित आहार द्रव्यों में मधुरता की मात्रा बढ़ जाती है। हमारे आहार द्रव्यों में सबसे प्रमुख तथा सबसे अधिक अंश मंड [स्टार्च-starch] द्रव्यों का होता है यथा रोटी, चावल आदि। आहार के इस स्टार्च तथा शर्करा भाग को कार्बोहाइड्रेट (carbohydrate) कहते हैं। पाचक रसों की इस अंश पर जब क्रिया होती है तो पाक होकर ग्लूकोज शर्करा की उत्पत्ति होती है। स्टार्च द्रव्यों पर सबसे पहले मुख से ही लालास्राव के द्वारा परिवर्तन होना प्रारम्भ हो जाता है। यह आहार–द्रव्यों की पाचन क्रिया द्वारा सबसे पहली परिवर्तित अवस्था 'प्रथम अवस्था पाक' अथवा 'मधुर अवस्था पाक' कहलाती है। इस समय कफ की वृद्धि होती है।

अन्नस्य भुक्तमात्रस्य षड्रसस्य प्रपाकतः।
मधुरात्प्राक् कफो भावात्फेनभूत उदीर्यते।। च० चि० 15/8

षड् रसों से युक्त खाये हुए अन्न के प्रथम पाक में पहले मधुर भाव उत्पन्न होता है तथा झाग के समान कफ उदीर्ण होता है।

कार्बोहाइड्रेट पर पाचक रसों की क्रिया के साथ ही आमाशय तथा ग्रहणी में प्रोटीन और स्नेह (तैल घी आदि) का पाक प्रारम्भ हो जाता है परन्तु इनका पाचन कार्बोहार्डड्रेट के पाचन से अधिक समय लेता है। कार्बोहाइड्रेट का पाचन समाप्त होने के पश्चात् भी प्रोटीन तथा स्नेह का पाक होता रहता है। प्रोटीन के पाचन का अन्तिम परिणाम एमीनी अम्ल है और वसा आदि के पाचन का अन्तिम परिणाम वसा–अम्ल तथा ग्लेसराल है। इनसे अम्ल भावों की वृद्धि होती है। इसे 'द्वितीय अवस्था पाक' अथवा 'अम्ल अवस्था पाक' कहते हैं। इस समय पित्त की वृद्धि होती है।

परं तु पच्यमानस्य विदग्धस्याम्लभावतः।
आशयाच्च्यवमानस्य पित्तमच्छमुदीर्यते।। च० चि० 15/9

इसके पश्चात् [मधुर अवस्था पाक के पश्चात्] अन्न विदग्ध होकर अम्ल भाव को प्राप्त होता है। [आमाशय में अम्ल प्रतिक्रिया वाले पाचक रसों के संयोग से] अम्लीभूत अन्न जब आमाशय से पच्यमानाशय [ग्रहणी–क्षुद्रान्त्र] में प्रवेश करता है तो अच्छपित्त [bile] उदीर्ण होकर आहार भाग में मिल जाता है।

आहार के पाचन तथा सार अंश के अवशोषण के पश्चात् आन्त्र की पुरःसरण गति [Peristaltic movements] के द्वारा आहार का शेष अंश पक्वाशय [वृहदन्त्र] में प्रवेश करता है। पक्वाशय में जल के कुछ अंश का और अवशोषण हो जाता है जिसमें वह पिण्ड रूप में परिवर्तित हो जाता है तथा वृहदन्त्र में उपस्थित बेक्टीरियाओं की क्रिया से यह पुरीष रूप में परिवर्तित हो जाता है। अपचित आहार में वे लक्षण भी होते हैं जिनका अवशोषण क्षुदान्त्र में नहीं होता है, अथवा बहुत अल्प मात्रा में होता है, यथा सल्फेट मूल वाले लवण तथा केल्सियम फास्फेट, लौह फास्फेट आदि। इस प्रकार अन्त में अन्न का यह भाग कटु रसप्रधान को जाता है तथा वात की वृद्धि करता है। यह 'तृतीय अवस्था पाक' अथवा 'कटु पाक' कहलाता है।

पक्वाशयं तु प्राप्तस्य शोष्यमाणस्य वह्निना।
परिपिण्डितपक्वस्य वायुः स्यात्कटुभावतः।। च० चि० 15/10

जब भुक्त आहार पक्वाशय में पहुंचता है और अग्नि द्वारा सुखाया जाता है तब वह पककर पिण्डित हो जाता है और उसमें कटु भाव उत्पन्न हो जाता है। इस कारण इस समय वात की वृद्धि होती है।

अविदग्धः कफं, पित्तं विदग्धः, पवनं पुनः।

सम्यग्विपक्वो निःसार आहारः परिवृंहयेत्।। सु० सू० 45/535

अविदग्ध (मधुर अवस्था पाक को प्राप्त हुआ), आहार पित्त की वृद्धि करता है, विदग्ध (अम्ल अवस्था पाक को प्राप्त हुआ), आहार पित्त की वृद्धि करता है एवं उत्तम प्रकार से परिपक्व होने के कारण सारहीन हुआ (मल रूप को प्राप्त) आहार वात की वृद्धि करता है।

निष्ठापाक (विपाक)

आहार के पाचन के पश्चात् उसके सार अंश का आन्त्रभित्ति द्वारा अवशोषण हो जाता है। शोषण होने के पश्चात् इस अन्न रस में जो परिवर्तन होते हैं उन्हें निष्ठापाक तथा विपाक कहते हैं।

निष्ठापाक अथवा विपाक के सम्बन्ध में आयुर्वेद में दो मत प्रचलित हैं–

(1) आत्रेय सम्प्रदाय वालों का मत तथा (2) धन्वन्तरि साम्प्रदाय वालों का मत।

आत्रेय सम्प्रदाय का मत– इस मत को मानने वालों को रसविपाकवादी अथवा विविधविपाकवादी कहते हैं।

इस मत के अनुसार अवस्था पाक की समाप्ति पर आहार के सार और मल के पृथक्करण के समय शरीर में अवशोषित आहार रस के सार भाग में रासायनिक परिवर्तन होकर कुछ विशेष रस उत्पन्न हो जाते हैं। इस क्रिया का नाम विपाक (निष्ठापाक) है।

जाठरेणाऽग्निना योगाद्यदुदेति रसान्तरम्।

रसानां परिणामान्ते स विपाक इति स्मृतः।। अ० ह्र० सू० 9/20

आहार के रसों में (रसों के आधारभूत द्रव्यों में) जठराग्नि के द्वारा पाक क्रिया पूर्ण होने पर जो रसान्तर [रस में परिवर्तन] होकर अन्य रस की उत्पत्ति होती है उसे विपाक क्रिया कहते हैं।

'पचनं पाकः, विशिष्टपाको विपाकः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार विपाक शब्द का अर्थ 'विशिष्ट' अर्थात् अवस्था पाक से भिन्न पाक क्रिया है।

विपाक के लक्षण– विपाक तीन प्रकार के होते हैं– [1] मधुर, [2] अम्ल तथा [3] कटु विपाक।

कटुतिक्तकषायाणां विपाकः प्रायशः कटुः।

अम्लोऽम्लं पच्यते, स्वादुर्मधुरं लवणस्तथा।। च० सू० 26/80

स्वादुः कटुश्च मधुरमम्लोऽम्लं पच्यते रसः।

तिक्तोष्णकषायाणां विपाकः प्रायशः कटुः।। अ० ह्र० सू० 9/21

कटु तिक्त और कषाय रसों का विपाक प्रायः कटु होता है, अम्ल रस का विपाक प्रायः अम्ल तथा मधुर और लवण रसों का विपाक प्रायः मधुर होता है।

प्रायः कहने का तात्पर्य है कि विपाक के इन नियमों में अपवाद भी होते हैं। किसी द्रव्य का विपाक इन नियमों के विपरीत भी होता है यथा सौंठ और पीपल कटु रस हैं, इनका विपाक मधुर होता है। व्रीहि [धान की खील] मधुररस द्रव्य है, इसका विपाक अम्ल होता है। तैल मधुर रस का द्रव्य है, इसका विपाक कटु होता है। हरीतकी कषाय तथा आंवला अम्लरस द्रव्य हैं परन्तु इनका विपाक मधुर होता है।

धन्वन्तरि सम्प्रदाय का मत— इस मत के मानने वालों को गुणविपाकवादी, काल–विपाकवादी अथवा द्विविध विपाकवादी कहते हैं।

इस मत के अनुसार 'विपाक' शब्द का अर्थ है भुक्त द्रव्यों का पाचन होना। महाभूतों की गुरुता तथा लघुता की दृष्टि से विचार करें तो पृथ्वी और जल महाभूत की अधिकता है, वे द्रव्य पचने में अधिक समय लेते हैं अतः उनका विपाक गुरु होता है। जिन द्रव्यों में तेज, वायु तथा प्रकाश महाभूत की अधिकता होती है वे द्रव्य पचने में कम समय लेते हैं अतः उनका विपाक लघु होता है।

इस सिद्धान्त के अनुसार गुरु विपाक का अर्थ है देर से पाक होना और लघु विपाक का अर्थ है शीघ्र पाक होना। गुरु विपाक के लिए मधुर विपाक तथा लघु के लिए कटु विपाक इन गौण संज्ञाओं का व्यवहार किया जाता है।

आगमे हि द्विविध एव पाको मधुरः कटुकश्च। तयोर्मधुराख्यो गुरुः, कटुकाख्यो लघुरिति। तत्र पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशानां दैविध्यं भवति गुणसाधर्म्याद् गुरुता लघुता च, पृथिव्यापश्च गुर्व्यः शेषाणि लघूनि, तस्माद्द्विविध एक पाक इति। सु. सू. 40/12

अपने (आयुर्वेद) शास्त्र में दो ही प्रकार के विपाक हैं– (1) मधुर तथा (2) कटु। इनमें मधुर विपाक गुरु तथा कटु विपाक लघु होता है।

पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश इन पांचों महाभूतों के भी गुरु और लघु दो भेद हैं। इनमें पृथ्वी और जल गुरु हैं तथा शेष अर्थात् तेज, वायु और आकाश लघु होते हैं। इसलिए इनका विपाक भी दो प्रकार का होता है।

द्रव्येषु पच्यमानेषु येष्वम्बुपृथिवीगुणाः।
निर्वर्तन्तेऽधिकास्तत्र पाको मधुर उच्यते।।
तेजोऽनिलाकाशगुणाः पच्यमानेषु येषु तु।
निर्वर्तन्तेऽधिकास्तत्र पाकः कटुक उच्यते।। सु० सू० 40/13, 14

जिन द्रव्यों के पाचन के समय पृथ्वी और जल के गुण अधिक प्रबल होते है उनका विपाक मधुर होता है तथा जिन द्रव्यों के पाक काल में तेजस्, वायु और आकाश महाभूतों के गुण अधिक प्रबल होते हैं उनका विपाक कटु होता है।

विपाक का कर्म–

रसैरसौ तुल्यफलः।। अ० हृ० सू० 9/21

रसों के कर्मों के समान ही विपाक के रसों के कर्म होते हैं। यथा मधुर विपाक मधुर रस के समान कफोत्पादक, अम्ल विपाक अम्ल रस के समान पित्तोत्पादक तथा कटु विपाक कटु रस के समान वात की वृद्धि करने वाला होता है।

शुक्रहा बद्धविण्मूत्रो विपाको वातलः कटुः।
मधुरः सृष्टविण्मूत्रो विपाकः कफशुक्रलः।।
पित्तकृत् सृष्टविण्मूत्रः पाकोऽम्लः शुक्रनाशनः।
तेषां गुरुः स्यान्मधुरः कटुकाम्लावतोऽन्यथा।।

च० सू० 26/83, 84

विपाकों के पृथक्-पृथक् लक्षण एवं कर्म–

कटु विपाक– वीर्यनाशक, मल एवं मूत्र को बांधने वाला अर्थात् रोकने वाला, वातवर्धक और लघु।

मधुर विपाक– मल और मूत्र का विसर्जन करने वाला, कफ एवं वीर्यवर्धक और गुरु होता है।

अम्ल विपाक– मल एवं मूत्र को लाने वाला, शुक्र का नाश करने वाला, पित्तवर्धक तथा लघु होता है।

गुरु विपाक– वात पित्त को क्षीण करने वाला, कफ की वृद्धि करने वाला तथा मल मूत्र को लाने वाला होता है।

लघु विपाक– कफ को क्षीण करने वाला, वात की वृद्धि करने वाला तथा मल, मूत्र को रोकने वाला होता है।

विपाक का प्रत्यक्ष नहीं होता है। विपाक के कर्मों को देखकर अमुक विपाक हुआ ऐसा अनुमान द्वारा ही जाना जाता है।

रसो निपाते द्रव्याणां विपाकः कर्मनिष्ठया।। च० सू० 26/88

रस का ज्ञान जिह्वा द्वारा प्रत्यक्ष से होता है परन्तु विपाक का ज्ञान कर्म की समाप्ति पर अनुमान द्वारा होता है क्योंकि यह क्रिया शरीर के अन्दर होती है।

भूताग्नियाँ–

आहार पंचभूतात्मक होता है। आहार द्रव्य में जिस महाभूत की प्रधानता होती है वह उसी नाम से जाना जाता है यथा पार्थिव, आप्य, तैजस, वायव्य तथा नाभस द्रव्य। द्रव्यों में प्रधान महाभूत के अतिरिक्त अन्य चारों महाभूत गौण रूप से उपस्थित रहते हैं। आहार के आमाशय में पहुँचने पर समान वायु द्वारा जठराग्नि प्रबल होकर पाचन क्रिया प्रारम्भ कर देती है। जठराग्नि की प्रबलता से बल प्राप्त कर द्रव्य में उपस्थित अन्य महाभूतों की अग्नियाँ भी कार्यशील हो जाती हैं और अपने–अपने महाभूतों का परिपाक करती हैं जिससे कि आहार में उपस्थित पांचों महाभूतों के स्वरूप देह में उपस्थित उन महाभूतों के स्वरूप के समान परिवर्तित होकर उन सब अंशों के पोषण एवं वृद्धि में समर्थ हो जाते हैं। आहार के पार्थिव अंश का पार्थिवोष्मा द्वारा, आप्य अंश का आप्योष्मा द्वारा, आग्नेय अंश का आग्नेयोष्मा, वायव्य अंश का वायव्योष्मा तथा नाभस अंश का नाभस उष्मा द्वारा पाक हो जाता है।

यथा स्वैरेव पुष्यन्ते देहे द्रव्यगुणाः पृथक्।
पार्थिवाः पार्थिवानेव शेषाः शेषांश्च कृत्स्नशः।। च० चि० 15/13

देह में द्रव्यों के गुण पृथक्–पृथक् अपने–अपने अंशों से ही पुष्ट होते हैं। पार्थिव गुण पार्थिव गुणों को पुष्ट करते हैं इसी प्रकार आप्य गुण शरीर के आप्य गुणों का, आग्नेय गुण आग्नेय गुणों का, वायव्य गुण वायव्य गुणों तथा नाभस गुण नाभस गुणों का पोषण करते हैं तथा आहार दव्यों में गुरुता, खरता, रूक्षता, द्रवता, स्निग्धता आदि गुण शरीरगत उन्हीं गुणों की वृद्धि का कारण होते हैं।

आहार द्रव्यों का जठराग्नि तथा भूताग्नियों द्वारा पाक के फलस्वरूप उत्पन्न सार भाग रस कहलाता है। इसमें आहार द्रव्यों का स्वरूप परिवर्तन हो शरीरोपयोगी रूप हो जाता है तथा पार्थिव आदि महाभूतों के गुणों से युक्त हो जाता है, इस अन्न रस का क्षुद्रान्त्र भित्ति द्वारा अवशोषण हो जाता है।

अवशोषित अन्न–रस पर धात्वग्नियों की क्रिया प्रारम्भ हो जाती है। अन्न रस में उपादान रूप विभिन्न धातु के अंश हैं उनका यह स्वरूप नहीं होता है जो शरीर धातुओं का होता है। अतः उन्हें अपनी–अपनी धात्वग्नि द्वारा पक्वता प्राप्त करनी होती है। धात्वग्नि की क्रियास्वरूप उत्पन्न प्रसादांश से उस धातु का शरीर में पोषण तथा वृद्धि होती है तथा किट्टांश का मल रूप में शरीर से निष्कासन हो जाता है।

विण्मूत्रमाहारमलः सारः प्रागीरितो रसः।

स तु व्यानेन विक्षिप्तः सर्वान् धातून् प्रतर्पयेत्।। सु० सू० 46/536

विष्ठा और मूत्र आहार के मूल हैं और रस आहार का सार है। व्यान वायु से प्रेरित हुआ वही रस शरीर में समस्त धातुओं का तर्पण करता है।

सप्तभिर्देहधातारो धातवो द्विविधं पुनः।

यथास्वमग्निभिः पाकं यान्ति किट्टप्रसादतः।। च० चि० 15/14

देह को धारण करने वाली रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा तथा शुक्र, ये सात धातुयें अपनी–अपनी धात्वग्नि द्वारा दो प्रकार के पाक को प्राप्त करती हैं– (1) किट्ट रूप तथा (2) प्रसाद रूप पाक।

पाचकाग्नि तथा धात्वग्नियों का परस्पर सम्बन्ध–

स्वस्थानस्थस्य कायाग्नेरंशा धातुषु संश्रिताः।

तेषां सादातिदीप्तिभ्यां धातुवृद्धिक्षयोद्भवः।। अ० हृ० सू० 11/34

कायाग्नि (पाचकाग्नि) अपने ही स्थान पर स्थिर रहती है परन्तु उसके सूक्ष्म अंश धातुओं में जाकर रहते हैं। यदि पाचकाग्नि के इस सूक्ष्म अंश की धातुओं में अल्पता या क्षीणता होती है तो अपचय क्रिया (ketabolism) में कमी तथा चय क्रिया (anabolism) में वृद्धि होने से धातु वृद्धि होती है। इसकी धातुओं में प्रबलता या वृद्धि होने से अपचय क्रिया में वृद्धि तथा क्रिया में ह्रास हो जाता है जिससे धातु क्षय होता है।

पारम्पर्येऽपि दावाग्नेस्तत्तत्प्राप्येन्धनं शिखा।

वृद्धिक्षयौ यथा याति तथा धातुपरम्परा।। अ० हृ० सू० 19/17

जिस प्रकार दावाग्नि की वृद्धि तथा क्षय उसको मिलने वाले समीपवर्त्ती ईंधन के परिणाम पर आश्रित रहती है इसी प्रकार धातुपरम्परा को भी समझो।

जिस प्रकार दावाग्नि की वृद्धि जंगल के वृक्षों का नाश कर देती है इसी प्रकार जठराग्नि की धातुओं में वृद्धि उनका नाश कर देती है।

जब शरीर ऊतकों की चयापचय क्रिया सामान्य से अधिक हो जाती है और उसकी पूर्ति हेतु उस अनुपात से पोषण द्रव्य उपलब्ध नहीं होते हैं तो ऊतक कोशिकाओं में संगृहीत पोषण तत्त्वों को शरीर में होने वाली चयापचय क्रियाएं कार्य में लाने लगती हैं। उस दशा में शरीर में अपचयात्मक (ketabolic) क्रियाएँ बढ़ जाती हैं तथा चयात्मक (anabolic) क्रियायें हीनता को प्राप्त हो जाती हैं। परिणामस्वरूप ऊतक का वृद्धि के स्थान पर क्षय प्रारम्भ हो जाता है।

शरीर धातु वृद्धि चयापचय क्रिया के परिणामस्वरूप होती है। यह चयात्मक तथा अपचयात्मक क्रियाओं का संयुक्त प्रभाव है। यदि अपचय क्रिया बढ़ जाती है तो ऊतकों में ऑक्सीजन की आवश्यकता भी बढ़ जाती है और चय

क्रिया क्षीण हो जाती है। इसके विपरीत यदि चय क्रिया वृद्धि को प्राप्त कर जाती है तो अपचय क्रिया पर इसका विपरीत प्रभाव पड़ता है। पाचकाग्नि का धातुओं में जो सूक्ष्म अंश उपस्थित होता है उसके द्वारा अपचय क्रिया होती है तथा धात्वग्नियों को बल मिलता है।

विषय को अधिक स्पष्ट करने के लिए एक उदाहरण देते हैं। अवटु ग्रन्थि (thyroid gland) के कार्यकर तत्त्व थाइरोक्सिन हार्मोन की रक्त में वृद्धि से शरीर का आधार चयापचय दर (basal metabolic rate) बढ़ जाती है, परिणामस्वरूप शरीर अधिक ऑक्सीजन का उपयोग करने लगता है। जिससे अपचय क्रियायें बढ़ जाती हैं तथा शरीर की धातुयें क्षीण होती चली जाती हैं। इसके विपरीत रक्त में थाइरोक्सिन की सामान्य से अल्पता विपरीत प्रभाव डालती है, इससे चय क्रियायें वृद्धि को प्राप्त होती हैं।

ये दोनों अवस्थायें असामान्य हैं दोनों क्रियाओं का समावस्था में होते रहना ही शरीर की धातुओं के लिए उपयोगी है। कायाग्नि की धातुओं में सूक्ष्म रूप से समउपस्थिति ही धातुओं की स्वाभाविक वृद्धि एवं पोषण के लिए आवश्यक है।

समैर्दोषैः समो मध्ये देहस्योष्माग्निः संस्थितः।
पचत्यन्नं तदारोग्यपुष्ट्यायुर्बलवृद्धये।। च० चि० 15/216

देह में स्थित अग्नि [पाचकाग्नि] को उष्मा, वात, पित्त, कफ के समावस्था में होने पर समभाव में रहती हुई आरोग्य, पुष्टि, आयु तथा बल के लिए अन्न को पचाती है। जिससे धात्वग्नियों की क्रिया भी सम रहती है। धातुओं में यह जो चयापचय क्रियायें (metabolism) होती हैं वह धात्वग्नियों के कारण होती हैं। यदि पाचकाग्नि सम है तो धात्वग्नियों की क्रियायें भी सम होती हैं। पाचकाग्नि की विषमता धात्वग्नियों को भी विषम करती है। इस प्रकार धात्वग्नियां पाचकाग्नि पर निर्भर करती हैं। पाचकाग्नि को अग्नियों में श्रेष्ठ इसीलिए कहा गया है।

अवैषम्येण धातूनामग्निवृद्धौ यतेत ना।। च० चि० 15/215

धातुओं की समता को ध्यान में रखते हुए अग्नि (पाचकाग्नि) की वृद्धि के लिए प्रयत्नवान् होना चाहिए। क्योंकि यदि पाचकाग्नि सम है तो शरीर में होने वाली समस्त चयापचय क्रियायें भी सम्यक् भाव से होती रहेंगी तथा–

पंचभूतात्मके देहे ह्याहारः पांचभौतिकः।
विपक्वः पंचधा सम्यग्गुणान् स्वानभिवर्धयेत्।। सु० सू० 46/534

पंच महाभूतों से निर्मित इस शरीर में पंचमहाभूतात्मक आहार पाचक अग्नियों द्वारा महाभूतों के उपादानों में सम्यक् प्रकार से परिपाचित होने पर अपने–अपने गुणों को शरीर में अर्जित करता रहेगा।

आहार पाक सारणी

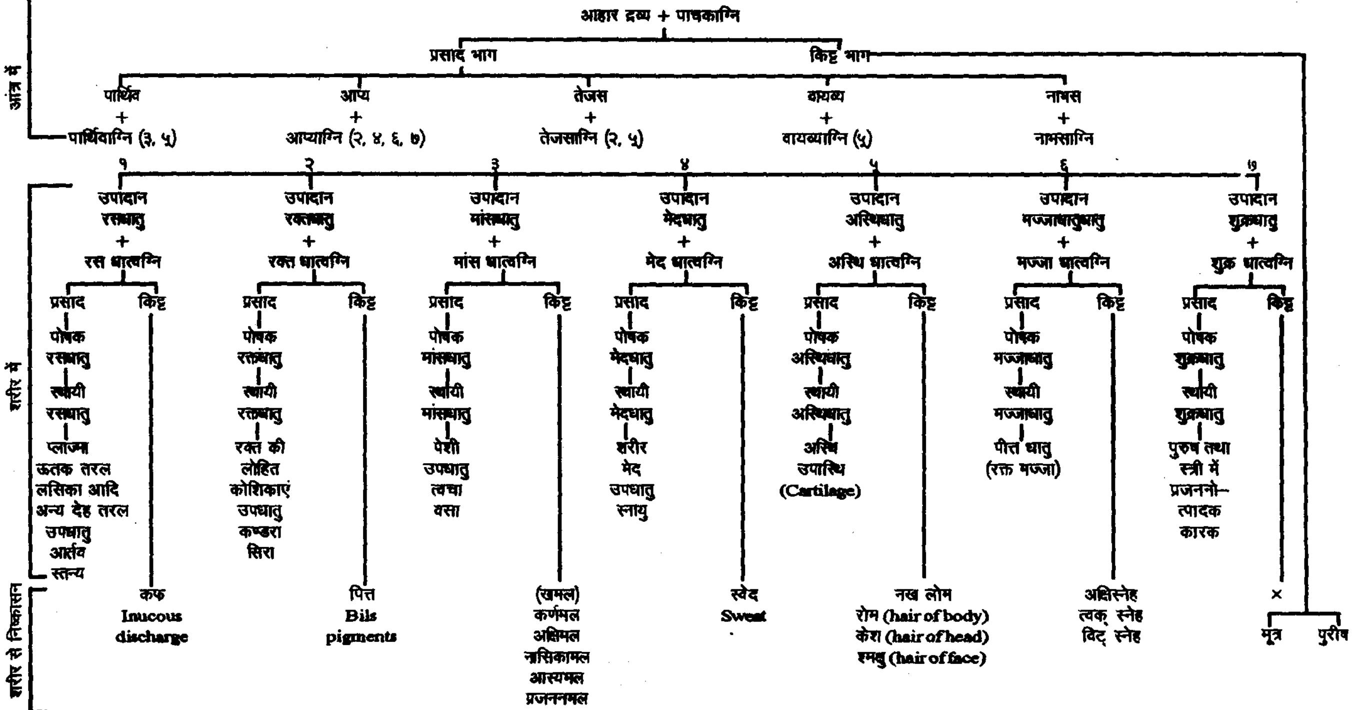

(श्री डॉ० द्वारकानाथ लिखित 'काय चिकित्सा परिचय' नामक पुस्तक के आधार पर)

8

कफ के विशिष्ट कर्म

कफ के भेद—

श्लेष्मा तु पंचधा। श्लेष्मा पांच प्रकार का होता है।

अ० हृ० सू० 11/15

तीनों संहिता ग्रन्थों में केवल वाग्भट्ट ने कफ के पांचों भेदों को पृथक्–पृथक् नाम प्रदान किए हैं। अष्टांगहृदय संहिताकार के अनुसार कफ के पांचों भेदों के नाम इस प्रकार हैं—

(1) श्लेषक कफ, (2) क्लेदक कफ, (3) बोधक कफ, (4) तर्पक कफ तथा (5) अवलम्बक कफ। आचार्य सुश्रुत ने कफ के कार्यों के पाँच विभाग किए हैं परन्तु इनको पृथक् से कोई संज्ञा प्रदान नहीं की है।

सन्धिसंश्लेषणस्नेहनरोपणपूरणबलस्थैर्यकृत् श्लेष्मा पञ्चधा प्रविभक्त उदककर्मणाऽनुग्रहं करोति।। सु० सू० 15/5

सन्धि संश्लेषण (सन्धि स्थलों पर पिच्छिलता उत्पन्न करनेवाला—श्लेषक), स्नेहन (क्लेदन द्वारा शरीर में स्नेह उत्पन्न करने वाला— क्लेदक), रोपण (क्षयपूर्ति करनेवाला— बोधक), पूरण (शरीर को पोषण पहुंचाने वाला— तर्पक), तथा बलस्थैर्यकृत् (शरीर में बल तथा स्थिरता उत्पन्न करने वाला— अवलम्बक)। इस तरह पांच प्रकार से विभक्त हो कफ शरीर में जल के समान कार्य करता हुआ शरीर को अनुगृहीत करता है।

क्लेदक कफ

अन्नमादानकर्मा तु प्राणः कोष्ठं प्रकर्षति।
तद्द्रवैर्भिन्नसंघातं स्नेहेन मृदुतां गतम्।। च० च० 15/5

आदानकर्मा प्राण वायु कोष्ठ में (निगलने की क्रिया द्वारा) ले जाता है, वहां पर उपस्थित द्रव द्वारा उसका संघात नष्ट हो जाता है तथा द्रव के स्नेह अंश द्वारा यह मृदु हो जाता है।

आमाशयः चतुर्विधस्याहारस्याधारः। स च तत्रौदकैर्गुणैराहारः प्रक्लिन्नो भिन्नसंघातः सुखजरश्च भवति।। सु० सू० 21/11

आमाशय चतुर्विध आहार का आधार है। वहां उपस्थित द्रव के जल के समान गुणों वाला होने के कारण आहार पिण्ड रूप से द्रव के समान पतला तथा

महीन होकर सुखपूर्वक पचने योग्य हो जाता है।

स तत्रस्थ एव स्वशक्त्या शेषाणां श्लेष्मस्थानानां शरीरस्य चोदककर्मणाऽनुग्रहं करोति।। सु० सू० 21/13

आमाशय में स्थित हुआ यह कफ शरीर में अन्य स्थानों की श्लेष्मा (कफ) को अपने उदक (जल) कर्म द्वारा अनुगृहीत करता है।

यस्त्वामाशयसंस्थितः क्लेदकः। सोऽन्नसंघातक्लेदनात्।।

अ० हृ० सू० 12/13

आमाशय में रहकर जो कफ अन्न के संघात (कड़ेपन, पिण्ड रूप) का क्लेदन करता है उसे क्लेदक कफ कहते हैं।

आर्द्रीकरण अर्थ वाले 'क्लिद्' धातु के उत्तर 'णक्' प्रत्यय लगाकर क्लेदक पद बनता है। इसका अर्थ है 'जो आर्द्र करे'। यह अन्न को आर्द्र करता है इसलिए इसे क्लेदक कफ कहते हैं।

★ ★ ★

अन्न प्रणाली की भित्ति से गाढ़ा, पिच्छिल द्रव, जिसे श्लेष्म रस (mucin) कहते हैं, निकलता है। रासायनिक संगठन की दृष्टि से यह ग्लाइको प्रोटीन (शर्करा तथा प्रोटीन का योग) है। इस रस में 99% जल का अंश होता है। आहार पाचन के समय इसकी उत्पत्ति आमाशय भित्ति से 0.5 से 1 लीटर, अग्न्याशय (pancreas) से 0.5 लीटर तथा आन्त्र भित्ति से 1-2 लीटर तक होती है। इस तरह यह रस 2 से 3.5 लीटर तक प्रति पाचनकाल में स्रावित होता है। यह आहार द्रव्यों से मिलकर उसे क्लिन्न तथा मृदु करता है। इसके अतिरिक्त इसका श्लेष्मा अंश अम्ल रसों के प्रभाव से आमाशय और आन्त्र भित्ति की रक्षा करता है तथा जीवाणुओं को नष्ट करने में सहायक होता है। इस रस के जल अंश का वृहदन्त्र में अवशोषण हो जाता है।

श्लेष्म रस के उचित मात्रा में होने से अन्न–पचन कर्म सम्यक् प्रकार से सम्पन्न होता है। इसकी अल्पता आमाशय तथा आन्त्र में अम्लता की वृद्धि का कारण होती है जिससे जठरशोथ [gastritis], आमाशय व्रण [gastric ulcer], ग्रहणी व्रण [duodenal ulcer] तथा आन्त्रशोथ की सम्भावना बढ़ जाती है। आन्त्रशोथ के कारण पक्वाशय (वृहदन्त्र) द्वारा जलीय अंश के अवशोषण में भी बाधा उत्पन्न हो जाती है जिससे शारीर ऊतकों [tissues] के द्रव अंश में न्यूनता आ जाती है और उनकी क्रियायें सुचारू रूप से नहीं होती हैं।

क्लेदक कफ के समस्त कर्म यथा आमाशय तथा आन्त्र में अन्न का क्लेदन करना, उसे मृदु बनाना तथा अपने उदक कर्म के द्वारा समस्त शरीर को अनुगृहीत

करना आदि श्लेष्म रस द्वारा सम्पन्न होते हैं।

अतः श्लेष्म रस की उत्पत्ति के कारण को क्लेदक कफ कहते हैं।

अवलम्बक कफ

उरःस्थस्त्रिकसन्धारणमात्मवीर्येणान्नरससहितेन हृदयावलम्बनं करोति।। सु० सू० 21/13

उर [वक्ष] में स्थित कफ अपने वीर्य [शक्ति] से त्रिक स्थानों को धारण करता है तथा अन्न रस की सहायता से हृदय का अवलम्बन करता है।

उरःस्थः स त्रिकस्य स्ववीर्यतः। हृदयस्यान्नवीर्याच्च तत्स्थ एवाम्बुकर्मणा। कफधाम्नां च शेषाणां यत्करोत्यवलम्बनम्। अतोऽवलम्बकः श्लेष्मा। अ० हृ० सू० 12/15,16

जो कफ उर [वक्ष] में स्थित रहकर (1) त्रिक स्थान का अवलम्बन करता है (2) अन्न के वीर्य (पोषक अंश) से हृदय को बल देता है तथा (3)अपने अम्बु (जल) कर्म से अन्य कफों को भी बल प्रदान करता है उस कफ को 'अवलम्बक' कफ कहते हैं।

अवलम्बक कफ के उपरोक्त वर्णन में दोनों संहिता ग्रन्थों ने त्रिक शब्द का उल्लेख किया है। अतः त्रिक का अर्थ समझना आवश्यक है। 'त्रिक' का शाब्दिक अर्थ है तीन संधियों अथवा रचनाओं का संधिस्थल। सुश्रुत संहिता के टीकाकार डल्हण ने इस शब्द के विषय में कहा है कि यद्यपि त्रिक शब्द श्रोणि काण्ड भाग (pelvic region) के लिए प्रसिद्ध है तथापि यहां इस शब्द का प्रयोग दोनों अंश संधियों तथा ग्रीवा के संयोग स्थल के लिए किया गया है (**यद्यपि श्रोणिकाण्डभागे त्रिकं प्रसिद्धम् तथाप्यत्र बाहुग्रीवास्थित्रयसंघातस्त्रिक उच्यते**-डल्हण)। इस स्पष्टीकरण के अनुसार त्रिक शब्द से मेरुदण्ड के ऊपरी भाग के दोनों ओर से बाहु और ग्रीवा के संधिस्थल का भाग है। पीछे की ओर देखने से यह पर्शुकशेरुक सन्धि स्थल (costo vertibral articulation) तथा सामने की ओर देखने से उरोस्थि पर्शुका सन्धि स्थल (sterno costal articulation) है। अतः पृष्ठ की ओर मेरुदण्ड, सामने की ओर उरोस्थि तथा दोनों तरफ पर्शुकाओं से घिरे हुए क्षेत्र (वक्षगुहा—thorax) को त्रिक शब्द से सम्बोधित किया गया है। इस क्षेत्र के अवयवों (फुफ्फुस तथा हृदय) और त्रिक स्थानों की संधियों का उपस्नेहन तथा पोषण करना अवलम्बक कफ के कार्य हैं।

फुफ्फुस एक कला द्वारा आवृत रहता है जिसे फुफ्फुसावरण [pleura] कहते हैं। इस कला के दो स्तर होते हैं तथा दोनों के मध्य में द्रव्य भरा रहता

है जो इनको परस्पर के घर्षण से सुरक्षित रखता है तथा फुफ्फुसों के श्वसन कर्म में सहायक होता है। इसकी उत्पत्ति रस (plasma) से होती है। यदि द्रव मात्रा में बढ़ जाता है अथवा इसके स्थान में वायु प्रवेश कर जाती है तो दोनों फुफ्फुसों पर अधिक दाब पड़ने के कारण वे निपात कर जाते हैं। इस द्रव का, स्नेहन कर्म के अतिरिक्त पोषण कर्म भी है। फुफ्फुसावरण के दोनों स्तर इस द्रव में उपस्थित पोषक द्रव्यों से पोषण भी प्राप्त करते हैं।

हृदय भी एक कला से आवृत्त रहता है, जिसे परिहृद् अथवा हृदयावरण (pericardium) कहते हैं। इस कला के भी दो स्तर होते हैं तथा इन दोनों स्तरों के मध्य भी द्रव रहता है। इन स्तरों के कारण हृदयगति न्यूनतम बाधा से सम्पन्न होती रहती है। बाह्य स्तर हृदय को अपनी सीमा से अधिक नहीं बढ़ने देता है। परिहृद् द्रव की उत्पत्ति भी फुफ्फुसावरण द्रव के समान रस (plasma) से होती है।

उरोस्थि पर्शुका सन्धि तथा पर्शुका मेरुदण्ड सन्धि स्थलों का उपस्नेहन तथा पोषण बहिःकोशिका द्रव (extra cellular fluid) द्वारा होता है इसकी उत्पत्ति भी रस द्वारा होती है। इसके अतिरिक्त समस्त अन्य शारीर कफ स्थानों (places of body fluids) को भी अवलम्बक कफ के उदक कर्म द्वारा पोषक द्रव्य प्राप्त होते रहते हैं।

अतः वक्ष में इन द्रव्यों के उत्पादक कर्त्ता को अवलम्बक कफ कहते हैं।

बोधक कफ

जिह्वामूलकण्ठस्थो जिह्वेन्द्रियस्य सौम्यत्वात् सम्यक् रसज्ञाने वर्तते।। सू० सु० 21/13

बोधक कफ जिह्वा मूल तथा कण्ठ में रहकर अपनी सौम्यता से जिह्वेन्द्रिय को सब प्रकार के रस ज्ञान में प्रवृत्त कराता है।

रसबोधनात् बोधको रसनास्थायी। अ० हृ० सू० 12/17

जिह्वा में रहकर रस ज्ञान कराने वाले कफ को बोधक कफ कहते हैं।

★ ★ ★

मनुष्य केवल 6 रसों का ज्ञान प्राप्त कर सकता है। ये रस हैं मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त तथा कषाय। जिह्वेन्द्रिय किसी पदार्थ के रसज्ञान को ग्रहण कर सके इसके लिए उस पदार्थ को घुलित अवस्था में होना चाहिए। मुख में उपस्थित लालाग्रन्थियों का लालास्राव (saliva) तथा अन्य स्राव मुख में आए हुए पदार्थ को घोलने का कार्य करते हैं। शुष्क पदार्थ इन रसों में विलेय हो

जाते हैं तथा जो इस प्रकार विलेय नहीं होते हैं उनके स्वाद का ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता है।

ये पदार्थ लालास्राव में घुलकर मुख में उपस्थित तन्त्रिका तन्तुओं के आदाताओं (receptors) को उद्दीप्त करते हैं। जिह्वा के अग्रभाग 2/3 भाग में जिह्वा तन्त्रिका (lingual nerve) तथा पश्च 1/3 भाग में जिह्वाग्रसनी तन्त्रिका (glossopharyngeal nerve) के तन्तुओं के अन्तिम सिरे इन आदाताओं के रूप में स्थित होते हैं। इन आदाताओं का उद्दीपन तन्त्रिका संवेदना के रूप में तन्त्रिकाओं द्वारा गमन कर मस्तिष्क में पहुंचता है। यदि इन तन्त्रिकाओं का जिह्वा से सम्बन्ध विच्छेद कर दिया जाए, तब किसी प्रकार का रस ज्ञान नहीं होता है। इसी प्रकार यदि लालास्राव तथा अन्य मुख स्रावों में पदार्थ विलेय नहीं होता है तो भी तन्त्रिकाओं के आदाता उद्दीप्त नहीं होते और रस का ज्ञान नहीं होता है। रस संवेदना का तन्त्रिकाओं द्वारा वहन कराने का कार्य वात का है, बोधक कफ का नहीं। बोधक कफ तो मुख में अपनी जलीय क्रिया द्वारा द्रव्यों को विलेय कर जिह्वा में उपस्थित इन तंन्त्रिका आदाताओं को उद्दीपन प्राप्त करने में प्रवृत्त करता है तथा इन तन्त्रिकाओं द्वारा संवहित उद्दीपन के अनुसार मस्तिष्क (मन) उनका अर्थ लगाता है जिसे हम रस ज्ञान कहते हैं।

अतः स्वाद के ज्ञान में सहायक रस द्रव्यों के उत्पादककर्त्ता को बोधक कफ कहते हैं।

तर्पक कफ

क्षमा धृतिरलोभश्च कफकर्माविकारजम्।। च० सू० 18/53

क्षमा, धृति धारणात्मक बुद्धि एवं निर्लोभता ये अविकृत कफ के कर्म हैं।

शिरःस्थं स्नेहसंतर्पणाधिकृतत्वादिन्द्रियाणामात्मवीर्येणानुग्रहं करोति।।
सु० सू० 21/13

शिर में स्थित स्नेह आदि के संतर्पण का अधिकारी कफ त्वक् आदि ज्ञानेन्द्रियों को अपने प्रभाव से अनुगृहीत करता है अर्थात् ज्ञानेन्द्रियों के केन्द्र मस्तिष्क को पोषण प्राप्त कराता है।

शिरःसंस्थोऽक्षतर्पणात् तर्पकः।। अ० हृ० सू० 12/17

शिर में स्थित हो चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियों का तर्पण करते रहने वाले कफ को तर्पक कफ कहते हैं।

तर्पक कफ का स्थान मस्तिष्क है और उसके कर्म हैं ज्ञानेन्द्रियों के मूल स्थान मस्तिष्क का स्नेहन तथा संतर्पण [पोषण] आदि कार्य करना जिससे ये इन्द्रियां

मन से संयोग कर अपने प्राकृत कर्मों को कर सकें तथा मस्तिष्क में स्थित विचार, चिन्तन, संकल्प आदि के केन्द्रों को स्नेहन तथा पोषण मिलता रहे, जिससे मन भी अपने प्राकृत कर्मों का सम्पादन करता रहे।

शरीर के प्रत्येक अंग प्रत्यंग को कर्म करने के निमित्त पोषण तथा स्नेहन की आवश्यकता होती है। स्नेहन कार्य बिना स्नेह अंश के नहीं हो सकता। मस्तिष्क को शरीर के अन्य भागों की अपेक्षा अधिक स्नेहन की आवश्यकता है। क्योंकि मस्तिष्क घृत के समान मज्जा के निर्मित कहा गया है– **'तदेव (मेदस्) च शिरसि कपालप्रतिच्छन्नं मस्तिष्काख्यं मस्तुलुंगाख्यम्**– अष्टांग संग्रह तथा **'मस्तुलुंग अर्धविलीनघृताकारो मस्तकमज्जा'**– सु० सू० 23/12 पर डल्हण की टीका। तर्पक कफ मस्तिष्क को स्नेहन प्रदान करता है, मस्तिष्क कोशिकाओं का निर्माण तथा पोषण करता है। यदि तर्पक कफ के इस स्नेहन तथा पोषण कार्य में विकृति आ जाती है तो मन तथा शरीर की ज्ञानेन्द्रियों पर उसका सबसे पहले प्रभाव पड़ता है।

मस्तिष्क मेरु तरल (cerebro spinal fluid) द्वारा मस्तिष्क का पोषण कार्य नहीं के समान होता है। इस तरह का मुख्य कार्य प्रत्यारोधक है। यह मस्तिष्क पर पड़ने वाले दबाव को सहन कर मस्तिष्क को सुरक्षित रखता है यदि मस्तिष्क में संवहित रक्त की मात्रा में वृद्धि हो जाती है तो इस तरल की मात्रा कम हो जाती है। इसके विपरीत यदि मस्तिष्क में रक्त की संवहित मात्रा कम हो जाती है तो इस तरल की मात्रा बढ़ जाती है जिससे कि आन्तरिक दाब में किसी प्रकार का अन्तर न आवे। मस्तिष्क की चयापचय क्रियाओं द्वारा जो मल द्रव्य उत्पन्न होते हैं उनको भी यह वहन कर ले जाता है। इस प्रकार मस्तिष्क मेरु तरल का कार्य मुख्य रूप से यान्त्रिक है। इसके द्वारा तर्पक कफ के पोषक कर्मों का पूर्णरूपेण सम्पादन नहीं होता है।

मस्तिष्क को पोषण प्रदान करने वाले रस द्रव्यों के उत्पादक का नाम तर्पक कफ है।

श्लेषक पित्त

संधिस्थस्तु श्लेष्मा सर्वसन्धिसंश्लेषात् सर्वसंध्यनुग्रहं करोति।

सु० सू० 21/13

संन्धियों में स्थित श्लेष्मा समस्त सन्धियों का संश्लेषण करता है। इस प्रकार वह समस्त सन्धियों का अनुग्रह करता है।

संधिसंश्लेषात् श्लेषकः संधिषु स्थितः।। अ० हृ० शा० 12/17

जो कफ सन्धियों में रहकर सन्धियों का संश्लेषण करता है श्लेषक कफ कहलाता है।

उपरोक्त कथनों का भाव है कि शरीर की चल अस्थि–सन्धियों में स्थित श्लेषक कफ उन्हें दृढ़तापूर्वक मिलाये रखता है तथा स्निग्धता, श्लक्ष्णता एवं पिच्छिलता प्रदान करता है।

सन्धियां स्नायु एवं पेशियों द्वारा जकड़ी रहती हैं तथा श्लेष्मधरा कला द्वारा उत्पन्न श्लेष्मा द्वारा स्नेहित होती हैं। इस सम्बन्ध में आचार्य सुश्रुत ने कहा है कि–

चतुर्थी श्लेष्मधारा नाम, सर्वसंधिषु प्राणभृतां भवति।
स्नेहाभ्यक्ते यथा ह्यक्षे चक्रं साधु प्रवर्तते।
सन्धयः साधु वर्तन्ते संश्लिष्टाः श्लेष्मणा तथा।। सु शा० 4/13,14

चौथी कला का नाम श्लेष्मधरा है। यह समस्त प्राणियों की समस्त सन्धियों में रहती है। जैसे अक्ष (धुरे) के ऊपर तैल लगाने से पहिया अच्छी प्रकार चलता है उसी प्रकार श्लेष्मधारा कला से उत्सर्जित श्लेष्मा से स्नेहित सन्धियां ठीक प्रकार से कार्य करती हैं।

चल सन्धियों की अस्थियों के शिरों पर कलामय सम्पुट [membranous capsule] होता है। उसका पृष्ठभाग एक पतली कला से आवृत रहता है इसे श्लेष्मक कला [sinovial membrane] कहते हैं इस कला की कोशिकाओं द्वारा पिच्छिल, स्नेहयुक्त द्रव श्लेष्मक तरल [synoxial fluid] उत्सर्जित होता रहता है यह सन्धिस्थानों के सभी उपांगों का स्नेहन करता है। इसकी उत्पत्ति अन्य ऊतक तरलों के समान रस [plasma] से होती है। सम्भव है कि इससे सन्धि स्थानों को पोषण भी प्राप्त होता रहता है।

अतः श्लेष्मक तरल के उत्पादक की संज्ञा श्लेषक कफ है।

★ ★ ★

शरीर के द्रवांश–प्लाज्मा, लसिका, ऊतक, तरल, बहिःकोशिका तरल, अन्तःकोशिका तरल आदि आयुर्वेद में रस धातु के अन्तर्गत ही परिगणित किये जाते हैं। प्लाज्मा से अन्य सब द्रव्यों की उत्पत्ति होती है तथा प्लाज्मा की उत्पत्ति अन्न रस से होती है। इन द्रवों का प्लाज्मा से प्रायः यान्त्रिक विसरण [diffusion] मात्र होता है। शरीर के कुछ स्थानों पर ऐसे भी तरल हैं जिनका प्लाज्मा के केवल विसरण ही नहीं होता है वरन् जिन कोशिकाओं [cells] में होकर ये द्रव निकलते हैं उन कोशिकाओं द्वारा इनके संगठन में परिवर्तन भी हो जाता है। कफ के पांचों प्रकारों के अन्तर्गत इसी प्रकार के परिवर्तित

द्रवांशों का वर्णन किया गया है। सामान्य विसरण क्रिया समस्त शरीर में निरन्तर होती रहती है उसमें कोई विशेषता नहीं होने से उसका किसी संज्ञा विशेष से स्मरण नहीं किया गया है। ये परिवर्तित तरल कफ नहीं हैं वरन् इनको उत्पन्न करनेवाली जो चय क्रियाएं हैं उनकी संज्ञा कफ है। यथा अन्न प्रणाली की भित्ति की सीरमी कलाओं **(seros membrances)** का स्राव क्लेदक कफ की चय क्रिया द्वारा होता है। अतः इस स्राव के कर्म क्लेदक कफ के कर्म कहे गए हैं। परिहृद् (हृदयावरण) के स्तरों के मध्य के हृदयावरण तरल, तथा फुफ्फुसावरणों के मध्य के फुफ्फुसावरण तरल की उत्पत्ति अवलम्बक कफ की चयक्रियाओं के परिणामस्वरूप है। इन स्रावों के कर्म इनके उत्पत्तिकारक अवलम्बक कफ के कर्म कहे गये हैं। इसी प्रकार लाला ग्रन्थियों का स्राव तथा मुख की अन्य ग्रन्थियों के स्राव बोधक कफ की चय–क्रिया द्वारा उत्पन्न होते हैं। अतः इन स्रावों के कर्म बोधक कफ के कर्म कहे गये हैं। मस्तिष्क कोशिकाओं में मेदरूप में उपस्थित द्रवांश, अन्तःकरण में स्थित परिलसिका **(perilymph)** व अन्तःलसिका **(endolymph)**, नेत्र का अन्तरिक्ष तरल तथा मस्तिष्क मेरु तरल की उत्पत्ति तर्पक कफ की चयक्रिया के द्वारा होती है। अतः इनके कर्म तर्पक कफ के अन्तर्गत कहे गये हैं तथा श्लेष्मक तरल की उत्पत्ति श्लेष्मक कफ की चयक्रिया के द्वारा होती है इसलिए इसके कर्मों का वर्णन श्लेष्मक कफ के कर्मों के रूप में किया गया है।

★ ★ ★

9

प्रकृतियां

दोषज प्रकृतियां

गर्भस्थ शिशु की देह पिता के शुक्राणु तथा माता के शोणित (अण्डाणु, डिम्ब) के संयोग से बनती है। संयोग के समय शुक्राणु तथा डिम्ब में जो दोष प्रबल होते हैं उन्हीं के अनुसार शिशु की गर्भ में प्रकृति (मानसिक एवं शारीरिक गठन) बनती है और यह प्रकृति आजन्म बनी रहती है।

शुक्रशोणितसंयोगे यो भवेद्दोष उत्कटः।
प्रकृतिर्जायते तेन तस्या मे लक्षणं शृणु।। सु० शा० 4/62

शुक्र तथा शोषित [डिम्ब] की प्रकृति; काल [माता की अवस्था भी] तथा गर्भाशय की प्रकृति, माता के आहार–विहार की प्रकृति और महाभूतों के विकार की प्रकृति पर गर्भ शरीर की प्रकृति निर्भर होती है। [अधिकृत भूत सृष्टि उत्पत्ति नहीं कर सकते हैं अतः 'महाभूतों के पञ्चीकरण' को विकार कहा गया है]। ये प्रकृतियाँ जिन एक अथवा अधिक प्रबल दोषों [वात, पित्त, कफ] से संयोग करती हैं उन्हीं दोषों से गर्भ भी अनुबद्ध हो जाता है। इस प्रकार गर्भ के प्रारम्भ में प्रबल दोष, जिनसे गर्भ अनुबद्ध हो गया है, उस पुरुष की 'दोषज प्रकृति' बनाते हैं अत एव कुछ भाग मनुष्य वाताधिक्य से वातल प्रकृति, पित्ताधिक्य से पित्तल प्रकृति, कफाधिक्य से श्लेष्मल प्रकृति, द्वन्द्वाधिक्य से द्वन्द्वज प्रकृति तथा दोषों की समावस्था के समप्रकृति (सम वात पित्त कफ प्रकृति) वाले होते हैं। इस प्रकार, दोषज प्रकृतियां सात प्रकार की होती हैं।

च० वि० 8/106

आयुर्वेद के अन्य संहिता ग्रन्थों में इन्हीं सात प्रकार की दोषज प्रकृतियों का वर्णन किया गया है। ये हैं पृथक्–पृथक् दोषों के अनुसार तीन प्रकार की [1] वात–प्रकृति, [2] पित्त प्रकृति, [3] कफ प्रकृति। दो दोषों के संयोग से भी तीन प्रकार की। [4] वातपित्त प्रकृति, [5] वातकफ प्रकृति, [6] पित्तकफ प्रकृति तथा तीनों दोषों के सम संयोग से एक प्रकार की, [7] समवातपित्तकफप्रकृति। जन्म से ही प्रत्येक व्यक्ति इन सातों प्रकृतियों में से किसी एक प्रकार की प्रकृति का स्वामी होता है।

सप्त प्रकृतयो भवन्ति। दोषैः पृथक् द्विशः समस्तैश्च।।

सु० शा० 4/61

शुक्रासृग्गर्भिणी भोज्यचेष्टागर्भाशयर्तुषु।
यः स्याद्दोषोऽधिकस्तेन प्रकृतिः सप्तधोदिता।। अ० ह्र० शा० 3/83

इन प्रकृतियों में भी समप्रकृति श्रेष्ठ कही गई है। इस प्रकृति वाले व्यक्ति **स्वस्थ**, निरोग रहते हैं तथा अन्य प्रकृति वाले व्यक्तियों में रोगों से आक्रान्त होने की सम्भावना अधिक रहती है। समप्रकृति के अतिरिक्त कफ प्रकृति उत्तम, पित्त प्रकृति मध्यम, वात प्रकृति हीन तथा द्विदोषज प्रकृतियां निन्दनीय कही गई हैं।

तेषामनातुराः पूर्वे वातलाद्याः सदाऽतुराः।
दोषानुशयिता ह्येषां देहप्रकृतिरुच्यते।। च० सू० 7/39
तैश्च तिस्रः प्रकृतयो हीनमध्योत्तमाः पृथक्।
स धातुः समास्तासु श्रेष्ठा निन्द्या द्विदोषजाः।।
अ० हृ० सू० 1/10

विषजातो यथा कीटो न विषेण विपद्यते।
तद्वत्प्रकृतयो मर्त्यं शक्नुवन्ति न वाधितुम्।। सु० शा० 4/78

विष की प्रबलता से उत्पन्न हुआ कीट जिस प्रकार अपने शरीरगत विष से नहीं मरता है। इसी प्रकार शरीरगत प्रकृतियाँ मनुष्य को किसी प्रकार की हानि नहीं पहुंचाती हैं।

यद्यपि सम प्रकृति के अतिरिक्त अन्य प्रकृतियों में दोष समभाव से स्थित नहीं होते हैं परन्तु इन प्रकृतियों से बढ़े हुए दोषों द्वारा मनुष्य को हानि नहीं होती है। उदाहरण के लिए कहा है कि जिस प्रकार विषैले सर्प को अपने विष से कोई हानि नहीं होती है। इसी प्रकार यह दोषोत्कटता गर्भज होने के कारण सहज होती है अतः घातक नहीं होती है। सुश्रुत संहिता की टीका करते हुए इस विषय पर डल्हण ने कहा है कि दोषोत्कटता दो प्रकार की होती है— (1) प्राकृत तथा (2) वैकृत। गर्भ से ही प्रकृति के निर्माण में जिन दोषों की प्रबलता होती है वे प्राकृत हैं अतः हानिकर नहीं हैं। अन्य समय की दोषों की उत्कटता वैकृत है अतः हानिकर है। चक्रपाणिदत्त चरक संहिता की टीका में कहते हैं कि दोषोत्कटता तीन प्रकार की होती है, (1) हीन (अल्प) (2) मध्यम तथा (3) उत्तम। गर्भ उत्पत्ति के समय अल्प दोषोत्कटता होती है, अतः घातक नहीं होती है।

प्रकोपो वान्यभावो वा क्षयो वा नोपजायते।
प्रकृतीनां स्वभावेन जायते तु गतायुषः।। सु० शा० 4/77

प्रकृतियों का प्रकोप अर्थात् वृद्धि होना यथा सामान्य वातिक से तीव्र वातिक हो जाना आदि, प्रकृति का अन्य भाव होना यथा वातप्रकृति का पित्त या कफ प्रकृति में परिवर्तन हो जाना आदि, प्रकृति का क्षय हो जाना यथा तीव्र वात प्रकृति का अल्पवातप्रकृति में परिवर्तन हो जाना आदि, ये परिवर्तन स्वाभाविक नहीं होते हैं। स्वभाव से प्रकृति के भावों में वृद्धि ह्रास अथवा अन्य भावों में परिवर्तन नहीं

होता है अर्थात् स्वाभाविक प्रकृति में आजन्म कोई परिवर्तन नहीं होता है। प्रकृति में इस प्रकार के परिवर्तन आयुसमाप्ति के सूचक हैं। ये लक्षण उस समय बहुधा दिखाई देते हैं जबकि जीवन की अन्तिम अवस्था होती है।

वातप्रकृति पुरुष के लक्षण

अल्पकेशः कृशो रूक्षो वाचालश्चलमानसः।
आकाशचारी स्वप्नेषु वातप्रकृतिको नरः।। शा० पू० 6/20

वातप्रकृति पुरुष अल्पकेशयुक्त, कृश तथा रूक्ष शरीर वाला, वाचाल, चपल तथा स्वप्न में आकाश में विचरने वाला होता है।

वातिकाश्चाजगोमायुशशाखूष्ट्रशुनां तथा।
गृध्रकाकखरादीनामनूकैः कीर्तिता नराः।। सु० शा० 4/66

वातादि पुरुष, बकरी, गीदड़, खरगोश, चूहा, ऊंट, कुत्ता, गिद्ध, कौआ के स्वभाव के समान चपल, अदृढ़ मत्सर और भीरू होता है।

श्वशृगालोष्ट्रगृध्राखुकाकाऽनुकाश्च वातिकाः।। अ० हृ० शा० 3/89

गीदड़, ऊंट, गिद्ध, चूहे तथा कौवे के स्वभाव वाले व्यक्ति की वात प्रकृति को जानना चाहिए।

★ ★ ★

वात के गुण, रूक्ष, शीत, लघु, सूक्ष्म, चल, विशद तथा खर हैं (**रूक्षः शीतो, लघु सूक्ष्मश्चलोऽथ विशदः खरः**– चरक, तथा **रूक्षो लघुः शीतः खरः सूक्ष्मश्चलोऽनिलः** अ० हृ०)। वातप्रकृति मनुष्यों के शारीरिक तथा मानसिक लक्षण इन गुणों के अनुरूप होते हैं।

शारीरिक लक्षण— शरीर रूक्ष, कृश तथा कुरूप होता है। अंग बेडोल तथा आकृति लम्बी होती है। शरीर पर कण्डरायें और शिरायें उभरी रहती हैं। त्वचा रूक्ष तथा फटी हुई होती है। दाढी, मूछ, केश, रोम, दांत, नख रूक्ष होते हैं। नेत्र, खर, धूसर, वृत्त (गोल) कुरूप तथा मृतप्रायः होते हैं तथा सोते समय उभरे हुए प्रतीत होते हैं। स्वर अत्यन्त जर्जर तथा रुक–रुक कर बोलने वाला होता है। अंग हर समय फड़कते रहते हैं। तेजी से चलता है और चलते समय संधियों में शब्द होता है। शीत को सहन नहीं कर सकता है अतः शीत के कारण शरीर में कम्प तथा स्तम्भन हो जाता है। भोजन अल्प करता है। अम्ल तथा लवण रसों की इच्छा रखता है और ये रस सात्म्य होते हैं। शरीर में पित्त (अग्नि, ऊष्मा, temperature) कम होता है तथा कम बलशाली होता है।

मानसिक लक्षण— कार्य में शीघ्र प्रवृत्त हो जाने की आदत होती है। किसी बात को शीघ्र ही ग्रहण कर लेता है परन्तु अल्प स्मृति के कारण शीघ्र ही भूल जाता है। बहुत बोलने वाला, अदृढ़ स्वभव वाला होता है। शीघ्र ही क्षुब्ध हो जाता है। धैर्य रहित, कृतघ्न तथा मैत्री में अदृढ़ होता है। अजितेन्द्रिय, आचारहीन, स्त्रियों को अप्रिय तथा कम संतान वाला होता है। नास्तिक, द्वेषी, मत्सर, चोरी आदि के स्वभाव का होता है।

स्वप्न में पर्वतों और वृक्षों को देखता है तथा आकाश में अपने को उड़ता हुआ अनुभव करता है।

पित्तप्रकृति पुरुष के लक्षण

अकाले पलितैर्व्याप्तो धीमान् स्वेदी च रोषणः।
स्वप्नेषु ज्योतिषां द्रष्टा पित्तप्रकृतिको नरः।। शा० पू० 6/21

पित्तप्रकृति पुरुष के केश असमय में ही श्वेत हो जाते हैं, वह बुद्धिमान् होता है, स्वेद तथा क्रोध बहुत आता है, स्वप्न में अग्नियां देखता है।

भुजंगोलूकगन्धर्वयक्षमार्जारवानरैः।
व्याघ्रर्क्षनकुलानूकैः पैत्तिकास्तु नराः स्मृताः।।

पित्तप्रकृति पुरुष सर्प, उल्लू, गन्धर्व, यक्ष, बिल्ली, बन्दर, व्याघ्र, रीछ और नेवले के स्वभाव के समान स्वभाव वाला होता है।

मध्यायुषो मध्यबलाः पण्डिताः क्लेशभीरवः।
व्याघ्रर्क्षकपिमार्जारयक्षानूकाश्च पैत्तिकाः।। अ० हृ० शा० 3/95

पित्तप्रकृति पुरुष की आयु मध्यम, बल मध्यम होता है। वह विद्वान् होता है। क्लेश को सहन नहीं कर सकता है तथा व्याघ्र, रीछ, बन्दर, बिल्ली और यक्ष के स्वभाव वाला होता है।

पित्त के गुण स्नेहयुक्त उष्ण, तीक्ष्ण, द्रव, अम्ल, सर तथा कटु हैं। (**सस्नेहमुष्णं तीक्ष्णं च द्रवमम्लं सरं कटु—चरकः, पित्तं सस्नेहतीक्ष्णोष्णं लघु विस्रं सरं द्रवम्**— अ० हृ०) पित्त प्रकृति पुरुष में इन गुणों की प्रधानता होती है अतः उनके शारीरिक तथा मानसिक लक्षण इन गुणों के अनुरूप होते हैं।

शारीरिक लक्षण— शरीर सुकुमार तथा वर्ण में गौर होता है। शरीर के अंग, पेशियां और सन्धियां शिथिल रहती हैं। अंग पर झुर्रियां शीघ्र पड़ जाती हैं। मुख, नख, नेत्र, तालु, जिह्वा, हाथ, पैर, ताम्र, वर्ण के; नेत्र छोटे और कपिल वर्ण के, पलकें छोटी और कम बालों वाली होती हैं। केश तथा रोम भी अल्प तथा कपिलवर्ण के होते हैं। केश जल्दी ही श्वेत हो जाते हैं और गंजापन भी हो

जाता है। स्वेद बहुत आता है तथा आमगन्धी होने के कारण दुर्गन्धयम होता है। शरीर सामान्य से अधिक उष्ण रहता है। भूख तथा प्यास बहुत अधिक लगती है। उष्णता को सहन नहीं करने के कारण शीतल वस्तुओं की इच्छा होती है। मैथुन शक्ति कम अतः कम सन्तान वाला होता है। त्वचा पर पिल्लु, व्यंग तथा तिल अधिक होते हैं। पिड़िकाएं बहुत निकलती हैं।

मानसिक लक्षण— पित्तप्रकृति पुरुष तीक्ष्ण स्वभाव का होता है। शीघ्र ही क्रोधित तथा शीघ्र ही शान्त हो जाने वाला, शृंगारप्रिय, वीर, साहसी, बुद्धिमान्, मेधावी, उत्तम धारणशक्तिसम्पन्न, कुशाग्र बुद्धि, तेजस्वी, भयरहित, प्रतिवादी के पक्ष का खण्डन कर बोलने वाला होता है। आश्रितों को सान्त्वना देने वाला, अपने आश्रय दाता से प्रेम करने वाला, उत्तम चरित्रवान् होता है। ऐसा व्यक्ति ईर्ष्यालु भी होता है।

स्वप्न में अग्निदाह, उल्कापात, बिजली, सूर्य, अग्नि, स्वर्ण, पलाश, कर्णिकार दिखाई दिया करते हैं।

कफप्रकृति पुरुष के लक्षण

गम्भीरबुद्धिः स्थूलाङ्गः स्निग्धकेशो महाबलः।
स्वप्ने जलाशयालोकी श्लेष्मप्रकृतिको नरः।। शा० पू० 7/22

कफ प्रकृति पुरुष गम्भीर बुद्धि, स्थूल अंग, स्निग्ध केश, अति बलवान् तथा स्वप्न में जलाशयों को देखने वाला होता है।

ब्रह्मरुद्रेन्द्रवरुणैः सिंहाश्वगजगोवृषैः।
तार्क्ष्यहंससमानूकाः श्लेष्मप्रकृतयो नराः।। सु० शा० 4/75

कफ प्रकृति पुरुष ब्रह्मा, रुद्र, इन्द्र, वरुण, सिंह, घोड़ा, हाथी, गौ, सांड, गरुड़ और हंस के समान गम्भीर स्वभाव वाला होता है।

ब्रह्मरुद्रेन्द्रवरुणतार्क्ष्यहंसगजाधिपैः।
श्लेष्मप्रकृतयस्तुल्यास्तथा सिंहाश्वगोवृषैः।। अ० हृ० शा० 3/103

कफ प्रकृति का मनुष्य, ब्रह्मा, रुद्र, वरुण, हंस, हाथी, सिंह, घोड़ा, गौ और सांड स्वभाव का होता है।

श्लेष्मा के गुरु, शीत, मृदु, स्निग्ध, मधुर, स्थिर तथा पिच्छिल (**गुरु शीत मृदु स्निग्ध मधुर स्थिर पिच्छिलाः —चरक, स्निग्धः शीतो गुरुर्मन्दः श्लक्ष्णो मृत्स्नः स्थिरः कफः** — अ० हृ०) गुण हैं। श्लेष्म पुरुष की प्रकृति इन गुणों के अनुरूप होती है।

शारीरिक लक्षण— शरीर सुन्दर, सुडोल तथा सुविभक्त होता है। अंग स्थिर, पुष्ट तथा भरे हुए, बाहें लम्बी तथा गोल, वक्षस्थल पुष्ट एवं मस्तक ऊंचा होता है। वर्ण निर्मल एवं दूर्वा नीलकमल, कमल, कोमल, नीम पत्र, सरकण्डा, प्रियंगु, धान्य, गोरोचन अथवा सुवर्ण के समान होता है। मुख से

प्रसन्नता टपकती है। नेत्र प्रसन्न, विशाल तथा कोरों में सुर्खी लिए हुए होते हैं। पलकें काली होती हैं। केश काले चमकदार होते हैं। चाल सारयुक्त, दृढ़ तथा स्थिर हाथी के समान होती है। स्वर, मेघ, मृदंग, समुद्र तथा सिंह के समान गम्भीर होता है। अत्यधिक वीर्यवान्, मैथुन–शक्तिसम्पन्न तथा अधिक सन्तानों वाला होता है। शारीरिक विकार अत्यन्त अल्प होते हैं।

मानसिक लक्षण– सात्त्विक चित्तवाला, सत्यवादी, धर्मात्मा, स्मृतिवान् तथा मान को महत्त्व देने वाला एवं स्थिर स्वभाव का होता है। मन तथा वचन प्रवृत्ति में शीघ्रता नहीं करता है। क्षोभ कम करने वाला, कृतज्ञ, वीर, सहनशील, ओजस्वी, शान्त, दीर्घायु, निर्लोभी तथा धनवान् होता है। मित्रता तथा शत्रुता को स्थिर रखने वाला, आदरणीय पुरुषों का सम्मान करने वाला, सोच समझ कर कार्य करने वाला तथा हमेशा निश्चित बात कहने वाला होता है। भूख, प्यास, दुःख क्लेश सहन करने वाला तथा अल्प क्रोध, अल्प ईर्ष्या, चेष्टा और अल्प आहार विहार वाला होता है। आयुष्मान्, धन ऐश्वर्यवान्, दीर्घदर्शी, पण्डित तथा लज्जायुक्त होता है। स्वप्न में कमल एवं पक्षियों से युक्त जलाशय, मेघ आदि को देखता है।

सम एवं द्वन्द्वज प्रकृतियों के लक्षण

सम प्रकृति पुरुष में तीनों प्रकृतियों के उत्तम लक्षण तथा द्वन्द्वज प्रकृति वाले मनुष्यों में उन प्रकृतियों के सम्मिलित लक्षण मिलते हैं।

भौतिक प्रकृतियां

प्रकृतिमिह नराणां भौतिकीं केचिदाहुः,
पवनदहनतोयैः कीर्तितास्तास्तु तिस्रः।
स्थिरविपुलशरीरः पार्थिवश्च क्षमावान्,
शुचिरथ चिरजीवी नाभसः खैर्महद्भिः।। सु० शा० 4/79

कुछ आचार्यों के मतानुसार मनुष्य की प्रकृतियां पञ्चमहाभूतों के कारण पांच प्रकार की होती हैं, अर्थात् जिस व्यक्ति में जिस महाभूतों की प्रधानता होती है उसी के अनुसार उसकी प्रकृति बन जाती है। इस प्रकार भौतिक प्रकृतियां पांच प्रकार की होती हैं (1) नाभस (2) वायव्य (3) आग्नेय (4) जलीय तथा (5) पार्थिव। पवन (वायव्य) प्रकृतिवाले व्यक्ति की प्रकृति के लक्षण वातादि प्रकृति वाले व्यक्तियों के समान होते हैं। दहन (आग्नेय) तेजस प्रकृति वाले व्यक्ति की प्रकृति पैत्तिक प्रकृति वाले व्यक्ति के समान होती है। तोय (जलीय) प्रकृतिवाले व्यक्ति की प्रकृति कफज प्रकृतिवाले व्यक्ति के समान

होती है। शेष दो पार्थिव तथा नाभस प्रकृतिवाले व्यक्ति के लक्षण इस प्रकार हैं पार्थिव प्रकृतिवाला व्यक्ति स्थिर, विपुल शरीरवाला तथा क्षमावान् होता है और नाभस प्रकृतिवाला व्यक्ति पवित्र आचरणवाला, विशाल शरीर छिद्रोंवाला अर्थात् मुख, कर्ण, नासिका के बड़े छिद्रोंवाला दीर्घायु होता है।

मानस प्रकृतियां

मन की प्रकृति त्रिगुणात्मक होती है। इसमें जिस गुण की गर्भ अवस्था के समय प्रधानता होती है उसी का प्रभाव मानसिक क्रियाओं पर सबसे अधिक होता है। इस प्रकार जन्म से ही तीन प्रकार की मानसिक प्रकृतियां होती हैं (1) सात्त्विक प्रकृति, (2) राजस प्रकृति तथा (3) तामस प्रकृति। सात्त्विक प्रकृति उत्तम, राजस प्रकृति मध्यम तथा तामस प्रकृति हीन होती है। सात्त्विक प्रकृति सात प्रकार की, राजस प्रकृति छः प्रकार की तथा तामस प्रकृति तीन प्रकार की होती है। इन सात्त्विक राजस एवं तामस प्रकृतिवालों का वर्णन सुश्रुत शारीर अध्याय चार तथा चरक शारीर अध्याय चार में दिया गया है, उसी के अनुसार नीचे वर्णन दिया जा रहा है।

सात्त्विक प्रकृति के भेद तथा लक्षण

(1) ब्रह्मकाय अथवा ब्राह्मसत्त्व–

ऐसा व्यक्ति पवित्रता से रहता है, आस्तिक बुद्धि रखता है, ज्ञान विज्ञान का अभ्यास करता है, गुरुजनों एवं बड़ों का आदर सम्मान करता है, सत्यप्रतिज्ञ, जितात्मा, कार्य–अकार्य का विभाग करने वाला, वचन तथा प्रतिवचन से युक्त, स्मृतिवान्, काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, अप्रसन्नता तथा असहिष्णुता से रहित एवं सब प्राणियों पर सम दृष्टि रखनेवाला होता है।

(2) महेन्द्रकाय अथवा ऐन्द्रसत्त्व–

ऐसा व्यक्ति ऐश्वर्यवान्, शूरवीर, ओजस्वी, तेजस्वी, शास्त्रों के अनुसार आचरण करने वाला, निन्दित कर्म न करने वाला, अपने आश्रितों का भरण–पोषण करने वाला, दीर्घदर्शी, धर्म तथा काम में रत होता है।

(3) वारुणकाय अथवा वारुणसत्त्व–

ऐसा व्यक्ति शूरवीर, सहनशील, पवित्रता से प्रेम एवं अपवित्रता से द्वेष रखने वाला, शीत पदार्थों में रुचि रखनेवाला, निन्दित कर्मों को न करनेवाला, भाषण में मधुर स्वभाव रखनेवाला होता है।

(4) कौबेरकाय अथवा कौबेरसत्त्व–

ऐसा व्यक्ति सम्पन्न, मान सम्मान से युक्त, नित्यकर्म, अर्थ (धन संचय) तथा काम (अधिक सन्तानोत्पत्ति) में प्रवृत्त, स्पष्ट प्रसन्नता एवं अप्रसन्नता वाला होता है।

(5) गान्धर्वकाय अथवा गान्धर्वसत्त्व–

ऐसा व्यक्ति नाच, गाने, बजाने, सुगन्धित वस्त्र, आभूषणों का शौकीन, इतिहास पुराण आदि में कुशल तथा स्वभाव में भ्रमणशील होता है।

(6) याम्यकाय अथवा याम्यसत्त्व–

ऐसे व्यक्ति का आचार कर्त्तव्याकर्त्तव्य में मर्यादित होता है तथा असीम उत्साह सम्पन्न, निर्भय, उत्तम स्मरणशक्तियुक्त, स्वच्छताप्रिय, राग, मोह, मद एवं द्वेष से विमुक्त, उद्यमी तथा ऐश्वर्यवान् होता है।

(7) ऋषिकाय अथवा आर्षसत्त्व–

ऐसा व्यक्ति जप, व्रत, यज्ञ, स्वाध्याय, ब्रह्मचर्य का पालन करनेवाला, अतिथि पूजक, ज्ञान विज्ञान में निपुण, अंहकार, राग, द्वेष, मोह, लोभ एवं क्रोध रहित, प्रतिभावान् तथा विचारवान् होता है।

इत्येवं शुद्धस्य सत्त्वस्य सप्तविधं भेदांशं विद्यात् कल्याणांशत्वात्, संयोगाद् ब्राह्ममत्यन्तशुद्धं व्यवस्येत्।। च० शा० 4/45

इस प्रकार कल्याण भाव से सम्पन्न होने के कारण ये (उपरोक्त) सात भेद शुद्ध सत्त्व के हैं। कल्याण अंश से सम्यग्योग के कारण ब्राह्मसत्त्व अत्यन्त शुद्ध जानना चाहिए।

सप्तैते सात्त्विकाः कायाः। सु० शा० 4/48

ये ब्रह्मकाय से ऋषिकाय तक सात प्रकार की प्रकृतिवाले व्यक्ति सात्त्विक प्रकृति के होते हैं।

राजस प्रकृति के भेद तथा लक्षण

राजस प्रकृति में रोष का अंश अधिक होता है। इसके 6 भेद हैं।

(1) आसुरकाय अथवा आसुरसत्त्व–

ऐसा व्यक्ति ऐश्वर्यवान्, उग्र, क्रोधी एवं निर्दय स्वभाव वाला, दूसरों के गुणों पर भी दोषारोपण करने वाला, भोजन में अकेला खाने वाला (असूयक) एवं पेटू (औदरिक) तथा व्यवहार में स्वार्थी एवं आत्मश्लाघी होता है।

(2) सर्पकाय अथवा सार्पसत्त्व–

ऐसा व्यक्ति क्रोध के समय शूर तथा अक्रोध के समय भीरू, घातक (तीक्ष्ण), परिश्रमी, आहार विहार में चपल तथा कपटी होता है।

(3) शाकुनकाय अथवा शाकुनसत्त्व–

ऐसा व्यक्ति अत्यन्त कामी, असहिष्णु, चंचल चित्तवाला, हर समय आहार विहार में रत तथा धन आदि का संचय करनेवाला होता है।

(4) राक्षसकाय अथवा राक्षससत्त्व–

ऐसा व्यक्ति सहिष्णु, दीर्घकाल तक क्रोध में रहने वाला, अवसर देखकर प्रहार करने वाला, निर्दयी, अत्यन्त, परिश्रमी, ईर्ष्यालु, अधर्म आचरणवाला तथा अत्यन्त आत्मश्लाघी होता है।

(5) पैशाचकाय अथवा पैशाचसत्त्व–

उच्छिष्ट आहार का सेवन करनेवाला, तीक्ष्ण स्वभाववाला, स्त्रीलम्पट, निर्लज्ज, भीरु, दूसरों को डरानेवाला, पवित्रताद्वेषी होता है।

(6) प्रेतकाय अथवा प्रेतसत्त्व–

आहारप्रिय, शील, आचार–व्यवहार और उपचार से अत्यन्त दुःख देने वाला, अत्यन्त लोभी, आलसी, दूसरों के गुणों में भी दोषारोपण करनेवाला, लालची एवं दान न करनेवाला होता है।

इत्येवं खलु राजसस्य सत्त्वस्य षड्विधं भेदांशं विद्याद्रोषांशत्वात्।

च० शा० 4/52

ये 6 प्रकार के सत्त्व के भेद 'रोष' के अंश से युक्त होने के कारण राजस प्रकृति के जानने चाहिएं।

षडेते राजसाः कायाः।। सु० शा० 4/52

ये [आसुरकाय से प्रेतकाय तक] 6 राजसकाय हैं।

तामस प्रकृति के भेद तथा लक्षण

तामस प्रकृति में मोह का अंश अधिक होता है। इसके तीन भेद हैं–

[1] पशुकाय अथवा पाशवसत्त्व–

ऐसे व्यक्ति बुद्धिहीन, कामुक, नीच वेषभूषा युक्त, दूसरों की वस्तु को छीन लेने की प्रवृत्तिवाले, निन्दित आहार विहारवाले, अत्यधिक सोनेवाले होते हैं।

[2] मत्स्यकाय अथवा मात्स्यसत्त्व–

ऐसे व्यक्ति मूर्ख, भीरु, आहारलोलुप, परस्पर, झगड़नेवाले, अस्थिरचित्त वाले, निरन्तर चलना–फिरना पसन्द करनेवाले तथा जलप्रेमी होते हैं।

[3] वानस्पत्यकाय अथवा वानस्पत्यसत्त्व–

अत्यन्त आलसी, एक स्थान पर ही रहने की इच्छा वाले, सब प्रकार के ज्ञान से शून्य, नित्य खाने में लगे रहनेवाले एवं धर्म, अर्थ, काम से विरहित होते हैं।

इत्येवं खलु तामसस्य सत्त्वस्य त्रिविधं भेदांशं विद्यान्मोहांशत्वात्।
च० शा० 4/56

इस प्रकार तामस सत्त्व के तीन भेद हैं। इसमें मोह का अंश होता है।

इत्येते त्रिविधाः कायाः प्रोक्ता वै तामसास्तथा।
कायानां प्रकृतिर्ज्ञात्वा त्वनुरूपां क्रियां चरेत्।। सु० शा० 4/98

इस प्रकार तीन प्रकार की तामसी काय का भी वर्णन किया गया है। पुरुष की [सत्व, रज और तमोगुणों से उत्पन्न] प्रकृति को देखकर उसके अनुसार [चिकित्सक] चिकित्सा करे।

अनुत्सेकमदैन्यं च सुखं दुःखं च सेवते।
सत्त्ववांस्तप्यमानस्तु राजसो नैव तामसः।। अ० हृ० शा० 3/119

सात्त्विक प्रकृतिवाला व्यक्ति सुख के समय उत्कर्ष न प्रकट कर और दुःख के समय दीनता न दिखाकर शान्त स्वभाव से आयु का सुख भोगता है।

राजस स्वभाववाला व्यक्ति सुख को घमण्ड के साथ और दुःख को दीनता से अनुभव करता है, अर्थात् सुख में सुखी और दुःख में अत्यन्त दुःखी हो जाता है।

तामस स्वभाव वाला व्यक्ति अकारण ही सदैव दुःखाक्रान्त रहता है।

★ ★ ★

10
शारीर-प्रमाण

शारीर-प्रमाण

प्रत्येक मनुष्य के शरीर का प्रमाण उसकी स्वयं के अंगुल प्रमाण में कहा गया है। माप के लिए निम्न शब्दों का प्रयोग किया गया है—

उत्सेध= ऊंचाई, आयाम = दैर्घ्य, लम्बाई; परिधि = परिणाह, गोलाई, घेरा, परिवर्तुलता; विस्तार= व्यास, चौड़ाई।

वर्तमान में अंगुल के माप का माध्य इस प्रकार होता है, इसी माप द्वारा शरीर के प्रमाण का वर्णन किया गया है। 12 अंगुल= एक बालिश्त = 9 इंच = 23 सेंटीमीटर [22.86 सेन्टीमीटर]।

चरक संहिता के अनुसार शारीर-प्रमाण—

पाद [पैर]	ऊंचाई	4	अंगुल	3.0	इंच	7.5	से०मी०
	लम्बाई	14	"	10.5	"	26.7	"
	चौड़ाई	6	"	4.5	"	11.5	"
जंघा [टकने से	लम्बाई	18	"	13.5	"	34.4	"
घुटने तक का भाग]	परिधि	16	"	12.0	"	30.5	"
जानु [घुटना]	लम्बाई	4	"	3.0	"	7.5	"
	परिधि	16	"	12.0	"	30.5	"
उरू [घुटने से कमर	लम्बाई	18	"	13.5	"	34.4	"
तक का भाग]	परिधि	30	"	22.5	"	57.0	"
वृषण	लम्बाई	6	"	4.5	"	11.4	"
	परिधि	8	"	6.0	"	15.0	"
शेफ [मूत्रेन्द्रिय]	लम्बाई	6	"	4.5	"	11.4	"
	परिधि	5	"	3.75	"	9.5	"
भग	परिधि	12	"	9.0	"	22.9	"
कटि	चौड़ाई	16	"	12.0	"	30.5	"
वस्तिशिर [शेफ से							
नाभि तक]	लम्बाई	10	"	7.5	"	19.0	"
उदर [नाभि से	लम्बाई	12	"	9.0	"	22.9	"
हृदय तक]	चौड़ाई	10	"	7.5	"	19.0	"
पार्श्व	लम्बाई	12	"	9.0	"	22.9	"

पार्श्व	चौड़ाई	10 अंगुल	7.5 इंच	19.0 से. मी.
दोनों स्तनों के मध्य	अन्तर	12 "	9.0 "	22.9 "
स्तन क्षेत्र [चुचुक]	परिधि	2 "	1.5 "	3.8 "
उर [वक्ष]	ऊंचाई	12 "	9.0 "	22.9 "
[हृदय से ग्रीवा मूल तक]	चौड़ाई	24 "	18.0 "	45.6 "
हृदय	चौड़ाई	3 "	2.25 "	5.7 "
स्कन्ध [प्रत्येक]	चौड़ाई	8 "	6.0 "	15.0 "
अंश	चौड़ाई	6 "	4.5 "	11.4 "
प्रवाहु [अंश से कोहनी तक]	लम्बाई	16 "	12.0 "	30.5 "
प्रपाणि [कोहनी से कलाई तक]	लम्बाई	15 "	11.25 "	28.6 "
हाथ	लम्बाई	12 "	9.0 "	22.9 "
वक्ष [बाहुबल]	प्रत्येक	8 "	6.0 "	15.0 "
त्रिक	ऊंचाई	12 "	9.0 "	22.9 "
पृष्ठ [पीठ]	चौड़ाई	18 "	13.5 "	34.4 "
ग्रीवा	ऊंचाई	4 "	3.0 "	7.5 "
	परिधि	22 "	16.5 "	42.0 "
आनन [चेहरा]	ऊंचाई	12 "	9.0 "	22.9 "
	परिधि	24 "	18.0 "	45.6 "
चिबुक [ठोड़ी]	चौड़ाई	4 "	3.0 "	7.5 "
ओष्ठ	लम्बाई	4 "	3.0 "	7.5 "
कान	लम्बाई	4 "	3.0 "	7.5 "
आस्य [मुंह]	विस्तार	5 "	3.75 "	9.5 "
नासिका	लम्बाई	4 "	3.0 "	7.5 "
नेत्रों के मध्य का	अन्तर	4 "	3.0 "	7.5 "
ललाट	ऊंचाई	4 "	3.0 "	7.5 "
शिर	लम्बाई	16 "	12.0 "	30.5 "
	गोलाई	32 "	24.0 "	51.0 "

पृथक्त्वेनाङ्गावयवानां मानमुक्तम्। केवलं पुनः शरीरमंगुलिपर्वाणि चतुरशीतिस्तदायामविस्तारसमं समुच्यते।। च० वि० 8/117

ये शरीर के विभिन्न अंगों के अवयवों [प्रत्यंगों] के पृथक्–पृथक् प्रमाण कहे गए हैं। इस प्रकार पैर से सिर तक मनुष्य–शरी 84 अंगुल पर्व लम्बा होता है।

पैर	ऊंचाई	4 अंगुल	3.0 इंच	7.5 से.मी.
जंघा	लम्बाई	18 "	13.5 "	34.4 "
जानु	लम्बाई	4 "	3.0 "	7.5 "
ऊरू	लम्बाई	18 "	13.5 "	34.4 "
उदर	ऊंचाई	12 "	9.0 "	22.9 "
उर	ऊंचाई	12 "	9.0 "	22.9 "
ग्रीवा	ऊंचाई	4 "	3.0 "	7.5 "
आनन	ऊंचाई	12 "	9.0 "	22.9 "
कुल	लम्बाई	84 अंगुल	63 इंच	160 से.मी.
			[5 फीट 3 इंच]	[1 मीटर 60 सेन्टी मीटर]

शरीर की लम्बाई तथा दोनों भुजाओं को फैलाकर उनकी लम्बाई दोनों समान हों तो वह शरीर सम कहलाता है।

तत्रायुर्बलमोजः सुख मैश्वर्यं वित्तमिष्टाश्चापरे भावा भवन्त्यायत्ताः प्रमाणवति शरीरे, विपर्ययस्त्वतो हीनेऽधिके वा।। च० चि० 8/117

ऐसे सम प्रमाणवाले शरीर में आयु, बल, ओज, सुख, धन ऐश्वर्य तथा अन्य अभीष्ट भाव आश्रित रहते हैं। इस प्रमाण से हीन अथवा अधिक प्रमाण वाले पुरुष इनके विपरीत गुणों से युक्त होते हैं।

सुश्रुत संहिता के अनुसार शरीर का प्रमाण—

तत्राङ्गान्यन्तराधिसक्थिबाहुशिरांसि, तदवयवाः प्रत्यंगानीति।

सु० सू० 35/11

शरीर के 6 अंग होते हैं—

शरीर का मध्य भाग [अन्तराधि], 2-3 दो सक्थि [टांगे], 4-5 दो बाहु और 6 शिर। इसके अवयव प्रत्यंग कहलाते हैं। इनका माप नीचे दिया जा रहा है।

पाद	लम्बाई	1.4 अंगुल	10.5 इंच	26.7 सै. मी.
प्रदेशिनी	लम्बाई	2 "	1.5 "	3.8 "
मध्यमा	लम्बाई	1.8 "	1.3 "	3.3 "
अनामिका	लम्बाई	1.6 "	1.2 "	3.0 "
कनिष्ठिका	लम्बाई	1.4 "	1.05 "	2.6 "
प्रपद [तलुवे से	लम्बाई	4 "	3.0 "	7.5 "
आगे का भाग]	चौड़ाई	5 "	3.75 "	9.5 "

पाद तल [तलुआ]	लम्बाई	4 अंगुल	3.0 इंच	7.5 से. मी.
	चौड़ाई	5 "	3.75 "	9.5 "
पार्ष्णि [एड़ी]	लम्बाई	5 "	3.75 "	9.5 "
[एड़ी]	चौड़ाई	4 "	3.0 "	7.5 "
पाद मध्य	परिधि	14 "	10.5 "	26.7 "
गुल्फ [टखना]	परिधि	14 "	10.5 "	26.7 "
जंघा	लम्बाई	18 "	13.5 "	34.4 "
जंघा मध्य	परिधि	14 "	10.5 "	26.7 "
[इन्द्रवस्ति स्थान पर]	परिधि	16 "	12.0 "	30.5 "
जानु मध्य	परिधि	14 "	10.5 "	26.7 "
उरु	लम्बाई	18 "	13.5 "	34.4 "
	परिधि	32 "	24.0 "	61.0 "
जानु संधि से कटिसंधि तक	लम्बाई	32 "	24.0 "	61.0 "
गुल्फ से कटि संधि तक		50 "	37.5 "	95.4 "
कटि	चौड़ाई	18 "	13.5 "	34.4 "
श्रोणि [स्त्री]	चौड़ाई	18 "	13.5 "	34.4 "
वृषण	चौड़ाई	2 "	1.5 "	3.8 "
शेफ	लम्बाई	4 "	3.0 "	7.5 "
योनि	परिधि	12 "	9.0 "	22.9 "
शेफ से नाभि	अन्तर	12 "	9.0 "	22.9 "
नाभि से हृदय	अन्तर	12 "	9.0 "	22.9 "
दोनों स्तनों के मध्य	अन्तर	12 "	9.0 "	22.9 "
हृदय से ग्रीवा मूल	अन्तर	12 "	9.0 "	22.9 "
ग्रीवा सामने से]	ऊंचाई	4 "	3.0 "	7.5 "
ललाट	चौड़ाई	4 "	3.0 "	7.5 "
आनन [चेहरा]	लम्बाई	12 "	9.0 "	22.9 "
वक्ष [स्त्री]	चौड़ाई	18 "	13.5 "	34.4 "
चिबुक [ओष्ठ और चिबुक के मध्य]	अन्तर	2 "	1.5 "	3.8 "
दन्त पंक्ति	चौड़ाई	2 "	1.5 "	3.8 "

मुख	विस्तार	4 अंगुल	3.0 इंच	7.5 से. मी.
	परिधि	20 "	15.0 "	38.2 "
नासापुट	विस्तार	2 "	1.5 "	3.8 "
नाशावंश	विस्तार	4 "	3.0 "	7.5 "
कर्ण	लम्बाई	4 "	3.0 "	7.5 "
कर्णमूल	लम्बाई	2 "	1.5 "	3.8 "
कान से नेत्र बाह्यकोण	अन्तर	5 "	3.75 "	9.5 "
दोनों कानों के मध्य	अन्तर	14 "	10.5 "	26.7 "
दोनों नेत्रों के मध्य	अन्तर	2 "	1.5 "	3.8 "
दृष्टि मण्डल के मध्य	अन्तर	4 "	3.0 "	7.5 "

नेत्र की लम्बाई 1/3 भाग तारका [iris] होता है तथा तारका का 1/8 भाग दृष्टि [pupil] होता है।

सिर के मध्य से ग्रीवा के पश्च केशान्त	अन्तर	10 "	7.5 "	19.1 "
सिर के मध्य से शंख प्रदेश के शान्त	अन्तर	11 "	8.25 "	21.0 "
भुजा	लम्बाई	32 "	24.0 "	61.0 "
अंश से कूर्पर [कोहनी]	अन्तर	16 "	12.0 "	30.5 "
कोहनी से मणिबन्ध	अन्तर	16 "	12.0 "	30.5 "
कोहनी से अंगुलियों के सिरे तक	अन्तर	24 "	18.0 "	45.8 "
मणिबन्ध	परिधि	12 "	9.0 "	22.9 "
हस्ततल	लम्बाई	6 "	4.5 "	11.3 "
	चौड़ाई	4 "	3.0 "	7.5 "
अंगुष्ठ मूल से तर्जनी मूल	अन्तर	5 "	3.75 "	9.5 "
प्रदेशिनी [तर्जनी]	लम्बाई	4.5 "	3.38 "	8.5 "
मध्यमा	लम्बाई	5 "	3.75 "	9.5 "
अनामिका	लम्बाई	3.5 "	2.6 "	6.6 "
कनिष्ठिका	लम्बाई	3.5 "	2.6 "	6.6 "
अंगुष्ठ	लम्बाई	3.5 "	2.6 "	6.6 "

इस प्रकार पदाग्र (पंजे के बल) खड़े हुए और ऊपर को हाथ उठाए हुए पुरुष की लम्बाई 120 अंगुल, (90 इंच अथवा 228.7 से० मी०) होती है।

मनुष्य की पदाग्र से हस्ताग्र तक लम्बाई

पैर	ऊंचाई	14	अंगुल	10.5	इंच	26.7	से.मी.
जंघा	लम्बाई	18	"	13.5	"	34.4	"
जानु	लम्बाई	4	"	3.0	"	7.5	"
उरु	लम्बाई	18	"	13.5	"	34.4	"
नाभि से हृदय	लम्बाई	12	"	9.0	"	22.9	"
हृदय से ग्रीवामूल	लम्बाई	12	"	9.0	"	22.9	"
प्रवाहू	लम्बाई	16	"	12.0	"	30.5	"
प्रपाणि	लम्बाई	16	"	12.0	"	30.5	"
हस्ततल	लम्बाई	6	"	4.5	"	11.4	"
प्रदेशिनी	लम्बाई	4	"	3.0	"	7.5	"
	कुल लम्बाई	120	अंगुल	90.0	इंच	228.7	से.मी.
				[7 फीट 6 इंच]		[2 मीटर 28.7 से० मी०]	

देहः स्वैरङ्गुलैरेष यथावदनुकीर्तितः।
युक्तः प्रमाणेनानेन पुमान् वा यदि वाऽङ्गना।।
दीर्घमायुरवाप्नोति वित्तञ्च महदर्च्छति।
मध्यमो मध्यमैरायुर्वित्तं हीनैस्तथाऽवरम्।। सु० सू० 315/16

उपरोक्त वर्णित प्रमाण मनुष्य के अपने–अपने अंगुल से उसके देह का प्रमाण है। जो मनुष्य इस प्रमाण से युक्त होते हैं वे सम प्रमाण होने के कारण दीर्घायु तथा धनसम्पन्न होते हैं। मध्यम प्रमाणों से युक्त मनुष्य मध्यम आयु एवं धनसम्पन्न होते हैं तथा हीन प्रमाणों से युक्त पुरुष अल्पायु एवं अल्पवित्तसम्पन्न होते हैं।

चरक एवं सुश्रुत संहिताओं के समान वाग्भट्ट ने भी मनुष्य के शरीर का प्रमाण इतना ही कहा है।

स्वं स्वं हस्तत्रयं सार्द्धं वपुः पात्रं सुखायुषोः।।
न च यद्युक्तमुद्रिक्तैरष्टाभिर्निन्दितैर्निजैः।।
अरोमशाऽसितस्थूलदीर्घत्वैः सविपर्ययैः। अ० हृ० शा० 3/106

प्रत्येक मनुष्य का शरीर उसके साढ़े तीन हाथ लम्बा होता है। ऐसा मनुष्य सुखायु का पात्र होता है। (1 हाथ = 24 अंगुल, 3।। हाथ = 84 अंगुल)

यदि किसी मनुष्य का शरीर 3।। हाथ लम्बा हो तो परन्तु अनेक दोषों से निन्दित हो और आठ सहज गुणों के विपरीत गुणों से युक्त हो, रोम रहित हो तथा स्थूल एवं दीर्घत्व आदि विपरीत गुणों से युक्त हो तो ऐसा मनुष्य 3।। हाथ लम्बा होने पर भी सुखायु का पात्र नहीं बनता है।

सहज आठ गुण आठों प्रकार के सार हैं। ये हैं—

(1) त्वक्सार, (2) रक्तसार, (3) मांससार, (4) मेदसार, (5) अस्थिसार, (6) मज्जासार, (7) शुक्रसार तथा [8] सत्त्वसार।

चरक एवं सुश्रुताचार्यों ने शरीर के प्रत्येक अंग का माप एक समान स्वीकार किया है। अन्तर केवल यह है कि सुश्रुतचार्यों ने पंजे के बल खड़ें और ऊपर को भुजा उठाए हुए व्यक्ति का माप दिया है और चरकाचार्य ने सामान्य रीति से खड़े हुए व्यक्ति का माप दिया है।

दोनों ने पैर की लम्बाई 14 अंगुल तथा ऊंचाई 4 अंगुल मानी है। इसी प्रकार ग्रीवा की ऊंचाई 4 अंगुल तथा चेहरे की लम्बाई 12 अंगुल दोनों आचार्यों ने कही है। इस तरह सुश्रुत के अनुसार भी सामान्य रीति से खड़े हुए व्यक्ति का शरीर का प्रमाण 84 अंगुल ही आता है। वाग्भट्टाचार्य ने भी यही प्रमाण माना है अतः खड़े हुए व्यक्ति की ऊंचाई (लम्बाई) का मध्य (average) प्रमाण 84 अंगुल [उस व्यक्ति के अपने अंगुल के माप के अनुसार] होता है।

★ ★ ★

भाग—2

दोषों की असाम्यावस्था

1

दोषों की क्षय तथा वृद्धि

आयुर्वेद चिकित्सा पद्धति में रोगों की उत्पत्ति, निदान एवं चिकित्सा का आधार त्रिदोष सिद्धान्त है। पिछले भाग में हमने त्रिदोष [वात, पित्त, कफ] की अविकृत अवस्था में उनके गुणों एवं कर्मों का वर्णन किया है। यह भी बताने को चेष्टा की गई थी कि मानसिक एवं शारीरिक क्रियाओं के स्वाभाविक रूप से संचालन के लिए दोषों की विकृत अवस्थाओं का वर्णन कर रहे हैं।

आयुर्वेद के समस्त संहिता ग्रन्थों में कहा गया है कि वात, पित्त, कफ इस शरीर की उत्पत्ति में कारण हैं, इनकी समता से ही शरीर निरोग रहता है तथा इनकी विषमता ही रोग है।

विकारो धातुवैषम्यं साम्यं प्रकृतिरुच्यते।

सुखसंज्ञकमारोग्यं विकारो दुःखमेव च। च० सू० 9/3

रोगस्तु दोषवैषम्यं दोषसाम्यमरोगता।। अ० हृ० सू० 1/20

तैरेवाव्यापन्नैः शरीरमिदं धार्यते।। सु० सू० 21/2

दोषों की यह विषमता तीन प्रकार के लक्षणों को देखकर अनुमान द्वारा जानी जाती है। [1] शरीर की स्वाभाविक क्रियाओं में न्यूनता आ जाना। ऐसा दोषों के क्षय के कारण होता है। [2] शरीर की स्वाभाविक क्रियाओं में आधिक्य होना। ऐसा दोषों की वृद्धि के कारण होता है तथा [3] शरीर की स्वाभाविक क्रियाओं के विरुद्ध क्रियाओं का होना ऐसा दोषों के प्रकोप के कारण होता है।

दोषों के क्षय तथा वृद्धि के कारण

सर्वदा सर्वभावनां सामान्यं वृद्धिकारणम्।

ह्रासहेतुर्विशेषश्च प्रवृत्तिरुभयस्य तु।। च० सू० 1/43

सर्वदा सम्पूर्ण भावों [द्रव्य, गुण और कर्म] की वृद्धि का कारण सामान्य [समानता] है और विशेष [विभिन्नता] ह्रास का कारण है। सामान्य तथा विशेष की प्रवृत्ति ही वृद्धि एवं ह्रास में कारण है।

वात, पित्त, कफ के गुणों वाले आहार विहार के सेवन से शरीर में तत् तद् गुणों की वृद्धि होती है तथा विपरीत गुणवाले आहार विहार के सेवन से तत् तद् गुणों का ह्रास होता है यथा—

रूक्ष, शीत, लघु, चल, विशद, खर आदि गुण तथा कटु, तिक्त एवं कषाय रसों वाले आहार के सेवन करने तथा इन गुणों की वृद्धि करने वाले विहार से शरीर में वात की वृद्धि होती है। इसके विपरीत स्निग्ध, उष्ण, गुरु, स्थिर, पिच्छिल, श्लक्ष्ण आदि गुण तथा मधुर, अम्ल, लवण रस–युक्त आहार–विहार से वात का क्षय होता है।

स्नेह, उष्ण, तीक्ष्ण, द्रव्य, सर गुण तथा अम्ल, लवण एवं कटु रसों वाले आहार–विहार के सेवन से पित्त की वृद्धि होती है तथा इनके विपरीत स्नेह विरहित रूक्ष, शीत, मन्द, सान्द्र और स्थिर गुण तथा मधुर, तिक्त और कषाय रसों वाले आहार–विहार के सेवन से पित्त का क्षय होता है।

गुरु, शीत मृदु, स्निग्ध, स्थिर और पिच्छिल गुण तथा मधुर, अम्ल एवं लवण रसों वाले आहार–विहार के सेवन से कफ की वृद्धि तथा इनके विपरीत लघु, उष्ण, कठोर, रूक्ष, सर और विशद गुण तथा कटु, तिक्त और कषाय रस वाले आहार–विहार के सेवन के कफ का क्षय होता है।

क्षीण वात-पित्त-कफ के लक्षण

घाते पित्ते कफे चैव क्षीणे लक्षणमुच्यते।
कर्मणः प्राकृताद्धानिर्वृद्धिर्वा विरोधिनाम्।। च० सू० 18/54

वात पित्त तथा कफ के क्षीण होने पर उनके प्राकृत कर्मों में ह्रास होता है और विपरीत कर्मों में वृद्धि होती है।

वात के प्राकृत कर्म— उत्साह, उच्छ्वास, निःश्वास, चेष्टा, रस आदि धातुओं का सम्यक् प्रकार से शरीर में वहन तथा मल आदि का सम्यक् प्रकार से शरीर से मोक्षण है। वात के क्षीण होने पर इन कर्मों में मन्दता तथा इनके विपरीत कर्मों की शरीर में वृद्धि हो जाती है।

पित्त के प्राकृत कर्म— देखना, पचाना, शरीर में ऊष्मा को संचित रखना, भूख–प्यास उत्पन्न करना, शरीर की मृदुता, प्रभा, प्रसन्नता तथा मानसिक क्रियाओं का सुचारू रूप में रखना आदि हैं। पित्त के क्षीण होने पर इन प्राकृत कर्मों की हानि तथा विपरीत लक्षणों की शरीर में वृद्धि होती है।

कफ के प्राकृत कर्म— शरीर को स्निग्ध रखना, उसके लिए पोषण उत्पन्न करना, शरीर के सन्धिबन्धनों आदि को स्थिर रखना, स्वाभाविक गुरुता एवं बल बनाये रखना, मन में क्षमा की भावना एवं निर्लोभता बनाए रखना आदि हैं। कफ के क्षीण होने पर स्निग्धता आदि गुणों में न्यूनता तथा इसके विपरीत रूक्षता आदि गुणों में वृद्धि होती है तथा उसी प्रकार मन पर प्रभाव पड़ता है।

क्षीण वात के लक्षण—

वात की क्षीणता के कारण शारीरिक चेष्टाओं में मन्दता, अंगसाद, भाषण में अल्पता, हर्ष अल्प, बुद्धि मन्द तथा संज्ञानाश तक हो सकता है। कफ, वृद्धि के लक्षणों के समान आलस्य, गौरव आदि लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं।

वातक्षये मन्दचेष्टताऽल्पवाक्त्वमप्रहर्षो मूढ़संज्ञता च।

सु० सू० 15/9

लिगं क्षीणेऽनिलेऽङ्गस्य सादोऽल्पभाषिता हितम्।
संज्ञामोहस्तथा श्लेष्मवृद्ध्युक्तामयसंभवः।। अ० हृ० सू० 11/15

क्षीण पित्त के लक्षण—

शरीर में पित्त की क्रिया में कमी आने से शारीरिक ऊष्मा (temperature) में कमी जिससे शीतता का अनुभव होने लगता है। जठराग्नि मन्द हो जाती है अतः ठीक से आहर का पाक नहीं होता तथा शरीर की प्रभा [कान्ति] कम हो जाती है।

पित्तक्षये मन्दोष्माग्निता निष्प्रभत्वं च। सु० सू० 15/9
पित्ते मन्दोऽनलः शीतं प्रभाहानिः।। अ० हृ० सू० 11/16

क्षीण कफ के लक्षण—

शरीर में कफ की क्रिया में क्षय होने से शरीर में रूक्षता बढ़ जाती है, अन्तर्दाह [जलन] होती है, आमाशय के अतिरिक्त अन्य श्लेष्मा के आशयों में शून्यता [खालीपन], हृदय में दीनता, संधियों में शिथिलता, भ्रम, दुर्बलता, प्यास अधिक तथा नींद कम हो जाती है।

श्लेष्मक्षये रूक्षताऽन्तर्दाह आमाशयेतरश्लेष्माशयशून्यता सन्धि-शैथिल्यं तृष्णा दौर्बल्यं प्रजागरणं च।। सु०सू० 15/7

कफे भ्रमः श्लेष्माशयानां शून्यत्वं हृद्द्रवः श्लथसंधिता।।

अ० हृ० सू० 11/13

वृद्ध वात-पित्त-कफ के लक्षण

दोनों की प्रकृति [प्राकृतिक कर्मों] में अधिकता होना दोषों की वृद्धि के लक्षण हैं। दोषों के प्राकृतिक कर्मों के द्वारा ही उनकी शरीर में समता, क्षीणता तथा वृद्धि [अनुमान द्वारा] जानी जाती है।

यदि शरीर के प्राकृतिक कर्म सम्यक् प्रकार से सम्पादित हो रहे हैं तो दोषों की सम अवस्था है। प्राकृतिक कर्मों में मन्दता दोषों की क्षीणावस्था को बतलाती है इसी प्रकार प्राकृतिक कर्मों में अधिकता उनकी वृद्ध अवस्था का द्योतक है।

दोषप्रकृतिवैशेष्यं नियतं वृद्धिलक्षणम्।
दोषाणां प्रकृतिर्हानिर्वृद्धिश्चैव परीक्ष्यते।। च० सू० 18/55

वात वृद्धि के लक्षण–

वात वृद्धि की अवस्था में भाषण में कर्कशता, शरीर में कृशता व श्यामता (कालापन), अंगों में स्फुरण, उष्ण आहार विहार की इच्छा, निद्रा एवं बल का नाश, इन्द्रियों में क्षीणता, प्रलाप, भ्रम, दीनता तथा मल में रुकावट और उसका कठोर हो जाना आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं।

वातवृद्धौ वाक्पारुष्यं कार्श्यं कार्ष्ण्यं गात्रस्फुरणमुष्णकामिता निद्रानाशोऽल्पबलत्वं गाढ़वर्चस्त्वं च।। सु० सू० 15/14

वृद्धिस्तु कुरुतेऽनिलः।
कार्श्यकार्ष्ण्यकामित्वकंपानाहशकृद्ग्रहान्।
बलनिद्रेन्द्रियभ्रंशप्रलापभ्रमदीनताः।। अ० हृ० सू० 11/16

पित्त वृद्धि के लक्षण–

पित्त की शरीर में वृद्धि हो जाने पर त्वचा का वर्ण पीला हो जाता है, शरीर में उष्णता (temperature) बढ़ जाती है, इन्द्रियों में दुर्बलता, तृष्णा, मूर्च्छा तथा मल–मूत्र–नेत्र में पीलापन, ये लक्षण शरीर में प्रकट होते हैं।

पित्तवृद्धौ पीतावभासता संतापः शीतकामित्वमल्पनिद्रता।
मूर्च्छा बलहानिरिन्द्रियदौर्बल्यं पीतविण्मूत्रनेत्रत्वं च।।

सु० सू० 15.14

पीतविण्मूत्रनेत्रत्वक्क्षुत्तृड्दाहाऽल्पनिद्रता पित्तम्।।

अ० हृ० सू० 11/7

कफ वृद्धि के लक्षण–

शरीर में कफ के कार्यों में वृद्धि होने से शरीर का तापमान कम हो जाता है जिससे शीतता की अनुभूति होती है, स्थिरता, गुरुता, ग्लानि, तन्द्रा, अधिक निद्रा, सन्धि एवं अस्थियों में शिथिलता, मन्दाग्नि, मुख से लार का अधिक उत्पन्न होना, नेत्र में अधिक श्वेतता, अंगों में शिथिलता एवं श्वास तथा कास की शिकायत होने लगती है।

श्लेष्मवृद्धौ शौक्ल्यं शैत्यं स्थैर्थं गौरवमवसादस्तन्द्रानिद्रासन्ध्यस्थिविश्लेषश्च।। सु० सू० 15/14

श्लेष्माऽग्निसदनं प्रसेकालस्यगौरवम्।
श्वैत्यशैत्यश्लथांगत्वं श्वासकासातिनिद्रताः।। अ० हृ० सू० 11/7

रोगोत्पत्ति हेतु—

दोषों के क्षीण अथवा वृद्धि हो जाने पर शरीर में उनके द्वारा होने वाले प्राकृत कर्मों में क्षीणता अथवा वृद्धि हो जाती है। क्षीण होने पर दोष स्वयं अपने कर्म करने में समर्थ नहीं होते हैं। अतः रोगोत्पत्ति इस दशामें उनसे सम्भव नहीं है। इस समय शरीर में क्षीणता सम्बन्धी लक्षण प्रकट हो जाते हैं परन्तु यदि कोई दोष पर्याप्त समय तक क्षीण रहता है तो परिणामस्वरूप अन्य दोष वृद्धि को प्राप्त कर शरीर में विकार उत्पन्न करता है।

दोषों की वृद्धि से उनके कर्मों में वृद्धि उत्पन्न हो जाती है परन्तु कर्मों में विपरीतता नहीं आती है। व्याधि उत्पन्न होने के लिए दोषों के गुण कर्मों में विपरीतता आना आवश्यक है। अतः सामान्य वृद्धि होने पर दोषों का संचयमात्र हो जाता है और उनके प्राकृत कर्मों में प्रबलता उत्पन्न हो जाती है। परन्तु जब दोष सीमा से अधिक बढ़ जाते हैं तो वातावरण उनके प्रतिकूल हो जाता है और वे उन्मार्गगामी हो जाते हैं। अर्थात् अपने गुण, कर्मों के विपरीत आचरण करने लगते हैं। इससे शारीरिक एवं मानसिक दुःख उत्पन्न होता है और दुःख को ही व्याधि अथवा रोग कहते हैं।

रोग शब्द की निरुक्ति भी यही बताती है 'रुजतीति रोगः' जो रुजा अर्थात् पीड़ा उत्पन्न करे वह रोग है। सुश्रुत संहिता में व्याधि की व्याख्या करते हुए कहा है कि **'तद्दुःखसंयोगा व्याधय उच्यन्ते'**।। सु० सू० 1/21 जिनका संयोग मनुष्य को दुःख देता है वह व्याधि है। व्याधि को आमय भी कहते हैं। आमय का अर्थ है 'आम' से उत्पन्न अर्थात् अधिकांश व्याधियां आम (अपक्वता distrubed digestion and metabolism) से उत्पन्न होती हैं। आम की व्याख्या करते हुए वाग्भट्ट ने कहा है कि—

जठराग्नि के निर्बल होने से आहार का पाचन ठीक प्रकार से नहीं होता है। इस कारण आमाशय में पाचन से उत्पन्न रस भी परिपक्व न होकर दूषित उत्पन्न होता है। इस दूषित रस को 'आम रस' कहते हैं। इस रस के प्रभाव से दोष तथा दोषों द्वारा दूषित दूष्य (सात धातुयें) 'साम' कहलाते हैं। साम—दोष एवं दूष्यों से उत्पन्न रोग भी साम कहे जाते हैं।

उष्मणोऽल्पबलत्वेन धातुमांद्यमपाचितम्।
दुष्टमामाशयगतं रसमामं प्रचक्षते।।
आमेन तेन सम्पृक्ता दोषा दूष्याश्च दूषिताः।।
सामा इत्युपदिश्यन्ते ये च रोगास्तदुद्भवाः।।

अ० हृ० सू० 13/15,27

साम रोग के लक्षण–

साम दोषों के कारण शरीर के स्रोतों में अवरोध उत्पन्न हो जाता है, शारीरिक बल क्षीण हो जाता है, शरीर में भारीपन–आलस्य–क्लम (शीघ्र थक जाना) की दशा हो जाती है, वात क्रियायें ठीक प्रकार से नहीं होती हैं, आहार का पाचन ठीक प्रकार से नहीं होता है, मुख से लार अधिक उत्पन्न होने लगती हैं, मल का अवरोध हो जाता है, और भोजन के प्रति अरुचि हो जाती है। निराम दोषों के लक्षण इनके विपरीत होते हैं।

स्रोतोरोधबलभ्रंशगौरवानिलमूढ़ताः।
आलस्यापक्तिनिष्ठीव-मलसङ्गारुचिक्लमाः।।
लिङ्गं मलानां सामानां निरामाणां विपर्ययः।।

अ० हृ० सू० 13.32, 24

आमाशय तथा आन्त्र में अग्नि मन्द हो जाने के कारण पाचन क्रिया सम्यक् प्रकार से नहीं होती है। इस कुपचित आहार से उत्पन्न आहार रस आम रस कहलाता है। इसी प्रकार शरीर के प्रत्येक ऊतक (tissue) में चयापचय क्रियायें ठीक प्रकार से नहीं होने से उनमें भी आमोत्पत्ति हो जाती है और वात, पित्त व कफ द्वारा संचालित तांत्रिक एवं चयापचय की क्रिया में विकृति आ जाती है। जिस कारण साम दोषों के लक्षण उत्पन्न होते हैं।

साम दोषों के संचय के पश्चात् प्रकोप तथा प्रसर अवस्थायें व्याधि उत्पन्न करती हैं। निराम स्थिति में सुपचित रस द्वारा व्याधि की उत्पत्ति असम्भव होती है। कुपचित आहार द्रव्यों के गुणों के अनुसार ही आम रस की उत्पत्ति होती है। इसलिए आहार द्रव्यों में जिन गुणों की प्रधानता होती है आम रस में भी वही गुण प्रधान होते हैं। ऐसा आम रस उन्हीं गुणों वाले दोषों से संयुक्त होकर उस दोष के प्रकोप का कारण बनता है– यथा रूक्षादि गुण युक्त कुपचित आहार के आम रस का वात से संयुक्त होने से वात का संचय एवं प्रकोप होता है तथा स्निग्ध शीतादि गुण युक्त आमरस के कफ से संयुक्त होने से कफ का संचय एवं प्रकोप होता है।

साम दोष जब शरीरगत धातुओं में प्रविष्ट होकर संचय के बाद प्रकुपित होने लगते हैं तब उनके अनुसार व्याधि लक्षण प्रकट होते हैं। इस अवस्था को सामावस्था कहते हैं। उचित औषध अथवा आहार–विहार से इन संचित एवं प्रकुपित साम दोषों का पाक हो जाता है, यह पच्यमानावस्था है। साम दोषों के पाक होने पर हानिकर द्रव्य पृथक् हो जाते हैं और मूत्र, पुरीष, स्वेद आदि मलों द्वारा शरीर से निष्कासित हो जाते हैं एवं दोष अपने स्थानों पर स्थित हो पुनः अपने प्राकृतिक कर्मों को करने लगते हैं तथा व्याधि पाकावस्था को प्राप्त हो जाती है।

दोषों की अवस्थायें

व्याधि उत्पत्ति में 'दोषवैषम्य' प्रमुख कारण है। शरीर में व्याधि के उत्पन्न होने, बढ़ने तथा शान्त होने में जो क्रम है उसे चरक तथा वाग्भट्ट संहिताओं में तीन अवस्थाओं के रूप में वर्णन किया गया है–

[1] चय [संचय], [2] प्रकोप तथा [3] प्रशम अवस्थायें।

दोष संचय–

दोषों का अपने स्थान पर वृद्धि को प्राप्त कर संचय होना व्याधि की दिशा में प्रथम कदम है। इस अवस्था में किसी प्रकार के बाह्य व्याधि लक्षण प्रकट नहीं होते हैं परन्तु व्यक्ति की रुचि में परिवर्तन हो जाता है। जिन आहार–विहार से दोषवैषम्य में वृद्धि हो सकती है उसके प्रति अरुचि उत्पन्न हो जाती है तथा विपरीत गुणों वाले आहार–विहार के प्रति रुचि पैदा हो जाती है। यथा वातचय में रूक्षादि पदार्थों के प्रति अनिच्छा तथा स्निग्धादि पदार्थों के प्रति इच्छा बढ़ जाती है।

चयो वृद्धिः स्वधाम्न्येव, प्रद्वेषी वृद्धिहेतुषु।
विपरीतगुणेच्छा च। अ० हृ० सू० 12/22

दोष प्रकोप–

दोषों की असंचित तथा अप्रकुपित अवस्था में शारीरिक क्रियायें स्वाभाविक रूप में होती रहती हैं। चयापयच क्रियाओं के परिणामों से ऊतकों की वृद्धि एवं क्षय पूर्ति आदि होती रहती है तथा निस्सार द्रव्यों का शरीर से उनके निश्चित मार्गों द्वारा निष्कासन होता रहता है। इन क्रियाओं के सुचारू रूप से होते रहने से ज्ञात रहता है कि शरीर में दोषों की समता है जबकि संचय अवस्था में दोष अपने–अपने मार्ग से सुख पूर्वक निकलने के स्थान पर जहां संचय के अनुकूल परिस्थितियां हैं वहां संचित होने लगते हैं। इस अवस्था में यदि प्रकृति की चेतावनी 'विपरीत गुणेच्छा' पर ध्यान नहीं दिया गया तो वे दोष स्वस्थानों पर वृद्धि तथा संचित होने के पश्चात् परिस्थितिवश शरीर के अन्य भागों में पहुंचने लगते हैं। यह प्रकोप अवस्था है।

कोपस्तून्मार्गगामिता।
लिङ्गानां दर्शनं स्वेषामस्वास्थ्यं रोगसम्भवः।। अ० हृ० सू० 12/23

(संचय होने के पश्चात्) दोषों का अपने मार्ग को छोड़कर मार्गान्तर में गमन करना कोप कहलाता है। इस अवस्था में प्रकुपित दोषों के लक्षण शरीर में प्रकट होने लगते हैं, शरीर अस्वस्थ हो जाता है और रोग की उत्पत्ति हो जाती है।

दोष की चय अवस्था में यदि विपरीत गुणयुक्त आहार–विहार का सेवन नहीं किया जाएगा तो दोषवैषम्य अन्य भागों में पहुंच विकृति के लक्षणों के रूप में प्रकट होगा और व्यक्ति अपने को अस्वस्थ अनुभव करने लगेगा। इसका भाव यह है कि पहले शरीर क्रियाओं में किसी स्थान विशेष पर अस्वाभाविकता उत्पन्न होती है। यदि उस ओर ध्यान नहीं गया तो इसका प्रभाव अन्य आस–पास के भागों में पहुंच विकृति उत्पन्न करता है और लक्षणों के अनुसार किसी रोग विशेष से पीड़ित हो जाता है।

चरक संहिता में दो प्रकार से होने वाले दोषज प्रकोपों का वर्णन किया गया है (1) काठिन्यज– जो काठिन्य अर्थात् दोषों के संचय से उत्पन्न होता है तथा (2) न्यूनभावज– जो दोष संचय के अभाव में भी हो सकता है यथा अपनी सामर्थ्य से अधिक परिश्रम करने से वात का प्रकोप, क्रोध करने से पित्त का प्रकोप तथा दिन में सोने से कफ का प्रकोप हो जाता है। परन्तु इन दोनों प्रकार के प्रकोपों में दोष विकृति ही प्रधान है, बिना दोषवैषम्य के प्रकोप अवस्था उत्पन्न नहीं होती है।

काठिन्यादूनभावाद्वा दोषोऽन्तःकुपितो महान्।
पथ्यैर्मृद्वल्पतां नीतो मृदुदोषकरो भवेत्।। च० चि. 30/326

काठिन्यज संचय से अथवा न्यूनभावज संचय से कुपित हुआ महान् दोष जब पथ्यों द्वारा मृदु और अल्प कर दिया जाता है तब वह मृदु दोषकर (दारुण विकार रहित) होता है अर्थात् प्रकुपित दोष की अवस्था में यदि अपथ्यों का सेवन किया जायेगा तो दारुण (कष्टकर) विकार शरीर में प्रकट होंगे और यदि पथ्य (उचित औषध और आहार–विहार) का सेवन किया जायेगा तो दोष के प्रकोप का प्रभाव मृदु होगा और फिर समय पाकर दोषवैषम्य दोषसाम्य में परिवर्तित हों रोग शान्त हो जाएगा।

दोष प्रशमन–

यदि प्रकोप अवस्था में उचित औषध तथा पथ्य द्वारा दोषों को शान्त नहीं किया जाता है तो वे समस्त शरीर में व्याप्त हो दारुण व्याधि उत्पन्न करते हैं।

व्याप्नोति सहसा देहमापादतलमस्तकम्।
निवर्तते तु कुपितो मलोऽल्पाल्पं जलौघवत्।। अ० हृ० सू० 12/29

उचित चिकित्सा के अभाव में ये कुपित दोष शरीर में पादतल से मस्तक तक सहसा व्याप्त हो जाते हैं एवं उचित चिकित्सा तथा पथ्य सेवन से निवृत्त होने में, बहुत धीरे–धीरे कम होते हुए उपशम को प्राप्त होते हैं। जैसे अतिवर्षा में जल चारों ओर शीघ्रता से फैल जाता है परन्तु बहुत धीरे–धीरे उतरता है।

दोषों का पुनः विकाररहित हो जाना यह तीसरी 'प्रशमन' अवस्था है।

स्वस्थानस्थस्य समता विकराऽसम्भवः शमः।।अ. हृ० सू० 12/23

दोषों का अपने स्थानों पर पुनः स्थित होना, समता में हो जाना, किसी प्रकार का विकार न रहना शमन है।

प्रशमन स्थिति दो क्रमों में होती है। पहिले प्रकुपित दोषों का क्षय होता है तथा फिर ये साम्यावस्था को प्राप्त होते हैं। दोषक्षय तथा साम्य इन दोषों अवस्था क्रमों की संयुक्त संज्ञा 'प्रशम' है।

पित्त की चय, प्रकोप तथा प्रशम अवस्थायें

गुण प्रभाव–

उष्णेन युक्ता रूक्षाद्या वायोः कुर्वन्ति सञ्चयम्।

शीतेन कोपमुष्णेन शमं स्निग्धादयो गुणाः।।अ० हृ० सू० 12/19

उष्ण गुण युक्त रूक्षादि गुण वाले आहार–विहार वात का संचय करते हैं। शीत गुण युक्त रूक्षादि गुण वाले आहार–विहार वात का प्रकोप करते हैं। उष्ण गुण युक्त स्निग्धादि गुण वाले आहार–विहार वात का प्रशमन करते हैं।

काल प्रभाव–

चयप्रकोपप्रशमा वायोर्ग्रीष्मादिषु त्रिषु।। अ० हृ० सू० 12/24

ग्रीष्म ऋतु में वायु का संचय होता है। वर्षा ऋतु में वात का प्रकोप होता है तथा शरद् ऋतु में वात का प्रशम होता है।

चीयते लघुरूक्षाभिरोषधीभिः समीरणः।

तद्विधस्तद्विधे देहे कालस्यौष्ण्यान्न कुप्यति।। अ० हृ० सू० 12/25

ग्रीष्म ऋतु में वात लघु तथा रूक्ष आहार–विहार के कारण संचित हो, वातप्रधान शरीर में, लघुता तथा रूक्षता उत्पन्न करता है परन्तु ऋतु की उष्णता (रूक्षता की उपस्थिति में उष्णता) के कारण प्रकोप अवस्था को प्राप्त नहीं होता है। अतः ग्रीष्म ऋतु में वात का संचय मात्र होता है।

वर्षा ऋतु में भूमि जल से आर्द्र होती है। शरीर में शीतता की वृद्धि होती है अतः ग्रीष्म ऋतु में उत्पन्न रूक्षादिगुण का शीत गुण से संयोग होने से वात का प्रकोप होता है।

शरद् ऋतु में स्निग्धता की वृद्धि के कारण उष्ण तथा स्निग्ध गुणों के संयोग से प्रकुपित वात शांत हो जाता है।

उषाकाल (रात्रि के अन्तिम प्रहर) तथा अपराह्ण (दिन के अन्तिम प्रहर) में वात स्वभावतः बढ़ा हुआ होता है। अन्न के पाचन की समाप्ति पर भी वात बढा हुआ होता है वृद्धावस्था में शरीर परिपक्व हो जाता है अतः

रसादि धातुओं की पुष्टि यथोचित नहीं होती है जिससे शरीर में वात वृद्धि को प्राप्त हो जाता है। अतः वृद्धावस्था में वातज–व्याधियों की सम्भावना बढ़ जाती है।

प्रकुपित वात के कर्म–

प्रकुपित वात के कारण संधियों की भ्रंशता (स्रंस), विक्षेपण में असमर्थता (व्यास) मुद्गरवत् ताड़न (व्यध), स्पर्शज्ञान का अभाव (स्वाप), स्वकार्य में असमर्थता (साद), शूल, सूचिवेधन के समान पीड़ा (तोद), भेदनवत् पीड़ा, सधि स्थलों में स्थिरता (संग), अंग का टूटना, अंगों का सिकुड़ना, शोष, स्पंदन, वेष्टनवत् पीड़ा, अंगों का स्तम्भ, मुख के स्वाद में कषायता, वर्ण का काष्र्ण्य अथवा अरुण हो जाना आदि विकृतियां हो जाती हैं।

स्रंसव्यासव्यधस्वापसादरुक्तोदभेदनम्।
सङ्गांगभङ्गसंकोचवर्तहर्षणतर्पणम्।
कम्पपारुष्यसौषिर्यशोषस्पंदनवेष्टनम्।
स्तम्भः कषायरसता वर्णः श्यावोऽरुणोऽपि वा।
कर्माणि वायोः।। अ० हृ० सू० 12/49, 50

वात प्रशमन के उपाय–

वात के प्राकृत गुण रूक्ष, लघु, सूक्ष्म, चल, विशद एवं खर के विपरीत स्निग्ध, उष्ण, गुरु स्थूल, मृदु, पिच्छिल तथा श्लक्ष्ण गुण वाले आहार–विहार से प्रकुपित वात का शमन हो जाता है।

रूक्षः शीतो लघुः सूक्ष्मश्चलोऽथ विशदः खरः।
विपरीतगुणैर्द्रव्यैर्मारुतः संप्रशाम्यति।। च० सू० 1/58

वात प्रकोप में स्नेहन एवं स्वेदन के पश्चात् मृदु विरेचन देना चाहिए उसके बाद वातनाशक द्रव्यों से सिद्ध पेयादि पान करने के लिए दें एवं मधुर, अम्ल तथा लवण रसों से युक्त, उष्ण, स्निग्ध भोजन खाने के लिए दें। वातनाशक तैलों से शरीर पर मालिस करायें। यदि अंगों में पीड़ा है तो उष्ण तैल मर्दन के बाद पट्टी बांध दें। उन्माद आदि व्याधियों में भय [त्रास] दिखावे। शोथ में वातहर क्वाथों का सेवन कराये। वात विकारों में गौड़ी [गुड़ से बनी] पैष्टिक मद्य सेवन कराये। नियमानुकूल उष्ण, स्निग्ध वस्ति का प्रयोग लाभदायक होता है। रोगी को सुखपूर्वक रखना चाहिए।

दीपन तथा पाचन द्रव्यों से सिद्ध स्नेह, तैल, घृत आदि का सेवन तथा मेदप्रधान द्रव्यों से सिद्ध तैलों की अनुवासन वस्ति का प्रयोग विशेष रूप से वात का शमन करता है।

वातस्योपक्रमः स्नेहः स्वेदः संशोधनं मृदु।
स्वाद्वम्ललवणोष्णानि भोज्यान्यभ्यंगमर्दनम्।।
वेष्टनं त्रासनं सेको मद्यपैष्टिकगौडिकम्।
स्निग्धोष्णा वस्तयो वस्तिनियमः सुखशीलता।।
दीपनैः पाचनैः सिद्धाः स्नेहाश्चानेकयोनयः।
विशेषान्मेध्यं पिशितरसतैलानुवासनम्।। अ० हृ० सू० 13/1-3

वातहर कर्मों में वस्तिकर्म श्रेष्ठ है अतः वात विकारों में वस्तिकर्म द्वारा वात का शमन करना चाहिए।

वस्तिर्वातहराणां श्रेष्ठम्।। च० सू० 25/39

वस्तिर्वातविकारान्।। अ० हृ० सू० 40/57

वात, पित्त, कफ के प्रकोप से सामान्य लक्षण व शामक चिकित्सा–

वात प्रकोप में शूल, पित्त प्रकोप में दाह तथा कफ प्रकोप में शोथ अवश्य होता है।

शूलं नर्तेऽनिलाद्दाहः पित्ताच्छोफः कफोदयात्।।

प्रकुपित वात के शमन के लिए वस्ति कर्म, प्रकुपित पित्त के शमन के लिए विरेचन कर्म तथा प्रकुपित्त कफ के शमन के लिए वमन कर्म श्रेष्ठ है।

वस्तिर्वातविकारान् पैत्तान् रेकः, कफोद्भवान् वमनम्।।

अ० हृ० सू० 40/57

वात शमन के लिए तैल, पित्त शमन के लिए घृत तथा कफ शमन के लिए मधु उत्तम पथ्य है।

वाते पित्ते श्लेष्मशान्तौ च पथ्यम्।
तैलं सर्पिर्माक्षिकं च क्रमेण।। अ० हृ० सू० 40/86

वात की चय, प्रकोप तथा प्रशम अवस्थायें

गुण प्रभाव–

शीतेन युक्तास्तीक्ष्णाद्याश्चयं पित्तस्य कुर्वते।
उष्णेन कोपं मंदाद्याः शमं शीतोपसंहिताः।। अ० हृ० सू० 12/20

शीत गुणयुक्त, तीक्ष्ण गुण वाले आहार–विहार पित्त का संचय करते हैं। उष्ण, गुणयुक्त तीक्ष्ण गुण वाले आहार–विहार पित्त का प्रकोप करते हैं तथा शीतगुणयुक्त मन्द गुणवाले आहार–विहार पित्त का शमन करते हैं।

काल प्रभाव–

चयप्रकोपप्रशमा वर्षादिषु त्रिषु। तु पित्तस्य अ० हृ० सू० 12/14

वर्षा ऋतु में पित्त का संचय होता है। शरद् ऋतु में पित्त का प्रकोप

होता है तथा हेमन्त ऋतु में पित्त का शमन होता है।

अद्भिरम्लविपकाभिरोषधीभिश्च तादृशम्।
पित्तं याति चयं कोपं न तु कालस्य शैत्यतः।।

अ० हृ० सू० 12/26

वर्षा ऋतु में अम्ल विपाकी आहार आदि के सेवन से पित्त का संचय होता है, इस समय पित्त का केवल संचय ही होता है क्योंकि वर्षाजनित शीत के कारण उनका प्रकोप नहीं होता है।

शरद् ऋतु में वर्षा समाप्त हो जाती है। सूर्य की किरणें प्रखर हो जाती हैं। इससे उष्णता पाकर संचित पित्त प्रकुपित हो जाता है।

हेमन्त ऋतु में शीत की वृद्धि होने पर पित्त–शामक गुण प्रबल हो जाते हैं जिससे प्रकुपित पित्त का शमन हो जाता है।

मध्याह्न तथा रात्रि के समय और भोजन पाचन के समय पित्त का स्वाभाविक प्रकोप रहता है। आयु के मध्य अर्थात् यौवनावस्था में भी पित्त बलवान् (बढा हुआ) रहता है।

प्रकुपित पित्त के कर्म–

प्रकुपित पित्त शरीर में दाह, रक्तता, उष्णता को उत्पन्न करता है। व्रण आदि को पकाता है। स्वेद, क्लेद, स्राव, कोथ, अवसाद, मूर्च्छा एवं मद के नशे के समान लक्षणों की वृद्धि करता है। मुख का स्वाद कटु या अम्ल हो जाता है तथा शरीर का वर्ण पाण्डुर और अरुण वर्ण के अतिरिक्त अन्य वर्णों का हो जाता है।

पित्त प्रकोप के बिना शरीर में दाह नहीं होता है अतः पित्त प्रकोपजन्य व्याधियां दाहात्मक होती हैं।

पित्तस्य दाहरागोष्मपाकिताः।
स्वेदः क्लेदः स्त्रुतिः कोथः सदनं मूर्च्छनं मदः।
कटुकाम्लौ रसौ वर्णः पाण्डुरारुणवर्जितः।। अ० हृ० सू० 12/52

पित्त शमन के उपाय–

स्नेहयुक्त उष्ण, तीक्ष्ण, द्रव, अम्ल, सर और कटु ये गुण पित्त द्रव्यों में होते हैं। इन गुणों के विपरीत स्निग्धतायुक्त शीत, मृदु, सान्द्र, कषाय तिक्त, मधुर गुण वाले द्रव्यों के सेवन से पित्त का शमन होता है।

सस्नेहमुष्णं तीक्ष्णं च द्रवमम्लं सरं कटु।
विपरीतगुणैः पित्तं द्रव्यैराशु प्रशाम्यति।। च० सू० 1/59

प्रकुपित पित्त को शांत करने के लिए मधुर और शीतल द्रव्यों से सिद्ध

किया हुआ घृत पान करावे तथा मधुर और शीत गुण वाले द्रव्यों से विरेचन करावे। मधुर तिक्त कषाय गुण युक्त आहार तथा औषध का सेवन कराना लाभप्रद है।

पित्तस्य सर्पिषः पानं स्वादुशीतैर्विरेचनम्।
स्वादुतिक्तकषायाणि भोजनान्यौषाधानि च।।
सौम्या भावाः पयः सर्पिर्विरेकश्च विशेषतः।

अ० हृ० सू० 13/45

पित्त के शमन के लिए विरेचन कराना श्रेष्ठ होता है। अतः पित्त के विकारों को विरेचन द्वारा शमन करें। यह पहिले कह आये हैं कि पित्त शमन के लिए घृत पथ्य है।

विरेचनं पित्तहराणां श्रेष्ठम्।
पैत्तान् रेकः।

कफ की चय, प्रकोप तथा प्रशम अवस्थायें

गुण प्रभाव—

शीतेन युक्ताः स्निग्धाद्याः कुर्वते श्लेष्मणश्चयम्।
उष्णेन कोपं तेनैव गुणा रूक्षादयः शमम्।।अ० हृ० सू० 11/21

शीत गुणयुक्त स्निग्ध गुणवाले आहार–विहार कफ का संचय करते हैं। उष्ण गुणयुक्त स्निग्ध गुणवाले आहार–विहार कफ का प्रकोप करते हैं तथा शीत गुणयुक्त रूक्ष गुणवाले आहार–विहार कफ का शमन करते हैं।

काल प्रभाव—

चयप्रकोपप्रशमा श्लेष्मणः शिशिरादिषु त्रिषु।।

अ० हृ० सू० 12/24

शिशिर (हेमन्त) ऋतु में कफ का संचय होता है। (प्रभाव की पुष्टि से शिशिर एवं हेमन्त ऋतु एक समान होती हैं) वसन्त ऋतु में कफ का प्रकोप होता है। ग्रीष्म ऋतु में कफ का शमन होता है।

चीयते स्निग्धशीताभिरुदकौषधिभिः कफः।
तुल्येऽपि काले देहे च स्कन्नत्वान्न प्रकुप्यति।।

अ० हृ० सू० 12/27

शिशिर (हेमन्त) ऋतु में शीतादि गुण युक्त आहार आदि के कारण कफ का संचय होता है। शरीर तथा ऋतु दोनों के गुण कफ के समान होते हुए भी अति शीत होने के कारण शीतलता में स्निग्धता बढ़ जाती है। अतः कफ का प्रकोप नहीं होता है।

वसन्त ऋतु में शीत कम हो जाता है। अतः स्निग्धता से उष्णता का संयोग होने पर कफ का प्रकोप होता है।

ग्रीष्म ऋतु आने पर स्निग्ध के स्थान पर रूक्ष आदि भाव प्रबल हो जाते हैं अतः कफ का शमन हो जाता है।

पूर्वार्द्ध (दिन के पहिले प्रहर) तथा प्रदोष (रात्रि के अन्तिम प्रहर) में तथा बचपन में श्लेष्मा स्वभावतः बलवान् होता है।

प्रकुपित कफ के कर्म–

प्रकुपित कफ स्निग्धता, काठिन्य, कण्डू, शीतता, अंगों में भारीपन, स्रोतों का बन्ध, मुख में उपलेप, शरीर का आर्द्र प्रतीत होना, शोथ, अग्निमान्द्य, अति निद्रा, वर्ण का श्वेत होना, मुख का स्वाद मधुर या लवण रस होना तथा सब कार्यों को देर से करना (आलस्य) आदि विकार उत्पन्न करता है।

कफ प्रकोप के बिना शोथ नहीं होता। शोथात्मक व्याधियां कफ प्रकोप के कारण होती हैं।

श्लेष्मणः स्नेहकाठिन्यकण्डूशीतत्वगौरवम्।
बंधोपलेपस्तैमित्य–शोफापक्त्यतिनिद्रिताः।
वर्णः श्वेतो रसौ स्वादुलवणौ चिरकारिता।। अ० हृ० सू० 12/53

कफ प्रशमन के उपाय–

गुरु, शीत, मृदु, स्निग्ध, मधुर, स्थिर, तथा पिच्छिल ये श्लेष्मा के गुण हैं इन गुणों के विपरीत लघु, उष्ण, तीक्ष्ण, रूक्ष, कटु आदि रस, सर तथा विशद गुणों वाले आहार-विहार द्वारा कफ शान्त होता है।

गुरुशीतमृदुस्निग्धमधुरस्थिरपिच्छिलाः।।
श्लेष्मणः प्रशमं यान्ति विपरीतगुणैर्गुणाः।। च० सू०1/69

कफ के शमन के लिए विधिपूर्वक तीक्ष्ण वमन तथा विरेचन कराना चाहिए। कम मात्रा में रूक्ष, तीक्ष्ण, उष्णयुक्त, कटु, तिक्त तथा कषाय रस प्रधान आहार का सेवन करना उपयोगी होता है।

श्लेष्मणो विधिना युक्तं तीक्ष्णं वमनरेचनम्।
अन्नं रूक्षाल्पतीक्ष्णोष्णं कटुतिक्तकषायकम्।। अ० हृ० सू० 13/10

कफ की वृद्धि की दशा में उस पर विजय पाने के लिए वमन कराना श्रेष्ठ है। अतः कफ विकारों के शमन के लिए वमन कराना चाहिए।

वमनं श्लेष्महराणाम् श्रेष्ठम्।। च० सू० 25/39
विशेषाद्वमनम्। अ० हृ० सू० 13/10

कफोद्भवान् वमनम्।। अ० हृ० सु० 40/47

जैसा पीछे बता आये हैं कि मधु कफ का प्रशमन करनेवाले द्रव्यों में सर्वश्रेष्ठ है। मधु मधुर होता हुआ भी विपाक में कटु है, अतः कफ को शान्त रखता है।

दोषों पर ऋतुओं का प्रभाव

ऋतुओं का द्रव्यों के रसों पर प्रभाव–

एक वर्ष में 6 ऋतुयें होती हैं। इसका विभाजन दो प्रकार से किया जाता है। आहार तथा औषध द्रव्यों में मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त एवं कषाय रसों की उत्पत्ति जलवायु द्वारा प्रभावित होती है। इस दृष्टि से प्रत्येक वर्ष को 6 ऋतुओं में विभाजित किया गया है। इनके नाम हैं– (1) शिशिर, (2) वसन्त, (3) ग्रीष्म, (4) वर्षा, (5) शरद तथा (6) हेमन्त। सूर्य की स्थिति इन ऋतुओं की उत्पत्ति में कारण है। इस कारण इन ऋतुओं की स्थिति निम्न प्रकार से है।

उत्तरायण (आदान काल)

ऋतुयें	मास	राशि	ईसवी मास
शिशिर–	माघ (तप) तथा फाल्गुन (तपस्य),	मकर कुम्भ	जनवरी, फरवरी।
वसन्त–	चैक्ष (मधु) तथा वैशाख (माधव),	मीन, मेष,	मार्च, अप्रैल।
ग्रीष्म–	जेष्ठ (शुचि) तथा आषाढ़ (शुक्र),	वृष, मिथुन,	मई, जून।

दक्षिणायन (विसर्ग काल)

ऋतुयें	मास	राशि	ईसवी मास
वर्षा–	श्रावण [नभ] तथा भाद्रपद [नभस्य],	कर्क, सिंह,	जुलाई, अगस्त।
शरद–	आश्विन [इष] तथा कार्तिक [ऊर्ज],	कन्या, तुला,	सितम्बर, अक्तूबर।
हेमन्त–	मार्गशीर्ष [सह] तथा पौष [सहस्य],	वृश्चिक, धन,	नवम्बर, दिसम्बर।

प्राचीन समय में महीनों के नाम चैत्र, वैसाख आदि ही नहीं होते थे। वरन् चैत्र के स्थान पर मधु, वैसाख के स्थान पर माधव, इसी प्रकार जेष्ठ–शुचि, आषाढ़–शुक्र, श्रावण–नभ, भाद्रपद–नभस्य, आश्विन–इष, कार्तिक–ऊर्ज, मार्गशीर्ष–सह, पौष–सहस्य, माघ–तप तथा फाल्गुन–तपस्य भी कहे जाते थे।

आदान काल (उत्तरायण) आग्नेय है। इस काल में वायु रूक्ष होती है और द्रव्यों में रूक्ष गुणवाले कटु, तिक्त और कषाय रसों की वृद्धि होती है। मनुष्यों का बल भी क्षीण हो जाता है। इसके विपरीत विसर्ग काल [दक्षिणायन] सौम्य है। इस काल में वायु में रूक्षता अल्प होने के कारण अरूक्ष गुणवाले

मधुर, अम्ल और लवण रसों की वृद्धि होती है तथा मनुष्यों में बल का संचय होता है।

आदावन्ते च दौर्बल्यं विसर्गादानयोर्नृणाम्।
मध्ये मध्यबलं, त्वन्ते श्रेष्ठमग्रे च निर्दिशेत्।। च० सू० 6/7

आदान काल के अन्त में तथा विसर्ग काल के प्रारम्भ में अर्थात् ग्रीष्म एवं वर्षा ऋतु में मनुष्यों का बल क्षीण रहता है। आदान काल के मध्य तथा विसर्ग काल के भी मध्य में अर्थात् वसन्त एवं शरद ऋतुओं में मनुष्यों का बल मध्यम रहता है। आदान काल के प्रारम्भ तथा विसर्ग काल के अन्त में अर्थात् शिशिर एवं हेमन्त ऋतुओं में मनुष्यों में श्रेष्ठ बल रहता है।

विभिन्न ऋतुओं में मनुष्य अपने बल एवं स्वास्थ्य को उस समय ही बनाये रख सकते हैं जब कि वे अपना आहार–विहार ऋतुओं के अनुकूल रक्खें। ऋतुओं के अनुसार सेवनीय आहार–विहार पथ्य होता है।

तस्याशिताद्यादाहाराद्बलं वर्णश्च वर्धते।
तस्यर्तुसात्म्यं विदितं चेष्टाहारव्यपाश्रयम्।। च० सू० 6/2

जो मनुष्य आहार–विहार सम्बन्धी ऋतुसात्म्य आर्थात् ऋतुओं के अनुसार आहार–विहार के तरीकों की ठीक प्रकार से जानकर तदनुसार उपभोग करता है उसको चारों प्रकार के आहार (अशित, पीत, लीढ़ तथा खादित) से बल, वर्ण आदि की प्राप्ति होती है।

ऋतुओं का दोषों पर प्रभाव–

दोषानुसार ऋतुचर्या की दृष्टि से शिशिर तथा हेमन्त ऋतु एक समान हैं। आचार्य चरक ने इस सम्बन्ध में कहा है कि **'हेमन्तशिशिरे तुल्ये'**, च० सू० 6/18 अर्थात् हेमन्त और शिशिर ऋतुयें एक दूसरे के समान हैं। आचार्य सुश्रुत ने भी यही कहा है कि **'शिशिरे हेमन्तवत् सर्वं विज्ञेयं लक्षणं बुधैः।।'** सु० सू० 6/25 अर्थात् शिशिर ऋतु के समस्त लक्षण हेमन्त ऋतु के समान होते हैं ऐसा बुद्धिमान् मनुष्य को समझना चाहिए। अतः दोनों के संचय, प्रकोप तथा प्रशमन को दृष्टि में रखते हुए शिशिर ऋतु का वर्णन नहीं किया गया है वरन् केवल हेमन्त ऋतु के अन्तर्गत दोनों ऋतुओं को समझ लिया गया है।

इह तु वर्षाशरद्धेमन्तवसन्तग्रीष्मप्रावृषः षड्ऋतवो भवन्ति दोषोपचयप्रकोपोपशमनिमित्तम्।।

यहां (चिकित्सा में) दोषों के संचय, प्रकोप और प्रशम की दृष्टि से वर्षा, शरद, हेमन्त, वसन्त, ग्रीष्म तथा प्रावृट् ये 6 ऋतुयें होती हैं।

भाद्रपदाश्वयुजौ वर्षाः। कार्तिकमार्गशीर्षौ शरत्, पौषमाघौ हेमन्तः, फाल्गुनचैत्रौ वसन्तः, वैशाखज्येष्ठौ ग्रीष्मः आषाढश्रावणौ प्रावृडिति।
सु० सू० 6/9

ऋतु	मास	राशि	ईसवी मास
वर्षा	भाद्रपद, आश्विन;	कन्या;	अगस्त, सितम्बर,
शरद्	कार्तिक, मार्गशीर्ष;	तुला, वृश्चिक;	अक्तूबर, नवम्बर,
हेमन्त	पौष, माघ;	धन, मकर;	दिसम्बर, जनवरी
वसन्त	फाल्गुन, चैत्र;	कुम्भ, मीन;	फरवरी, मार्च
ग्रीष्म	वैशाख, ज्येष्ठ;	मेष, वृष;	अप्रैल, मई
प्रावट्	आषाढ़, श्रावण;	मिथुन, कर्क;	जून, जुलाई

हेमन्तो ग्रीष्मो वर्षा चेति शीतोष्णवर्षलक्षणास्त्रय ऋतवो भवन्ति, तेषामन्तरेष्वितरे साधारणलक्षणास्त्रय ऋतवः प्रावट्शरद्वसन्ता इति।
च० वि० 8/134

सर्दी, गर्मी एवं वर्षा के लक्षणों के अनुसार (1) हेमन्त ऋतु, (2) ग्रीष्म ऋतु (3) वर्षा ऋतु मुख्य ऋतुयें हैं एवं (1) प्रावट् ऋतु, (2) शरद ऋतु तथा (3) वसन्त ऋतु साधारण ऋतुयें हैं। अतः प्रावट् ऋतु (आषाढ़, श्रावण) में साधारण वर्षा होती है और वर्षा ऋतु (भाद्रपद, अश्विन) में अधिक वर्षा होती है, शरद ऋतु (कार्तिक, मार्गशीष) में साधारण सर्दी पड़ती है ओर हेमन्त ऋतु (पौष, माघ) में अधिक सर्दी पड़ती है, वसन्त ऋतु (फाल्गुन, चैत्र) में साधारण गर्मी पड़ती है और ग्रीष्म ऋतु (वैशाख, ज्येष्ठ) में अधिक गर्मी पड़ती है।

साधारण ऋतुओं में ही दोषों के प्रकोश होते हैं यथा ग्रीष्म ऋतु में अति उष्णता के कारण वात का संचय होता है जिसका बाद की प्रावृट् ऋतु में प्रकोप होता है, वर्षा ऋतु में पाचकाग्नि के मन्द होने के कारण पित्त का संचय होता है जिनका बाद की शरद ऋतु में प्रकोप होता है तथा हेमन्त ऋतु में अति शीत के कारण कफ का संचय होता है जिसका बाद की वसन्त ऋतु में प्रकोप होता है। इसलिए साधारण ऋतुओं में ही वमन आदि संशोधन कर्मों के द्वारा दोषों का शमन करना चाहिए। मुख्य ऋतुओं (हेमन्त, ग्रीष्म, वर्षा) में ये कर्म नहीं कराने चाहिएं।

साधारणलक्षणेष्वृतुषु वमनादीनां प्रवृत्तिर्विधीयते, निवृत्तिरितरेषु।
च० वि० 8/135

दोषों पर ऋतुओं के प्रभाव

नाम	संचय	प्रकोप	शमन
	ग्रीष्म ऋतु	प्रावट् वर्षा ऋतु	शरद ऋतु
वात	वैशाख, ज्येष्ठ	आषाढ़, श्रावण	कार्तिक, मार्गशीर्ष
	अप्रैल, मई	जून, जुलाई	अक्टूबर, नवम्बर
	वर्षा ऋतु	शरद् ऋतु	हेमन्त ऋतु
पित्त	भाद्रपद, आश्विन	कार्तिक, मार्गशीर्ष	पौष, माघ
	अगस्त, सितम्बर	अक्टूबर, नवम्बर	दिसम्बर, जनवरी
	हेमन्त ऋतु	वसन्त ऋतु	ग्रीष्म ऋतु
कफ	पौष, माघ	फाल्गुन, चैत्र	वैशाख, ज्येष्ठ
	दिसम्बर, जनवरी	फरवरी, मार्च	अप्रैल, मई

अहोरात्र में त्रिदोषों का प्रभाव—

पूर्वाह्णे वसन्तस्य लिङ्गम्, मध्याह्ने ग्रीष्मस्य, अपराह्णे प्रावृषः, प्रदोषे वार्षिकम्। शारदमर्धरात्रे, प्रत्युषसि हेमन्तमुपलक्षयेत्। एवमहोरात्रमपि वर्षमिव शीतोष्णवर्षलक्षणं दोषोपचयप्रकोपोपशमैर्जानीयात्।।

सु० सू० 6/15

दिन में, दोपहर के पूर्व वसन्त ऋतु के समान लक्षण होते हैं। दोपहर में ग्रीष्म ऋतु के समान, तीसरे पहर प्रावृट् ऋतु के समान, सांयकाल में वर्षा के समान, अर्धरात्रि तक शरद् ऋतु के समान तथा अर्धरात्रि के पश्चात् हेमन्त ऋतु के समान लक्षण होवे हैं। इस प्रकार अहोरात्र (दिन रात के चौबीस घण्टे) वर्ष के समान शीत, उष्ण तथा वर्षा के लक्षणों से युक्त दोषों के संचय, प्रकोप और शमन के कारण होते हैं। यथा—

पूर्वाह्ण में वसन्त ऋतु के समान कफ का प्रकोप होता है। मध्याह्न में ग्रीष्म ऋतु के समान कफ का शमन तथा वात का संचय होता है। अपराह्ण में प्रावृट् ऋतु के समान वात का प्रकोप होता है। प्रदोष (सायंकाल) में वर्षा ऋतु के समान पित्त का संचय होता है। अर्धरात्रि में शरद ऋतु के समान वात का शमन तथा प्रकोप होता है। प्रत्युष (अर्ध रात्रि के पश्चात्) में हेमन्त ऋतु में समान पित्त का शमन तथा कफ का संचय होता है।

क्रिया काल

चरक तथा वाग्भट्ट संहितायें मुख्य रूप से कायचिकित्साप्रधान ग्रन्थ हैं। इन ग्रन्थों में रोग की संचय, प्रकोप तथा शमन अवस्थाओं द्वारा रोग का प्रारम्भिक अप्रकट रूप, प्रकट होकर रोग के लक्षण तथा रोग का शांत हो जाना बताया गया है परन्तु सुश्रुत संहिता प्रधानतः शल्यचिकित्सा का ग्रन्थ है। इसमें उन व्याधियों का विस्तार से वर्णन किया गया है जो प्रारम्भ में अभिघातज अथवा शल्यजन्य हैं। इसलिए व्याधि विकास का विस्तृत वर्णन इस ग्रन्थ में मिलता है। प्रारम्भ से अन्त तक व्याधि की 6 चिकित्सा अवस्थाओं का वर्णन 6 क्रियाकालों के रूप में किया गया है। इन्हीं क्रियाकालों के अन्तर्गत व्याधि की अवस्थायें भी बताई गई हैं।

संचयं च प्रकोचं च प्रसरं स्थानसंश्रयम्।
व्यक्तिं भेदं च यो वेत्ति दोषाणां स भवेद्भिषक्।।

सु० सू० 21/35

जो चिकित्सक दोषों की (1) चय, (2) प्रकोप, (3) प्रसर, (4) स्थानसंश्रय, (5) व्यक्ति तथा (6) भेद अवस्थाओं को जानता है वही (सफल) चिकित्सक है।

संचयावस्था– प्रथम क्रियाकाल–

वात–पित्त–कफ के अपने–अपने जो स्थान हैं उन स्थानों पर ये दोष संचित हो जाते हैं। इन संचित दोषों के लक्षण हैं– वात के संचय होने पर स्तब्ध–कोष्ठता (कब्ज़) तथा पूर्ण कोष्ठता (कोष्ठ में मल भरा हुआ) होता है। पित्त के संचय होने पर पीतावभावसता (शरीर से पीले वर्ण आभा) तथा मन्दोष्मता होती है। मन्दोष्मता का अर्थ ऊष्मा का मन्द हो जाना है। परन्तु पित्त संचय होने पर ऊष्मा की वृद्धि होनी चाहिए अतः यहां पर मन्दोष्मता का अर्थ है कि पित्त के संचय पर शरीर के तापमान में मन्द [थोड़ी] वृद्धि होती है। अधिक वृद्धि होना पित्त के प्रकोप का लक्षण होता है। कफ के संचय होने पर अंगगौरव, अंगों में भारीपन और आलस्य लक्षण होते हैं। तीनों दोषों में संचय के समय संचय के कारणों से [उस समय के आहार–विहार से] विद्वेष [अरुचि] होती है। संचयकाल, दोषों को पुनः साम्यावस्था में लाने का प्रथम अवसर होता है अतः यह प्रथम क्रिया काल है।

संचयेऽपहृता दोषा लभन्ते नोत्तराः गतीः।
ते तूत्तरासु गतिषु भवन्ति बलवत्तराः। सु० सू० 21/36

संचयावस्था में यदि दोषों को उपचार **द्वारा शान्त** कर दिया जाता है तो

वे बाद की प्रकोप आदि अवस्थाओं को प्राप्त नहीं होते हैं यदि ऐसा नहीं किया गया तो ये संचित दोष उत्तर अवस्थाओं में उत्तरोतर बलवान् होते चले जाते हैं अर्थात् रोगी का कष्ट बढ़ता चला जाता है तथा चिकित्सा भी कठिन हो जाती है।

दोषों के संचय के कारणों पर पहिले ही विचार किया जा चुका है।

प्रकोपावस्था द्वितीय क्रियाकाल–

संचयावस्था में चिकित्सा नहीं करने से दोष, जो अपने ही स्थानों पर संचित थे, उन्मार्गगामी हो जाते हैं संचयावस्था को प्रकोपावस्था में परिवर्तित करने में आहार–विहार तथा काल में अनियमिततायें कारण होती हैं।

वातप्रकोपक कारण– (सु० सू० 21/18-19)

विहारजन्य कारण–अति बलवान् से लड़ना, अति व्यायाम, अति मैथुन, अति अध्ययन, गिर पड़ना, अधिक दौड़ना–भागना, मोच आदि के कारण पीड़ा होना, चोट लगना, ऊंचाई से कूदना, कूदते हुए चलना, अधिक तैरना, लगातार रात्रि जागरण, भारी भार उठाना, हाथी–घोड़े या रथ की अधिक देर तक सवारी करना, अति पैदल चलना, अधोवायु–मूत्र–पुरीष–वीर्य–छर्दि–छींक–डकार–अश्रु आदि के वेगों को रोकना आदि वातप्रकोप के विहारजन्य कारण हैं।

आहारजन्य कारण– कटु, तिक्त, कषाय, रूक्ष, लघु, शीतवीर्य पदार्थों का अति सेवन करना, यथा– शुष्क साग, सब्जी, शुष्क मांस, वरक, उद्दालक, कोरदूष, श्यामक, नीवार, मूंग, मसूर, अरहर, हरेणु, मटर, निष्पाव आदि का अधिक मात्रा में सेवन करना। अनशन (उपवास), अध्यशन (पूर्व के किये भोजन के पचने से पूर्व पुनः भोजन करना), विषमाशन (बिना भोजन के समय के भोजन करना अथवा अल्प या अधिक मात्रा में भोजन करना) आदि वातप्रकोप के आहारजन्य कारण हैं।

कालजन्य कारण– शीत काल में, बादलों के समय, तेज हवा चलते समय, विशेषकर वर्षा ऋतु में, प्रातः एवं अपराह्ण में तथा अन्न के पूर्णरूप से पचने के समय वात प्रकुपित होता है।

पित्तप्रकोपक कारण– (सु० सू० 21/20-21)

विहारजन्य कारण– क्रोध, शोक, भय, परिश्रम, सूर्य–संताप (धूप का अधिक सेवन), मैथुन, घूमने आदि की अधिकता से पित्त प्रकुपित हो जाता है।

आहारजन्य कारण– कटु, अम्ल, लवण, तीक्ष्ण, उष्ण, लघु, दाह, उत्पन्न करने वाले पदार्थ, तिल का तैल, तिलों का खल, कुलत्थ, सरसों, अलसी,

हरे शाक, गोधा मछली, बकरे तथा भेड़ का मांस, दही, मट्ठा कुर्चिका (दही या मट्ठे के साथ पकाया हुआ अन्न), मस्तु (दही के ऊपर का पानी), सौबीरक, मद्य, खट्टे फल, कट्वर (स्नेहयुक्त, खट्टा मट्ठा) आदि के अति सेवन से पित्त प्रकुपित हो जाता है।

कालजन्य कारण– उष्ण पदार्थों के उष्णकाल में अति सेवन से तथा वर्षा काल के पश्चात् मध्याह्न और अर्ध–रात्रि के समय तथा भोजन के पचने के समय पित्त विशेषतः प्रकुपित होता है।

कफप्रकोपक कारण– (सु० सू० 21/22-23)

विहारजन्य कारण– दिन में अधिक सोना, शारीरिक परिश्रम न करना तथा अधिक आलस्य करना, कफ के प्रकोप के कारण हैं।

आहारजन्य कारण– मधुर, अम्ल, लवण, शीत, स्निग्ध, गुरु, पिच्छिल, अभिष्यन्दी आदि कफवर्धक पदार्थों का अति सेवन, तथा– हायनक, जौ, नैषध, इत्कट, माष (उड़द), महामाष, गेहूँ, तिल तथा पिष्टि के पदार्थ, दही, दूध, तिल, चावल, उड़द की खिचड़ी, खीर, गन्ने के रस के पदार्थ, आनूप तथा औदक प्राणियों का मांस, वसा, कमलबाल, कसेरु, सिंघाड़े, मधुर फल, वल्लीफल आदि का अति सेवन, समशन (पथ्य तथा अपथ्य दोनों प्रकार के आहार का एक साथ सेवन) तथा अध्यशन (पूर्व के आहार के पचने से पूर्व ही पुनः आहार लेना) कफ प्रकोप में हेतु हैं।

कालजन्य आहार– शीतल पदार्थों का शीतकाल में अति सेवन से एवं वसन्त ऋतु में पूर्वाह्ण और प्रदोष के समय तथा भोजन करते समय कफ विशेष रूप से प्रकुपित होता है।

वात पित्त कफ प्रकोप के लक्षण–

तेषां प्रकोपात् कोष्ठतोदसंचरणाम्लिकापिपासापरिदाहान्नद्वेष-हृदयोत्क्लेदाश्च जायन्ते। तत्र द्वितीयः क्रियाकालः।। सु० सू० 21/26

इन दोषों के प्रकोप के समय–

पेट में पीड़ा तथा वायु का संचार– वात प्रकोप के कारण होता है।

खट्टी डकार, प्यास और दाह– पित्त प्रकोप के कारण होते हैं।

अन्न द्वेष तथा जी मिचलाना– कफ प्रकोप के कारण होता है।

यह चिकित्सा का दूसरा अवसर होता है। यदि दोषों की प्रकोप अवस्था में उचित चिकित्सा नहीं की गई तो प्रकुपित दोष प्रसरावस्था को प्राप्त हो जाते हैं।

प्रसरावस्था– तृतीयकाल

द्वितीय क्रियाकाल में समुचित चिकित्सा न होने से प्रकुपित दोष शरीर के

विमार्गों में गमन कर जाते हैं और जहां पहुंचते हैं वहीं विकार उत्पन्न करते हैं। यह दोषों के विषम होंने की तृतीय प्रसरावस्था है।

जिस प्रकार किण्व (yeast), जल तथा पिष्टी को मिलाकर कुछ काल रखने से उनमें उफान (किण्वीकरण–fermentation) पैदा होता है और वह बर्तन के चारों ओर से बाहर निकलने लगता है, उसी प्रकार प्रकोपजन्य कारणों से प्रकुपित दोष उचित चिकित्सा के अभाव में प्रसरता को प्राप्त कर जाते हैं।

वात के अतिरिक्त अन्य दो दोष गतिहीन होते हैं और वात गतिमान् होने के कारण इनके (पित्त एवं कफ के) प्रसरण का कारण होता है। समस्त मानसिक भावों का रजोगुण प्रवर्त्तक है और वात रजोगुणप्रधान है।

जिस प्रकार जल के अधिक संचय और अधिक बढ़ने से वह बांध को तोड़कर दूसरे जलों से मिलकर सर्वत्र फैल जाता है इसी प्रकार दोष भी (अति संचय तथा प्रकुपित हो जाने के कारण) अकेले, दो मिलकर, तीनों मिलकर अथवा रक्त को भी साथ लेकर अनेक प्रकार से प्रसरित होते हैं। इस प्रकार दोष पन्द्रह प्रकार से प्रसरित माने जाते हैं।

1. वात, 2. पित, 3. कफ, 4. शोणित, 5. वात–पित 6. वात–कफ, 7. पित्त–कफ 8. वात–शोणित, 9. पित्त–शोणित, 10. कफ–शोणित, 11. वात–पित्त–शोणित, 12. वात–कफ–शोणित, 13. पित्त–कफ–शोणित, 14. वात–पित–कफ तथा 15. वात–पित–कफ–शोणित इनसे संयोग कर दोष प्रसरित होते हैं। सु० सू० 21/28

कृत्स्नेऽर्धेऽवयवे वापि यत्रांगे कुपितो भृशम्।
दोषो विकारं नभसि मेघवत्तत्र वर्षति।। सु० सू० 21/18

जिस प्रकार आकाश में जहां मेघ होते हैं वहीं वर्षा होती है इसी प्रकार शरीर के सम्पूर्ण अंगों में, आधे अथवा शरीर के कम भाग में, जहां दोष अत्यन्त कुपित होते हैं वहीं प्रसरण करते हैं फलस्वरूप वहीं पर विकार उत्पन्न हो जाते हैं।

नात्यर्थं कुपितश्चापि लीनो मार्गेषु तिष्ठति।
निष्प्रत्यनीकः कालेन हेतुमासाद्य कुप्यति।। सु० सू० 21/29

यदि दोष वर्तमान में अत्यन्त कुपित नहीं हैं और चिकित्सा के अभाव में वे शरीर के स्रोतों में लीन (निष्क्रिय) हो गए हैं तो वे कालान्तर में, प्रकोप के कारणों की वृद्धि होने पर, प्रकोपक कारणों को पुनः प्राप्त कर फिर से कुपित हो जाते हैं।

यदि दोष अत्यन्त कुपित नहीं हैं तो उनका प्रसरण नहीं होता है और वे अन्य अंगों में विकार उत्पन्न करने में भी समर्थ नहीं होते हैं। चिकित्सा के अभाव में तथा कुपित करने वाले कारणों के नष्ट नहीं होने से दोष प्रकुपित अवस्था में शरीर में लीन रहते हैं और भविष्य में प्रकोपवृद्धि का वातारण मिलने पर पूर्णतया प्रकुपित होकर प्रसरण कर जाते हैं जिससे शरीर पुनः व्याधिग्रस्त हो जाता है।

प्रसरित दोषों के लक्षण–

एवं प्रकुपितानां प्रसरतां च वायोर्विमार्गगमनाटोपौ, ओषचोषपरिदाहधूमायनानि पित्तस्य, अरोचकाविपाकांगसादाश्छर्दिश्चेति श्लेष्मणो लिङ्गानि भवन्ति। तत्र तृतीयः क्रियाकालः।। सु० सू० 21/31

इस प्रकार दोष प्रकुपित होकर प्रसरण करते हैं इस दशा में विमार्ग गमन तथा आटोप (अफारा) प्रसरित वात के लक्षण हैं। उष्णता (शरीर तापमान में वृद्धि), चूसनेकी सी पीड़ा, शरीर में दाह, धूम के समान डकारें, प्रसरित पित्त के लक्षण हैं। अरुचि (अन्न आदि के प्रति), अपरिपाक, अंगसाद (थकावट) तथा वमन प्रसरित कफ के लक्षण हैं। यह चिकित्सा का तीसरा अवसर है।

चिकित्सा नियम–

तत्र वायोः पित्तस्थानगतस्य पित्तवत् प्रतिकारः। पित्तस्य च कफस्थानगतस्य कफवत्। कफस्य च वातस्थानगतस्य वातवत्। एष क्रियाविभागः।।

सु० सू० 21/30

पित्त के स्थान पर पहुंचे हुए वात की चिकित्सा पित्त की भांति करनी चाहिए। कफ के स्थान पर पहुंचे हुए पित्त की चिकित्सा कफ के समान तथा वात के स्थान पर पहुंचे हुए कफ की चिकित्सा वात के समान करनी चाहिए यह चिकित्सा का विधान है।

अन्य स्थानगत दोषों की चिकित्सा में पहले स्थान दोष की चिकित्सा करने के पश्चात् आगन्तु दोष की चिकित्सा करनी चाहिए परन्तु यदि आगन्तु दोष स्थानदोष की अपेक्षा प्रबल हो तो पहिले आगन्तु दोष की चिकित्सा का विधान है। **(कुर्याच्चिकित्सां स्वामेव बलेनान्याभिभाषिषु)।**

स्थानसंश्रयावस्था-चतुर्थ क्रियाकाल–

उपचार के अभाव में प्रकुपित दोष प्रसरण के पश्चात् जिस स्थान पर स्थित हो जाते हैं वहां पर विकृतियों (pathological changes) का होना

प्रारम्भ हो जाता और भविष्य में होने वाली व्याधि के पूर्व रूप (व्याधिसूचक लक्षण) प्रकट हो जाते हैं। इस अवस्था को स्थानसंश्रय कहा गया है।

इस प्रकार प्रकुपित हुए दोष भिन्न–भिन्न स्थानों में स्थित होकर विभिन्न प्रकार की विकृतियां उत्पन्न करते हैं। यथा– (सु० सू० 21/32)

1) जब प्रकुपित दोष उदर में संश्रय प्राप्त करते हैं तो गुल्म, उदर में विद्रधि, जठराग्नि की मन्दता, आनाह, विसूचिका, अतिसार आदि रोग उत्पन्न करते हैं।

2) दोषों के वस्ति में स्थित होने पर प्रमेह, अश्मरी–मूत्राघात तथा अन्य मूत्र दोष उत्पन्न करते हैं।

3) वृषण में स्थित होने पर दोष **'वातपित्तकफशोणितमेदोमूत्रान्त्र-निमित्ताः सप्तवृद्धयः,** वात, पित्त, कफ, रक्त, मेद, मूत्र तथा अन्त्र में वृद्धि करते हैं।

4) शिश्न में स्थित होने पर निरुद्ध प्रकश (शिश्न के ऊपर चर्म में छिद्र का छोटा होना जिससे मणि बाहर नहीं निकल सके), उपदंश, शूकदोष आदि रोग उत्पन्न करते हैं।

5) गुदा में स्थित होने पर दोष भगन्दर, अर्श आदि रोग को उत्पन्न करते हैं।

6) जत्रु के ऊपरी भाग में स्थित होने पर ऊर्ध्वज रोग उत्पन्न करते हैं।

7) त्वचा, मांस तथा शोणित में स्थित होने पर क्षुद्र रोग, कुष्ठ तथा विसर्प रोग उत्पन्न करते हैं।

8) मेद में स्थित होने पर ग्रन्थि, अपची, अर्बुद, गलगण्ड, अलजी आदि रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

9) अस्थि में स्थित होने पर अस्थिगत–विद्रधि, अनुशयी आदि रोग उत्पन्न होते हैं।

10) पैरों में स्थित होने पर श्लीपद, वातरक्त (gout) वातकण्टक आदि रोग उत्पन्न होते हैं।

11) जब ये दोष समस्त शरीर में स्थित हो जाते हैं, तो समस्त शरीरगत व्याधियां यथा ज्वर आदि रोगों को उत्पन्न करते हैं।

इस प्रकार इन भिन्न–भिन्न अंगों में आश्रित हुए दोषों से विभिन्न रोगों के पूर्व विभिन्न विकृतियों के रूप में प्रकट होते हैं।

रोगों के पूर्व रूप का यह समय चौथा चिकित्सा काल होता है।

व्यक्तावस्था पंचम क्रियाकाल–

स्थान संश्रय अवस्था में व्याधियों के पूर्वरूप प्रकट होते हैं उस समय भी चिकित्सा का अवसर प्राप्त होता है। यदि इस पूर्वरूप के लक्षण प्रकट होते ही इनका शमन नहीं किया जाता है तो रोग अपने रूप में प्रकट हो जाते हैं। यह पांचवीं रोग अवस्था व्यक्तावस्था कहलाती है।

शौफार्बुदग्रन्थिविद्रधिविसर्पप्रभृतीनां प्रव्यक्तलक्षणता ज्वराती-सारप्रभृतीनां च। तत्र पञ्चमः क्रियाकालः।। सु० सू० 21/33

शोफ, अर्बुद, ग्रन्थि, विद्रधि इत्यादि तथा ज्वर, अतिसार आदि (स्थान संश्रय प्रसंग में वर्णित) रोगों के लक्षण स्पष्ट रूप से प्रकट होते हैं। यह व्यक्तावस्था चिकित्सा करने का पांचवां समय होता है। इस समय व्याधि पूर्णतया प्रकट हो जाती है। अतः व्याधि लक्षणों के अनुरूप चिकित्सा व्यवस्था की जाती है।

भेदावस्था-षष्ठ क्रियाकाल–

व्याधियों के स्पष्ट रूप में प्रकट हो जाने पर भी चिकित्सा के अभाव में अन्य उपद्रव (complications) उत्पन्न हो जाते हैं और व्याधि चिरकारिता (chronic) की ओर अग्रसर हो जाती है। यह चिकित्सा का अन्तिम अवसर होता है। इस समय की चिकित्सा के अभाव में व्याधि असाध्य हो जाती है।

इससे आगे (चिकित्सा के अभाव में) जब शोथादि विदीर्ण होकर व्रण भाव को प्राप्त होते हैं तब चिकित्सा का छठा काल होता है। ज्वर अतिसार आदि रोग दीर्घ कालानुबन्धी (चिरकारी chronic) हो जाते हैं। इस समय चिकित्सा न करने पर ये रोग असाध्य हो जाते हैं। सु० सू० 21/24

रोगों के ज्ञान के लिए शरीर की क्रियाओं का प्राकृतिक अवस्था से विकृतावस्था में परिवर्तित होने को पहचानना चिकित्सा की दृष्टि से नितान्त आवश्यक है।

तस्योपलब्धिर्निदानपूर्वरूपलिंगोपशयसम्प्राप्तितः। च० नि० 1/4

निदान, पूर्वरूप, लिंग (लक्षण, रूप) उपशय तथा सम्प्राप्ति से रोग का ज्ञान होता है।

संचायावस्था में दोषों की वृद्धि होती है। ये ही दोष उन्मार्गगामी होकर प्रकोपावस्था को प्राप्त होते हैं। प्रतिकार की उपेक्षा से ये शरीर में प्रसरकर प्रसरावस्था को प्राप्त हो जाते हैं। फिर उपयुक्त चिकित्सा के अभाव में अंग विशेष में संश्रित हो वहां विकृति उत्पन्न कर पूर्व रूप में प्रकट होते हैं। इस

समय भी यदि चिकित्सा का अभाव रहेगा अथवा उपयुक्त नहीं होगी तो व्याधि अपने पूर्ण लक्षणों सहित प्रकट हो जाएगी यह व्यक्तावस्था है। इस काल में यदि उपयुक्त चिकित्सा का अभाव रहेगा तो सम्प्राप्ति के अनुसार व्याधि अनेक प्रकार के उपद्रवों से ग्रसित हो जाएगी। व्यक्तावस्था तथा भेदनावस्था में व्याधिप्रत्यनीक चिकित्सा की अपेक्षा है।

विकृतिजन्य (Pathological) अथवा रोगलक्षणात्मक (clinical) ज्ञान

संचय → प्रकोप → प्रसार ------→ निदान |
↓ |
स्थान संश्रय -----→ पूर्वरूप |
↓ | सम्प्राप्ति
अभिव्यक्ति ------→ रूप |
↓ |
भेद ---→ चिरकारी (chronic)
उपद्रव (Complications)
(साध्य अथवा असाध्य)

o——o

2

संसर्ग, सन्निपात

संसर्गः सन्निपातश्च तद् द्वि त्रि क्षयकोपतः। अ० हृ० सू० 1/12

अपने स्वाभाविक प्रमाण से कम अथवा अधिक दो दोषों के संयोग को संसर्ग तथा तीनों के संयोग को सन्निपात कहते हैं।

जब वातादि दोष पृथक्–पृथक् प्रकुपित होते हैं तो उनको पृथग्दोष अथवा एकदोष और उनसे उत्पन्न हुई व्याधि को पृथग्ज अथवा एकदोषज व्याधि कहते हैं। जब वातादि दोष दो–दो एक साथ मिलकर प्रकुपित होते हैं तो उनके संयोग को द्वंद्व द्विदोष अथवा संसर्ग कहते हैं तथा उन दो दोषों को संसृष्ट और उनके संयोग से उत्पन्न व्याधि को द्विदोषज अथवा संसर्गज कहते हैं। जब वातादि तीनों दोष मिलकर एक साथ प्रकुपित होते हैं तो उस संयोग को सन्निपात या त्रिदोष एवं तीनों मिले हुए दोषों को सन्निपतित और उनसे उत्पन्न व्याधि को त्रिदोषज अथवा सन्निपातज कहते हैं।

वात तथा कफ के गुण परस्पर विरोधी होते हैं यथा वात रूक्ष, चल, विशद तथा खर गुणों वाला है इनके विपरीत कफ स्निग्ध, गुरु, स्थिर, पिच्छिल तथा श्लक्ष्ण गुणवाला होत है। वातप्रकोपक रस कटु, तिक्त तथा कषाय हैं, ये ही रस कफशामक हैं। वातशामक रस मधुर, अम्ल तथा लवण प्रकोपक होते हैं।

दोषों के प्राकृतिक कर्मों में वैषम्य आना ही संसर्ग अथवा सन्निपात है यथा वात के प्रधान कर्म गत्यात्मक, पित्त के पाचनात्मक तथा कफ के पोषणात्मक होते हैं, इनकी विकृतियों के सामान्य लक्षण क्रमशः शूल, दाह तथा शोथ हैं। यदि एक ही स्थान पर एक साथ ही वात तथा कफ का प्रकोप है तो व्याधि लक्षणों में शूल तथा शोथ प्रधान होते हैं और व्याधि 'वात कफ संसर्गज' कही जाती है। पाचन तथा पोषणात्मक विकृतियों में व्याधि दाहशोथात्मक 'पित्त कफ संसर्गज' होती है।

सामान्यतः एकदोषज व्याधियां सुखसाध्य, द्विदोषज व्याधियां कष्टसाध्य तथा त्रिदोषज व्याधियां असाध्यता की ओर शीघ्र गमनकारी होती हैं।

दोनों का क्षय अथवा वृद्धि दोनों ही अवस्थायें असामान्य हैं। अतः विकृति की उत्पादक हैं। परन्तु क्षीण दोष स्वयं व्याधि उत्पन्न करने में असमर्थ होते हैं।

वात्त, पित्त अथवा कफ में जो दोष क्षीण होता है उसके विपरीत गुण तथा कर्मों में वृद्धि हो जाती है। इस प्रकार अभिवृद्ध हुए दोष व्याधि को उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं।

एक दोषज, संसर्गज तथा सन्निपातज व्याधियों में दोषों के न्यूनाधिक कल्पना भेद से व्याधियों के 62 उत्पादक कारण होते हैं। 63 वां संयोग सम वात–पित्त–कफ की साम्यावस्था का है और यह आरोग्य का कारण है।

वक्ष्यन्तेऽतः परं दोषा वृद्धिक्षयविभेदतः। अ० हृ० सू० 12/74

अब दोषों की वृद्धि तथा क्षय के कारण उत्पन्न दोषों के भेद कहते हैं।

वृद्धि कल्पना भेद

(अ) एकदोषज वृद्धि कल्पना भेद से तीन प्रकार–

पृथक् त्रीन् विद्धि। अ० हृ० सू० 12/74

पृथक्–पृथक् एक दोष की वृद्धि से तीन भेद होते हैं–

(1) वात वृद्ध, पित्त कफ सम, (2) पित्त वृद्ध, वात कफ सम,

(3) कफ वृद्ध, वात पित्त सम।

(ब) संसर्गज [द्विदोषज] वृद्धि कल्पना भेद से नौ प्रकार–

संसर्गस्त्रिधा, तत्र तु तान्नव।

त्रीनेव समया वृद्ध्या षडेकस्यातिशायने।। अ० हृ० सू० 12/76

(i) दोषों की वृद्धि से तीन भेद होते हैं–

1. वात पित्त, वृद्ध, कफ सम, 2. वात कफ वृद्ध, पित्त सम,
3. पित्त कफ वृद्ध, वात सम।

(ii) एक दोष की वृद्धि तथा एक की अति वृद्धि से 6 भेद होते हैं।

1. वात वृद्ध, पित्तवृद्धतर, कफ सम।
2. वातवृद्ध, कफ वृद्धतर, पित्त सम।
3. पित्त वृद्ध, वात वृद्धतर कफ सम।
4. पित्त वृद्ध, कफ वृद्धतर, वात सम।
5. कफ वृद्ध, वात वृद्धतर, पित्त सम।
6. कफ वृद्ध, पित्त वृद्धतर, वात सम।

(स) सन्निपातज [त्रिदोषज] वृद्धि भेद से 13 प्रकार–

त्रयोदश समस्तेषु, षड्द्व्येकातिशयेन तु।

एकं तुल्याधिकैः षट् च तारतम्यविकल्पनात्।

अ० हृ० सू० 12/76

(i) तीनों दोषों की समान वृद्धि से एक भेद—

1. वात पित्त कफ सम वृद्ध।

(ii) एक दोष के वृद्धतर होने पर तीन भेद तथा दो के वृद्धतर होने पर तीन भेद, कुल 6 भेद इस प्रकार हैं—

1. वात वृद्धतर, पित्त कफ वृद्ध, 2. पित्त वृद्धतर, वात कफ वृद्ध,
3. कफ वृद्धतर, वात पित्त वृद्ध, 4. वात पित्त वृद्धतर, कफ वृद्ध,
5. वात कफ वृद्धतर, पित्त वृद्ध, 6. पित्त कफ वृद्धतर, वात वृद्ध।

(iii) तीनों दोषों में तारतम्य प्रकार से वृद्धि होने पर 6 भेद होते हैं—

1. वात वृद्ध, पित्त वृद्धतर, कफ वृद्धतम।
2. वात वृद्ध, कफ वृद्धतर, पित्त वृद्धतम।
3. पित्त वृद्ध, वात वृद्धतर, कफ वृद्धतम।
4. पित्त वृद्ध, कफ वृद्धतर, वात वृद्धतम।
5. कफ वृद्ध, वात वृद्धतर, पित्त वृद्धतम।
6. कफ वृद्ध, पित्त वृद्धतर, वात वृद्धतम।

इस प्रकार दोष वृद्धि कल्पना से 25 भेद होते हैं। (एक दोषज 3, संसर्गज 9 तथा सन्निपातज 13, योग 25)

क्षय कल्पना भेद

पंचविंशतिमित्येवं वृद्धैः क्षीणैश्च तावतः।। अ० हृ० सू० 12/76

जिस प्रकार 25 भेद दोष वृद्धि से होते हैं, उसी प्रकार 25 भेद क्षय के कारण होते हैं।

क) एक दोषज क्षय कल्पना भेद से तीन प्रकार—

1. वात क्षीण, पित्त कफ सम। 2. पित्त क्षीण, वात कफ सम।
3. कफ क्षीण, वात पित्त सम।

ख) संसर्गज क्षय कल्पना भेद से 9 प्रकार—

(i) दो दोषों की क्षीणता से तीन भेद होते हैं—

1. वात पित्त क्षीण, कफ सम। 2. वात कफ क्षीण, पित्त सम।
3. पित्त कफ क्षीण, वात सम।

(ii) एक दोष का क्षय, एक अति क्षय तथा एक सम से 6 भेद होते हैं—

1. वात क्षीण, पित्त क्षीणतर, कफ सम।
2. वात क्षीण, कफ क्षीणतर, पित्त सम।
3. पित्त क्षीण, वात क्षीणतर, कफ सम।

4. पित्त क्षीण, कफ क्षीणतर, वात सम।
5. कफ क्षीण, वातक्षीणतर, पित्त सम।
6. कफ क्षीण, पित्त क्षीणतर, वात सम।

(ग) सन्निपातज क्षय कल्पना भेद से 13 प्रकार–

(क) तीनों दोषों के समान क्षय से एक भेद होता है–

1. वात पित्त कफ क्षीण।

(ख) एक दोष के क्षीणतर होने से तीन भेद होते हैं–

1. वात क्षीणतर, पित्तकफ क्षीण, 2. पित्त क्षीणत्तर, वात कफ क्षीण,
3. कफ क्षीणतर, वात पित्त क्षीण।

(ग) दो दोषों के क्षीणतर होने से तीन भेद होते हैं–

1. वात पित्त क्षीणतर, कफ क्षीण, 2. वात कफ क्षीणतर, पित्त क्षीण,
3. पित्त कफ क्षीणतर, वात क्षीण।

(क) तीनों दोषों में तारतम्य प्रकार से क्षय होने से 6 भेद होते हैं–

1. वात क्षीण, पित्त क्षीणतर, कफ क्षीणतम।
2. वात क्षीण, कफ क्षीणतर, पित्त क्षीणतम।
3. पित्त क्षीण, वात क्षीणतर, कफ क्षीणतम।
4. पित्त क्षीण, कफ क्षीणतर, वात क्षीणतम।
5. कफ क्षीण, वात क्षीणतर, पित्त क्षीणतम।
6. कफ क्षीण, पित्त क्षीणतर, वात क्षीणतम।

इस प्रकार दोषों की वृद्धि से 25 भेद तथा क्षय से 25 भेद मिलकर पचास भेद होते हैं।

एकैकवृद्धिसमताक्षयैः षट् ते-पुनश्च षट्।
एकक्षयद्वन्द्ववृद्ध्या सविपर्यययाऽपि ते।
भेदा द्विषष्टिनिर्दिष्टाः त्रिषष्टिः स्वास्थ्यकारणम्।

अ० हृ० सू० 12/77

क) एक दोष की वृद्धि, एक की समता तथा एक का क्षय इस तारतम्य से 6 भेद होते हैं–

(1) वात वृद्ध, पित्त सम, कफ क्षीण (2) वात वृद्ध, कफ सम, पित्त क्षीण
(3) पित्त वृद्ध, वात सम, कफ क्षीण (4) पित्त वृद्ध, कफ सम, वात क्षीण
(5) कफ वृद्ध, वात सम, पित्त क्षीण (6) कफ वृद्ध, पित्त सम, वात क्षीण

ख) एक दोष का क्षय तथा दो की वृद्धि से तीन भेद होते हैं–

(1) वात क्षीण, पित्त कफ वृद्ध, (2) पित्त क्षीण, वात कफ वृद्ध।

(3) कफ क्षीण वात पित्त वृद्ध।

ग) एक दोष की वृद्धि तथा दो के क्षय से तीन भेद होते हैं–

(1) वात वृद्ध, पित्त कफ क्षीण। (2) पित्त वृद्ध, वात कफ क्षीण।

(3) कफ वृद्ध, वात पित्त क्षीण।

इस प्रकार उपरोक्त वर्णित दोनों षट्क मिलाने से 12 भेद हुए। पहिले वर्णित 50 भेद के साथ 12 भेदों को मिलाकर 62 भेद निर्देश किये गए हैं।

63वां भेद जैसा पहिले कहा जा चुका है। तीनों की साम्यवस्था, (वात पित्त कफ सम है) जो स्वास्थ्य का कारण है।

संसर्ग तथा सन्निपात चिकित्सा क्रम–

उपक्रमस्य हि द्वित्वाद् द्विधैवोपक्रमो मतः।
एकः सन्तर्पणस्तत्र द्वितीयश्चापर्तणः।।
वृंहणो लंघनश्चेति तत्पर्यायावुदाहृतौ।
वृंहणं यद्वृहत्त्वाय लंघनं लाघवाय यत्।।
देहस्य– अ० हृ० सू० 14/12

दोषों की वृद्धि तथा क्षय से रोग होते हैं और इन रोगों की चिकित्सा में दो उपक्रम हैं– (1) संतर्पण तथा (2) अपतर्पण। संतर्पण का पर्याय वृंहण है तथा अपतर्पण का पर्याय लंघन है। जो शरीर की वृद्धि तथा पुष्टि करे वह बृंहण है तथा जो शरीर में लघुता उत्पन्न करे वह लंघन है।

वृंहण चिकित्सा का उपयोग क्षीण दोषों में तथा शरीर की क्षीणता में किया जाता है तथा लंघन (अपतर्पण–वमन, विरेचन, निरूहण वस्ति, नस्यकर्म, रक्तस्रुति, पाचन एवं दीपन पदार्थों का सेवन, अन्न न खाना, जल न पीना, धूप का सेवन आदि लंघन कर्म हैं) वृद्ध दोषों के शमन के लिए किया जाता है।

दोषाः क्षीणा वृंहयितव्याः, कुपिताः प्रशमयितव्याः, वृद्धा निर्हर्तव्याः, समाः परिपाल्याः। इति सिद्धान्तः। सु० चि० 3/33

क्षीण दोषों का वृंहण करना चाहिए, कुपित दोषों का प्रशमन करना चाहिए, वृद्ध दोषों का निर्हरण (वमन, विरेचन आदि द्वारा) करना चाहिए तथा सम दोषों का पालन करना चाहिए।

संक्षेप में यही चिकित्सा का सिद्धान्त है।

–X–

भाग—3
धातु एवं मल

1

धातुनिर्माण तथा पोषणकर्म

शरीर की उत्पत्ति अन्न से हुई है। इस पर प्रथम भाग में विचार किया जा चुका है। हम जो कुछ आहार रूप में ग्रहण करते हैं पाचन के पश्चात् वह शरीरोपयोगी तथा अनुपयोगी दो भागों में विभाजित हो जाता है। अनुपयोगी अंश पुरीष तथा मूत्र के रूप में शरीर से निष्कासित हो जाता है और उपयोगी अंश जिसे अन्नरस कहते हैं शरीर के विकास तथा पोषण आदि कर्मों का सम्पादन करता है।

अन्नरस में शरीर की धातुओं के निर्माण तथा पोषण के सम्बन्ध में मुख्य रूप से तीन मान्यतायें प्रचलित हैं–

(1) क्षीर दधि न्याय (2) केदारी कुल्या न्याय तथा

(3) खलेकपोत न्याय।

न्याय उस मान्यता का नाम है जिसकी प्रमाणों द्वारा परीक्षा की जा सके। **प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः'** प्रमाणों द्वारा अर्थ की परीक्षा करना न्याय है।

क्षीर दधि न्याय

इस मत के अनुसार जिस प्रकार सम्पूर्ण दूध दही में परिवर्तित हो जाता है उसी प्रकार अन्न रस धातु में, रस धातु रक्त धातु में, रक्त धातु मांस धातु में, मांस धातु मेद धातु में, मेद धातु अस्थिधातु में, अस्थि धातु मज्जा धातु में तथा मज्जाधातु शुक्र धातु में सम्पूर्ण रूपेण परिवर्तित हो जाती है। इस पक्ष को क्षीर दधि के उदाहरण से समझाया गया है कि जिस प्रकार समस्त दूध दही में परिणत हो जाता है अतः इसे **"क्षीरदधिन्याय"** कहते हैं। पूर्वधातु से उत्तर धातु के निर्माण का क्रम चलता है। पूर्व धातु 'रस' से उत्तर धातु 'रक्त' का निर्माण होता है तथा इसी क्रम में शुक्र पर्यन्त धातु निर्माण क्रम चलता रहता है अतः इसे **'क्रमपरिणाम पक्ष'** कहते हैं। पूर्व धातु उत्तर धातु में सर्वात्मना परिणत होती है इसलिए इसे **'सर्वात्मपरिणाम पक्ष'** भी कहते हैं।

इस मान्यता के अनुसार पाचन हो जाने पर प्रत्येक धातु के परिणाम होते हैं– (1) प्रसाद भाग तथा (2) मल भाग। प्रसाद भाग स्थूल और सूक्ष्म दो भागों में विभाजित हो जाता है। स्थूल प्रसादांश से उस धातु का निर्माण तथा पोषण होता है तथा सूक्ष्म प्रसादांश से उपधातु का निर्माण और पोषण

होता है एवं इसी प्रसादांश में निहित उत्तर धातु के सधर्मी अंश से उत्तर धातु का निर्माण होता है। पाक क्रिया के परिणामस्वरूप प्रसाद भाग के अतिरिक्त किट्ट [मल] की उत्पत्ति भी स्वाभाविक रूप से अवश्य होती है। अतः यह भी पाक क्रिया का आवश्यक परिणाम है। चरक संहिता में इस क्रिया का वर्णन करते हुए कहा गया है कि–

सप्तभिर्देहधातारो धातवो द्विविधं पुनः।
यथास्वमग्निभिः पाकं यान्ति किट्टप्रसादतः।। च० चि० 15/14

देह के धारक रस आदि सप्त धातु अपनी–अपनी धात्वग्नियों द्वारा दो प्रकार के पाक को प्राप्त होते हैं। (1) किट्ट तथा (2) प्रसाद।

परस्परोपसंस्तम्भाद्धातुसाम्यपरम्परा। च० चि० 15/19

प्रसाद तथा किट्ट के परस्पर स्तम्भक (एक दूसरे पर आश्रित) होने से धातु क्षमता की परम्परा बनी रहती है।

प्रसाद भाग से धातु एवं उपधातु का निर्माण क्रम–

रसाद्रक्तं ततो मासं मांसान्मेदस्ततोऽस्थि च।
अस्थ्नो मज्जा ततः शुक्रं शुक्राद्गर्भः प्रजायते।।

च० चि० 15/16

रस से रक्त, रक्त से मांस, मांस से मेद, मेद से अस्थि, अस्थि से मज्जा, मज्जा से शुक्र तथा शुक्र से गर्भ की उत्पत्ति होती है।

रसात्स्तन्यं स्त्रिया रक्तमसृजः कण्डराः सिराः।
मांसाद्वसा त्वचः षट् च मेदसः स्नायुसम्भवः।। च० चि० 15/16

रस धातु से स्त्रियों में स्तन्य (दूध) तथा आर्तव, रक्त, धातु से कण्डरायें तथा शिरायें, मांस धातु से वसा तथा छह त्वचायें और मेद धातु से स्नायु की उत्पत्ति होती है।

मलों का निर्माण क्रम–

किट्टमन्नस्य विण्मूत्रं रसस्य तु कफोऽसृजः।
पित्तं मांसस्य खमलो मलः स्वेदस्तु मेदसः।।
स्यात्किट्टं केशलोमाऽस्थ्नो मज्जः स्नेहोक्षिविट् त्वचाम्।
प्रसादकिट्टे धातूनां पाकादेवंविधर्च्छतः।। 15/19

मलों का निर्माण– अन्न का किट्ट पुरीष तथा मूत्र है, रस धातु का किट्ट कफ, रक्त धातु का किट्ट पित्त, मांस धातु का किट्ट खमल (कान, नाक आदि छिद्रों के मल), मेद धातु का किट्ट स्वेद, अस्थि धातु का किट्ट केश तथा लोम (रोम), मज्जा धातु के किट्ट त्वचा के स्नेहांश तथा नेत्र और पुरीष के स्नेहांश हैं।

क्षीर दधि न्यायानुसार धातु का निर्माण

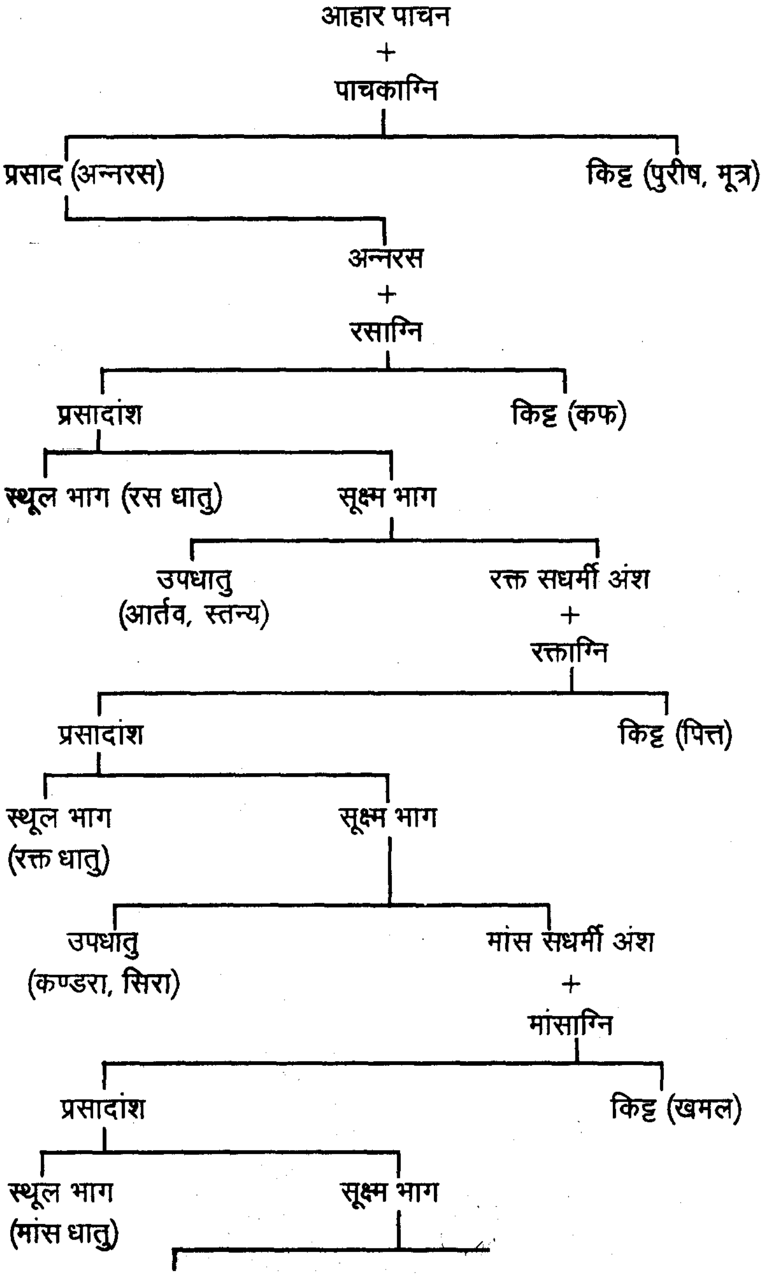

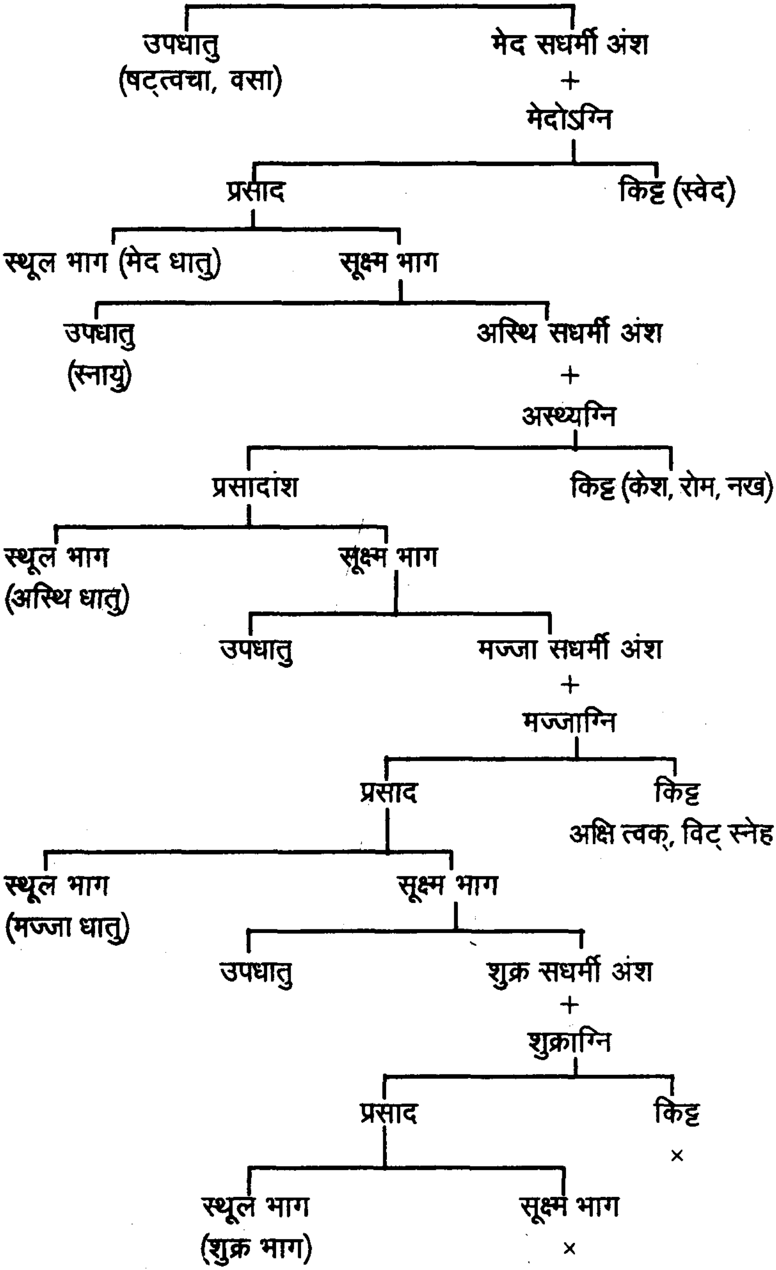
उपधातु
(षट्त्वचा, वसा)
मेद सधर्मी अंश
+
मेदोऽग्नि
प्रसाद
किट्ट (स्वेद)
स्थूल भाग (मेद धातु)
सूक्ष्म भाग
उपधातु
(स्नायु)
अस्थि सधर्मी अंश
+
अस्थ्यग्नि
प्रसादांश
किट्ट (केश, रोम, नख)
स्थूल भाग
(अस्थि धातु)
सूक्ष्म भाग
उपधातु
मज्जा सधर्मी अंश
+
मज्जाग्नि
प्रसाद
किट्ट
अक्षि त्वक्, विट् स्नेह
स्थूल भाग
(मज्जा धातु)
सूक्ष्म भाग
उपधातु
शुक्र सधर्मी अंश
+
शुक्राग्नि
प्रसाद
किट्ट
×
स्थूल भाग
(शुक्र भाग)
सूक्ष्म भाग
×

पूर्वो धातुः परं कुर्याद् वृद्धः क्षीणश्च तद्विधम्।।अ० हृ० स० 11/35

[उपरोक्त क्रम से] पूर्व धातु के बढ़ने से उत्तर धातु में भी वृद्धि होती है तथा पूर्व धातु के क्षय से उत्तर धातु भी क्षीण हो जाती है।

★ ★ ★

पूर्वः पूर्वोऽतिवृद्धत्वाद्वर्धयेद्धि परं परम्।
तस्मादतिवृद्धानां धातूनां ह्रासनं हितम्।। सु० सू० 15/19

प्रत्येक पूर्व धातु अति वृद्धि को प्राप्त कर अपने समीपवर्ती उत्तर धातु को भी बढ़ा देती है (तथा पूर्व धातु की क्षीणता से उत्तर धातु भी क्षीण हो जाती है) इसलिए अत्यन्त बढ़ी हुई धातुओं का ह्रास करना हितकर है (तथा क्षीण धातुओं की वृद्धि करना भी हितकर है)।

चरक संहिता की टीका करते हुए क्रम **परिणाम पक्ष** के सम्बन्ध में चक्रपाणि दत्त ने कहा है कि यदि हम इस मान्यता को स्वीकार कर लें कि प्रत्येक पूर्व धातु सम्पूर्ण रूप से उत्तर धातु में परिणत हो जाती है तब यह मानना पड़ेगा कि 3-4 दिवस के अनशन के पश्चात् शरीर में रसधातु के अभाव से रक्त धातु का भी अभाव हो जायेगा और इसी प्रकार एक मास अन्न सेवन न करने से शरीर में केवल शुक्र धातु ही रह जायेगी। ऐसा कभी नहीं होता है अतः यह पक्ष असिद्ध है।

केदारी कुल्या न्याय

जिस प्रकार एक बगीचे को सींचने के लिए नालियां [कुल्या] बनाई जाती हैं और जो केदारी [क्यारी] निकट होती है कुल्या का जल वहां पहिले पहुंचता है। इसी प्रकार अन्न रस से रस धातु का निर्माण होता है तथा अन्न रस ही रक्ताशय में पहुंच रक्त सधर्मी अंश से रक्त धातु का निर्माण, मांसाशय में पहुंचकर मांस सधर्मी अंश से मांस धातु का निर्माण, मेद के आशय में मेद सधर्मी अंश से मेद धातु का निर्माण, अस्थ्याशय में पहुंच अस्थि सधर्मी अंश से अस्थि धातु का निर्माण, मज्जाशय में पहुंच मज्जा सधर्मी अंश से मज्जा धातु का निर्माण तथा शुक्राशय में पहुंच शुक्र सधर्मी अंश से शुक्र धातु का निर्माण करता है।

सारस्तु सप्तभिर्भूयो यथास्वं पच्यतेऽग्निभिः।। अ० हृ० शा० 3/61

इस प्रकार सार भाग (अन्नरस) सातों धातुओं की अग्नियों से क्रमानुसार पाक होकर उन धातुओं में परिणत हो जाता है।

केदारी कुल्या न्यायानुसार धातुनिर्माण तालिका

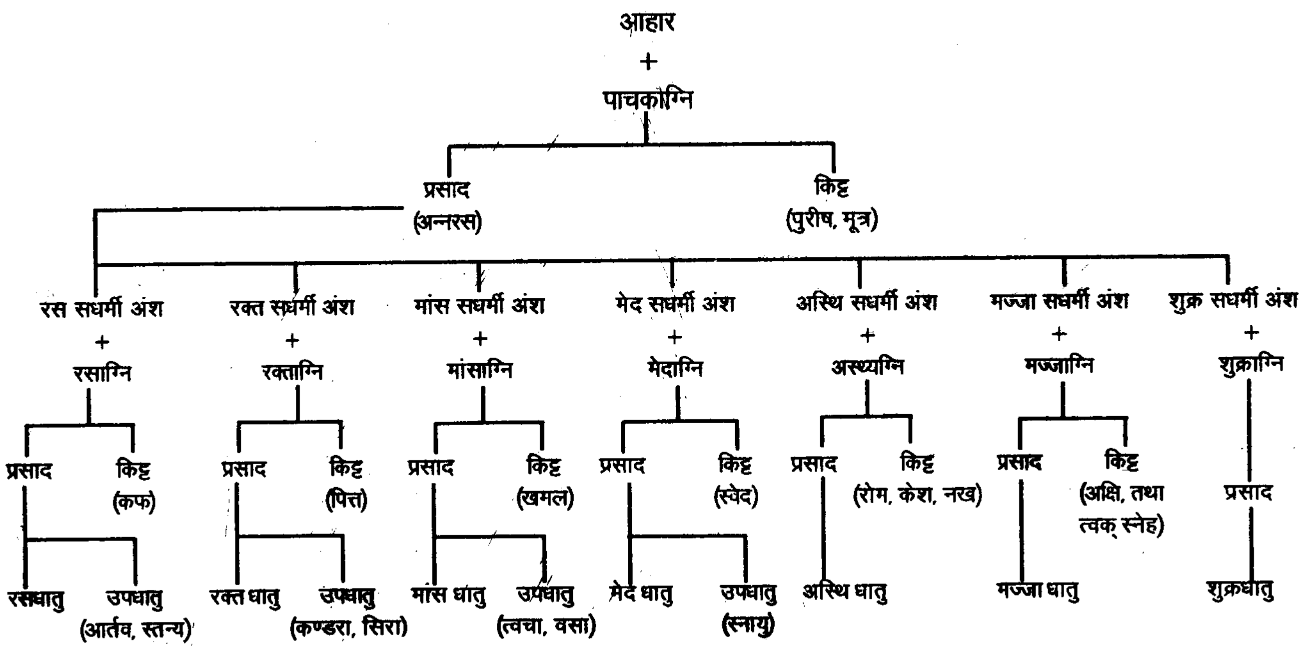

विभिन्न धातुओं में विपत्ति काल–

सुश्रुत संहिता में धातु का निर्माण तथा पोषण के सम्बन्ध में **केदारी कुल्या** पक्ष का समर्थन किया है।

स खलु त्रीणि त्रीणि कलासहस्राणि पञ्चदश च कला एकैकस्मिन् धाताववतिष्ठन्ते। एवं मासेन रसः शुक्रं भवति स्त्रीणां च आर्तवम्।।

सु० सू० 14/15

अन्नरस प्रत्येक धातु में 3015 कला (110 घण्टे) ठहरता है और इस प्रकार एक मास में पुरुषों के रस से शुक्र तथा स्त्रियों में आर्तव (?) बनता है।

अष्टादशसहस्राणि संख्या ह्यस्मिन् समुच्चये।
कलानां नवतिः प्रोक्ता स्वतन्त्रपरतन्त्रयोः।। सु० सू० 14/16

इस तन्त्र तथा अन्य तन्त्रों के अनुसार भी रस से शुक्र बनने में 18090 कला (720 घण्टे—1 मास) का समय लगता है।

जितने समय में एक लघु शब्द का उच्चारण होता है उस काल को अक्षिनिमेष कहते हैं।–

15 अक्षिनिमेष	—	1 काष्ठा
30 काष्ठा	—	1 कला
20.10/1 कला	—	1 मुहूर्त
30 मुहूर्त	—	1 अहोरात्र (24 घण्टे)

उपरोक्त कथन के अनुसार अन्नरस से रस धातु का निर्माण एक दिन में हो जाता है। तत्पश्चात् अन्य प्रत्येक धातु के निर्माण में 5-5 दिन का समय लगता है।

★ ★ ★

केचिदाहुरहोरात्रात् षड्रात्रादपरे, परे।
मासेन प्रयाति शुक्रत्वमन्नं पाकक्रमादिभिः।।
सन्ततः भोज्यधातूनां परिवृत्तिस्तु चक्रवत्। अ० हृ० शा० 3/65, 66

कुछ विद्वानों का मत है कि एक ही दिन और रात (24 घण्टे) में रसधातु से शुक्रधातु का निर्माण हो जाता है तथा कुछ की मान्यता है कि यह निर्माण 6 दिन में पूर्ण होता है, तथा कुछ का मत है कि अन्न का यथार्थ परिपाक होकर एक मास में शुक्र बनता है। इस प्रकार आहार रस क्रमानुसार निरन्तर अन्य धातुओं में चक्रवत् परिणत होता रहता है।

चरक संहिता में इस सम्बन्ध में कहा गया है कि–

षड्भिः केचिदहोरात्रैरिच्छन्ति परिवर्तनम्।
संतत्या भोज्यधातूनां परिवृत्तिस्तु चक्रवत्।। च० चि० 15/20

कुछ आचार्य 6 अहोरात्र (6 दिन) में धातु परिवर्तन का होना पूर्ण मानते हैं। आहार के प्रसाद अंश से उत्पन्न धातुओं का इसी प्रकार से निरन्तर चक्रवत् परिवर्तन होता रहता है।

चरक संहिता के टीकाकार चक्रपाणि का कथन है कि 'चक्र' के दृष्टांत से सिद्ध है कि धातु परिवर्तन का कोई एक विशेष काल नहीं होता है यथा जिस प्रकार एक बलवान् व्यक्ति कूप से जल निकाले तो उसकी बांह में अधिक बल होने के कारण वह चक्र को शीघ्र–शीघ्र चक्कर देकर शीघ्र जल निकाल लेगा और कम बलयुक्त व्यक्ति धीरे–धीरे चक्र घुमा सकेगा अतः देर में जल निकलेगा। इसी प्रकार धातु परिवर्तन व्यक्ति विशेष के अग्निबल पर निर्भर करता है। यदि अग्निबल (disestive and metabolic process) तीक्ष्ण होगा तो अन्नरस से रसादि धातुओं का निर्माण शीघ्र होगा तथा अग्निबल मन्द होने पर यह परिवर्तन भी देर से होगा। एक मास की अवधि इस प्रकार धातु परिवर्तन की अधिकतम सीमा है।

रस धातु के शुक्र में परिवर्तन का समय आहार द्रव्यों पर भी निर्भर करता है। वृष्य द्रव्यों में यह परिवर्तन बहुत शीघ्र होता है।

वृष्यादीनां प्रभावस्तु पुष्णाति बलमाशु हि। च० चि० 15/19

वृष्य द्रव्यों (शुक्रवर्धक द्रव्य यथा दूध आदि) का प्रभाव शीघ्र ही बल का पोषण करता है।

वाजीकरण्यस्त्वोषधयः स्वबलगुणोत्कर्षाद्विरेचनवदुपयुक्ताः शुक्रं शीघ्रं विरेचयन्ति।। च० सू० 14/18

विरेचन के तौर पर व्यवहार में लाई गई औषधी तथा वाजीकरण द्रव्य (शुक्रवर्धक द्रव्य) अपने बल और गुण की उत्कृष्टता के कारण आहार रस से शीघ्र शुक्र को प्राप्त होते हैं। शुक्र अन्तिम धातु है अतः शुक्र वृद्धि का अर्थ है कि पूर्व की समस्त धातुओं (रस धातु से मज्जा पर्यन्त) की वृद्धि होना।

वृष्यादीनि प्रभावेण सद्यः शुक्रादि कुर्वते।
प्रायः करोत्यहोरात्रात्कर्मान्यदपि भेषजम्।। अ० ह्र० शा० 3/67

वृष्य द्रव्य अपने प्रभाव से शीघ्र ही शुक्र आदि धातुओं की उत्पत्ति करते हैं। वृष्य द्रव्यों के समान औषधियां भी अपने प्रभाव से अहोरात्र (24 घण्टों) में ही अपने कार्य को सम्पन्न कर देती हैं।

खलेकपोत न्याय

जिस प्रकार खलिहान में दाना चुगने के पश्चात् कपोत वापिस अपने घर को जाते हैं और कपोत का घर जितनी अधिक दूरी पर होगा उसको वहां पहुँचने के लिए उतना ही अधिक समय लगेगा। इसी प्रकार अन्नरस (खलिहान)

से धातुओं का पोषण तथा निर्माण होता रहता है परन्तु प्रत्येक धातु का पोषण तथा निर्माण का मार्ग पृथक्–पृथक् होता है। जैसे कि प्रत्येक कपोत का अपने घर को लौटाने का मार्ग पृथक्–पृथक् होता है। जो धातु जितनी दूर से होगी अर्थात् जिसका स्रोत जितना अधिक लम्बा होगा उस तक निर्माण तथा पोषण सामग्री पहुंचने में उतना ही अधिक समय लगेगा तथा स्रोत मार्ग भी सूक्ष्म व सूक्ष्मतर होता चला जायेगा।

अतएव अन्नरस में उपस्थित–

1. रस सधर्मी अंश पर रसधात्वग्नि की क्रिया से उत्पन्न प्रसाद अंश रसधातु तथा उपधातुओं का निर्माण एवं पोषण और किट्ट अंश से कफ की उत्पत्ति होती है।

2. रक्त सधर्मी अंश पर रक्तधात्वग्नि की क्रिया से उत्पन्न प्रसाद अंश से रक्तधातु तथा उपधातुओं का निर्माण एवं पोषण और किट्ट अंश से पित्त की उत्पत्ति होती है।

3. मांस सधर्मी अंश पर मांसधात्वग्नि की क्रिया से उत्पन्न प्रसाद अंश से मांस धातु तथा उपधातुओं का निर्माण एवं पोषण और किट्ट अंश से खमलों (कर्ण, नेत्र, मुख, नासिका के मलों) की उत्पत्ति होती है।

4. मेद सधर्मी अंश पर मेद धात्वग्नि की क्रिया से उत्पन्न अंश से मेद धातु तथा उपधातु की उत्पत्ति एवं पोषण और किट्ट अंश से स्वेद की उत्पत्ति होती है।

अन्न रस के विभिन्न धातु सधर्मी अंश		
	रसाग्नि द्वारा पाक →	रसधातु तथा आर्तव और स्तन्य उपधातुयें
	↘	मल कफ
	रक्ताग्नि द्वारा पाक ↗	रक्तधातु तथा कण्डरा, सिरा उपधातु
	↘	मल पित्त
	मांसाग्नि द्वारा पाक ↗	मांसधातु तथा त्वचा, वसा उपधातु
	↘	मल खमलों की उत्पत्ति
	मेदाग्नि द्वारा पाक ↗	मेदधातु और स्नायु उपधातु
	↘	मेद स्वेद
	अस्थ्यग्नि द्वारा पाक ↗	अस्थिधातु
	↘	मल, केश, रोम, नख
	मज्जाग्नि द्वारा पाक ↗	मज्जाधातु
	↘	मल अक्षि, त्वक्, विट् का स्नेह
	शुक्राग्नि द्वारा पाक →	शुक्रधातु

(खलेकपोतन्याय द्वारा धातुनिर्माण)

5. अस्थि **सधर्मी अंश** पर अस्थ्यग्नि की क्रिया से उत्पन्न प्रसाद अंश से अस्थि धातु की उत्पत्ति एवं पोषण और किट्ट अंश से केश, रोम, नखों की उत्पत्ति होती है।

6. मज्जा सधर्मी **अंश** पर मज्जाधात्वग्नि की क्रिया से उत्पन्न प्रसाद अंश से मज्जाधातु की उत्पत्ति तथा पोषण और किट्ट अंश से अक्षि, त्वक्, विट् स्नेह की उत्पत्ति होती है।

शुक्र सधर्मी अंश पर शुक्रधात्वग्नि की क्रिया से उत्पन्न प्रसाद अंश से शुक्रधातु की उत्पत्ति तथा पोषण होता है।

एक काल धातु पोषण पक्ष—

वाग्भट्ट संहिता के टीकाकार अरुणदत्त उपरोक्त तीनों धातुपोषण तथा उत्पत्ति की मान्यताओं को ठीक नहीं समझते हैं। उनका कथन है कि संहिता ग्रन्थों के अनुसार व्यान वायु रस को एक साथ ही समस्त शरीर में विक्षेपित करता है अतः अन्न रस के उत्पन्न रस धातु एक ही समय में शरीर के समस्त स्रोतों में प्रवेश कर सप्त धातु निर्माण तथा पोषण कर्म करता है।

आहाररसादेककालं सप्तसु धातुस्रोतःसु प्रवेशिताद् रसरक्तादयो धातव उत्पद्यन्ते इति एककालधातुपोषणपक्षः।।

(अ० हृ० शा० 3/62[2] पर अरुणदत्त की टीका)

आहार रस एक ही समय में सातों धातुओं में प्रवेश कर रस रक्त आदि सात धातुओं का पालन पोषण तथा निर्माण करता है।

वास्तव में श्री अरुणदत्त ने सुश्रुताचार्य के कथन की ही पुष्टि की है कि

स (रसः) तु व्यानेन विक्षिप्तः सर्वान् धातुन् प्रतर्पयेत्।

सु० सू० 46/528

व्यान वायु के द्वारा प्रेरित होकर रस सब धातुओं का पोषण करता है।

अरुणदत्त प्रतिपादित **एककाल धातु-पोषण पक्ष** यथार्थ के अत्यन्त निकट है। आहार के पाचन के पश्चात् देहोपयोगी अंश अवशोषित हो प्लाज्मा (रसधातु) में प्रवेश कर जाता है। रसधातु इन पोषक द्रव्यों को एक साथ ही शरीर के समस्त ऊतकों (Tissue) को पहुंचाता रहता है। इन पोषक द्रव्यों से एक साथ शरीर की कोशिकायें अपनी क्षय की पूर्ति, नवीन कोशिकाओं का निर्माण तथा अपने कर्मों का सम्पादन करती रहती हैं। ★

---

1. **व्यानेन रसधातुर्हि विक्षेपोचितकर्मणा।**
युगपत्सर्वतोऽजस्रं देहे विक्षिप्यते सदा।।

अ० हृ० शा० 3/68

2. **रसाद्रक्तं ततो मांसं मांसान्मेदस्ततोऽस्थि च।**
अस्थ्नो मज्जा ततः शुक्रं शुक्राद्गर्भः प्रजायते।।

अ० हृ० शा० 3/62

2
रस धातु

उत्पत्ति–

तन्न पाञ्चभौतिकस्य, चतुर्विधस्य षड्रसस्य द्विविधवीर्यस्याष्ट–विधवीर्यस्य वाऽनेकगुणस्योपयुक्तस्याहारस्य सम्यक्परिणतस्य यस्तेजोभूतः सारः परमसूक्ष्मः स 'रस' इत्युच्यते।। सु० सू० 14/2

पाञ्चभौतिकस्य, चतुर्विध (पेय, लेह्य, भक्ष्य तथा भोज्य), षड् रस (मधुर अम्ल, लवण, कटु, तिक्त और कषाय), दो प्रकार के वीर्य (शीत वीर्य एवं उष्ण वीर्य) अथवा आठ प्रकार के वीर्य (शीत–उष्ण, स्निग्ध–रूक्ष, विशद–पिच्छल, मृदु एवं तीक्ष्ण वीर्य) तथा बीस प्रकार के गुणों में से अनेक गुणयुक्त विधिपूर्वक सेवन किये हुए आहार का उचित परिपाक होने के पश्चात् जो प्रसादरूप अत्यन्त सूक्ष्मसार बनता है वह रस कहलाता है।

तात्पर्य यह है कि पाञ्चभौतिक आहार द्रव्य चारों प्रकार में किसी प्रकार का क्यों न हो तथा इसी प्रकार किसी भी रस, वीर्य तथा गुणसम्पन्न क्यों न हो यदि उसका सम्यक् प्रकार से सेवन किया गया है तथा सम्यक् प्रकार से पाचन हुआ है तब **पाचन के पश्चात् अन्न का जो सार अंश आंत्र में अवशोषित हो जाता है, अन्न रस कहलाता है।** यथा कार्बोहाइड्रेट का अन्न रस ग्लूकोज आदि मोनोसेकराइड, प्रोटीन का अन्न रस अनेक प्रकार की अमीनों अम्ल, स्नेह (तैल, घृत आदि) का अन्नरस, वसा अम्ल और ग्लिसराल तथा लवणों का अन्नरस लवण, विटेमिन का विटेमिन एवं जल का जल होता है। ये सब मिलकर आहार का सार अंश कहलाते हैं। इनका आन्त्रभित्ति द्वारा अवशोषण होकर अवशोषित अंश यकृत् में पहुंचता है। वहां पर इनमें सब प्रकार से परिवर्तन होता है कि इन अंशों का उपयोग शरीर कर सके। रस परिवर्तन का नाम रसधात्वग्नि पाक है। इस परिवर्तन के पश्चात् अन्न रस का जो रूप बनता है उसे रसधातु कहते हैं।

एवं रसमलायान्नमाशयस्थमधः स्थितः।
पचत्यग्निर्यथा स्थाल्यामोदनायाम्बुतण्डुलम्।। च० चि० 15/7

जिस प्रकार बर्तन में रखे चावल और जल को नीचे से दी जाने वाली अग्नि पकाकर भात बना देती है उसी प्रकार आमाशय में स्थित अन्न का जठराग्नि रस तथा मल के रूप में पाक करती है। अर्थात् आहार का पाक के पश्चात् सार अंश रस तथा निःसार अंश मल के रूप में विभाजित हो जाता है।

किट्टं सारश्च तत्पक्वमन्नं सम्भवति द्विधा।

तत्राऽच्छं किट्टमन्नस्य मूत्रं विद्याद्घनं शकृत्।। अ० हृ० शा० 3/60

(जठराग्नि तथा पंचमहाभूताग्नियों से) पाक होने के पश्चात् अन्न के दो भाग हो जाते हैं। (1) किट्ट भाग तथा (2) सार भाग। किट्ट के भी दो भाग हो जाते हैं। (1) भाग घन शकृत् (पुरीष) तथा (2) द्रव भाग मूत्र कहलाता है।

रस धातु के दो भेद होते हैं। **'द्विविधो रसः स्थायी पोषकश्चेति चक्रपाणिः'** 1. स्थायी रस धातु तथा 2. पोषक रस धातु।

[1] स्थायी रस धातु वह है जिसका धमनियों द्वारा वहन नहीं होता है। यह ऊतक तरल [tissue fluid] तथा अन्तःकोशिका तरल [intracellular fluid] है।

[2} पोषक रसधातु वह है जिसका धमनियों द्वारा वहन होता रहता है तथा शरीर की धातुयें [ऊतक-tissues] जिससे पोषण प्राप्त करती हैं। यह प्लाज्मा [plasma] है। लसिका [lymph] प्लाज्मा का ही अंश होता है।

रस का स्थान—

तस्य च हृदयं स्थानम्। स हृदयाच्चतुर्विंशतिधमनीरनुप्रविश्यो— र्ध्वगाः दश दश चाधोगामिन्यश्चतस्रश्च तिर्यग्गाः कृत्स्नं शरीरमहरहस्तर्पयति वर्धयति धारयति यापयति चादृष्टहेतुकेन कर्मणा।। सु० सू० 14/3

रस धातु का स्थान हृदय है। हृदय से रसधातु धमनियों [धमनियां 24कही गई हैं— 10ऊपर की ओर जाने वाली, 10नीचे की ओर जाने वाली तथा 4 तिरछी जाने वाली] में प्रवेश कर पूर्व कर्म के प्रभाव से शरीर को प्रतिदिन तृप्त करता है अर्थात् पोषण प्राप्त कराता है, बढ़ता है, धारण करता है तथा यापन करता है अर्थात् ऊतकों को सजीव रखता है।

रस धातु के गुण और कर्म—

तत्र 'रस' गतौ धातुः। अहरहर्गच्छतीत्यतो रसः।। सु० सू० 14/14

'रस' गतिवाचक धातु है। यह प्रत्येक समय गति करता रहता है, इसलिए रस कहलाता है।

शरीर में परिसंचरण करने वाले इस रस की गति, क्षति, वृद्धि तथा विकृति अनुमान द्वारा ही जानी जाती है।

समस्त शरीर के अवयवों, दोष, धातु, मल तथा आशयों में पहुंचने वाले इस रस के सम्बन्ध में यह जिज्ञासा है कि रस सौम्य है या आग्नेय ?

इस जिज्ञासा का समाधान है कि द्रव, गतिशील, स्निग्ध जीवनीय, शरीर

को पोषण [पोषण] तथा धारण करने वाले विशेष गुणों से युक्त होने के कारण रस सौम्य है।

रस स्वयं गतिशील नहीं है। गति उत्पत्ति वायु द्वारा होती है। अतः रस संवहन का कारण वायु है। संहिता ग्रन्थों में कहा गया है कि समस्त शरीर में विचरण करने वाला व्यान वायु रस के संवहन में प्रवृत्त रहता है। सु० नि० 1/16 तथा विक्षेपोचित कर्म करने वाले व्यान वायु द्वारा रसधातु एक ही समय में सम्पूर्ण देह में निरन्तर विक्षेपित होती रहती है। अ० हृ० शा० 3/68

रस संवहन के सम्बन्ध में कहा गया है कि–

स (रस) शब्दार्चिर्जलसन्तानवदमुना विशेषेणानुधावत्येवं शरीरे केवलम्।।

शब्द, अग्नि तथा जल के विस्तार के समान रस अत्यन्त सूक्ष्म रूप से समस्त शरीर में संवहित होता है। सन्तान द्वारा परिवार का विस्तार होता है। अतः विस्तार के आशय से 'सन्तान' शब्द का प्रयोग किया है।

टीकाकार डल्हण जल शब्द के समान विस्तार से रस का शरीर में तिर्यग्गामित्व, अग्नि के समान विस्तार से ऊर्ध्वगामित्व तथा जल के समान विस्तार से अधोगामित्व कहते हैं। इस प्रकार शब्द, अर्चि तथा जल के विस्तार के समान रस समस्त शरीर में परिसंचरित होता रहता है। चक्रपाणिदत्त ने शब्द, अर्चि तथा जल को मध्य, तीक्ष्ण तथा मन्द अग्नि का निर्दशक कहा है। यदि अग्नि मध्य है तो रस से शुक्र की उत्पत्ति 6 दिन में तथा मन्द है तो एक मास में होती है।

अग्नि एवं जल शब्दों का विश्लेषण इस प्रकार भी हो सकता है कि शब्दों के द्वारा उत्पन्न तरंगें समस्त दिशाओं में एक साथ गमन करती हैं। ये तरंगें वायु में सघनता अथवा विरलता उत्पन्न करती हैं। जहां वायु का प्रवेश सम्भव है, उन सूक्ष्मतम स्थानों में शब्द तरंगें भी प्रवेश कर जाती हैं। इसी प्रकार रसधातु शब्द के समान एक ही समय में चारों ओर संचरित होता रहता है तथा शरीर के सूक्ष्म स्थान [प्रत्येक देह कोशिका] में पहुंच जाता है।

अग्नि समस्त द्रव्यों को भस्म कर देता है। यह क्रिया उस समय तक सम्पन्न होती रहती है जब तक कि ईंधन के रूप में भस्म होने के लिए नवीन द्रव्य उपलब्ध होते रहते हैं। इसी प्रकार धातु अग्नि कर्मों [अपचय कर्मों] के लिए रस धातु ईंधन का कार्य करती है। रस धातु के पोषक तत्त्व प्राप्त कर शरीर में चयापचय क्रियायें सम्यक् रूप से होती रहती हैं।

जल उच्च तल से निम्नतल की ओर चारों ओर गमन करता है तथा जिस ओर उसका विस्तार है वहां वृद्धि तथा तृप्ति का कारण होता है

इसी प्रकार रसधातु चारों ओर संचरित होकर परिणामस्वरूप धातुओं (ऊतकों) के पोषण तथा वृद्धि का कारण होती है।

रस धातु के अन्य कर्म–

1. **रसाद्रक्तं.............प्रजायते।** च० चि० 15/15, अ० हृ० शा० 3/62
   रस से रक्त उत्पन्न होता है।
2. **रसस्तुष्टिं प्राणनं रक्तपुष्टिं च करोति।।** सु० सू० 15/6
   रस तृप्ति एवं प्रसन्नता, शरीर का तर्पण (पोषण) एवं रक्त की पुष्टि करता है।

रसधातु का शरीर में प्रमाण–

स एवान्नरसो वृद्धानां परिपक्वशरीरत्वादप्रीणनो भवति।।

सु० सू० 14/20

वृद्धावस्था में शरीर के परिपक्व हो जाने के कारण रस धातु पहिले के समान पुष्टि कारक नहीं है क्योंकि वृद्धावस्था में रक्तवाहिकाओं की प्रत्यास्थता (लचीलापन) कम हो जाता है तथा हृद निकास भी कम हो जाता है, जिससे रससंवहन पूर्व की भांति नहीं होता है। अतः रसधातु के तर्पण कर्म में न्यूनता आ जाती है।

3. **रसनिमित्तमेव स्थौल्यं कार्श्यं च।।** सु० सू० 15/33
   शरीर की स्थूलता और कृशता रस के कारण ही होती है। इसकी वृद्धि में स्थूलता तथा अल्पता से कृशता होती है।
4. **रसात्स्तन्यं स्त्रिया रक्तम्।।** च० चि० 15/16
   रस से स्त्रियों में दूध तथा आर्तव की उत्पत्ति होती है।
   रसादेव स्त्रिया रक्तं रजःसंज्ञं प्रवर्तते।।
   रस से ही स्त्रियों में रजसंज्ञा वाले आर्तव की प्रवृत्ति होती है।
5. **किट्टं रसस्य तु कफो।** च० चि० 15/17
   रस का किट्ट कफ है। अर्थात् रस किट्ट स्वरूप कफ (mucus) की उन्नति होती है।

प्रत्येक मनुष्य का प्राकृत मान एक–दूसरे से भिन्न होता है। यह शरीर के आकार, भार आदि पर निर्भर करता है। शरीर में रसादि धातुओं की कितनी मात्रा उपस्थित होनी चाहिए यह प्रत्येक व्यक्ति की स्वयं की अञ्जलि प्रमाण में बताई गई है। रस धातु के शरीर में प्रमाण के सम्बन्ध में कहा गया है कि–

नवाञ्जलयः पूर्वस्याहारपरिणामधातोः, यं 'रस' इत्याचक्षते।।

च० शा० 7/12

आहार के पाक के पश्चात् जो प्रथम धातु बनती है उसे रस कहते हैं तथा इसका शरीर में नौ अञ्जलि प्रमाण होता है।

शरीर में रस का यह प्रमाण मध्य (average) है। आहार–विहार तथा अन्य विपरीत परिस्थितियों में यह मात्रा कम अथवा अधिक भी हो सकती है, सामान्य व्यक्ति की अञ्जलि में लगभग 16 तोला (180 मि० ली० के लगभग) जल आता है। नौ अञ्जलि प्रमाण नवीन माप के अनुसार 1.75=2.0 लीटर के लगभग होता है। आधुनिक विज्ञान के प्रयोगों से सिद्ध है कि 70 कि०ग्राम भार वाले व्यक्ति में सामान्यतः 5.6 लीटर रक्त होता है। तथा इस रक्त में 55 प्रतिशत तरल अंश (प्लाज्मा) होता है जो 3.0—3.5 लीटर के लगभग है। शरीर का समस्त जलीय अंश शरीर भार का 50 से 70 प्रतिशत तक होता है। मेद की अतिवृद्धि के कारण उत्पन्न स्थूल शरीर में 50 प्रतिशत तथा दुबले पतले व्यक्ति में 70 प्रतिशत के लगभग जलीय अंश होता है। सामान्य भार तथा आकार वाले व्यक्ति में जलीय अंश की यह मात्रा लगभग 42 लीटर होती है। इस मात्रा का 1/3 भाग अर्थात् 14 लीटर ही शरीर की कोशिकाओं से बाहर रिक्त स्थानों में एकत्रित रहता है। इस 14 लीटर मात्रा में 3.0—3.5 लीटर प्लाज्मा होता है। रस धातु के कार्य प्लाज्मा के समान होते हैं। अन्य शरीर द्रव प्लाज्मा से पोषक द्रव्यों को प्राप्त कर, अवयवों तक केवल पहुंचाते मात्र हैं। रस धातु के अतिरिक्त अन्य बहिःकोशकीय द्रवांश के सम्बन्ध में आचार्य चरक ने कहा है :–

दशोदकस्याञ्जलयः शरीर स्वेनाञ्जलिप्रमाणेन, यत्तु प्रच्यवमान– पुरीषमनुबध्नात्यतियोगेन तथा मूत्रं रुधिरमन्यांश्च शरीरधातून्, यत्तु सर्वशरीरचरं बाह्या त्वग्बिभर्ति, यत्तु त्वगन्तरे व्रणगतलसीकाशब्दं लभन्ते यच्चोष्मणाऽनुबद्धं लोमकूपेभ्यो निष्पतत् स्वेदशब्दमवाप्नोति, तदुदकं दशाञ्जलिप्रमाणम्।। च० शा० 7/16

अपनी अञ्जलि के प्रमाण से शरीर में जल का प्रमाण दस अञ्जलि है। यह प्रमाण अनुमान से ही जाना जाता है। जो जल, शरीर में प्रतियोग होने पर पुरीष और मूत्र द्वारा निकल जाता है और रुधिर तथा अन्य धातुओं से अनुबन्धित रहता है एवं समस्त शरीर में परिसंचरित होता हुआ बाह्य त्वचा का पालन करता है, त्वचा में व्रण होने पर 'लसिका' (सीरम) कहलाता है तथा शरीर में ऊष्मा के बढ़ने पर ऊष्मा से अनुबन्धित हुआ कूपों से स्वेद के रूप में निकल जाता है, वह जल शरीर में दस अञ्जलि प्रमाण में रहता है।

उपरोक्त वर्णन अन्तरालीय (interestitial) जल के सम्बन्ध में है।

इसकी मात्रा अनुमान से ही सिद्ध है तथा आजकल दस अञ्जलि के स्थान पर लगभग दस लीटर अनुमान की जाती है।

रससार पुरुष के लक्षण–

चिकित्सा कर्म में रोगी के बल को जानना आवश्यक होता है। यदि रसादि धातुयें शरीर में सम्यक् प्रकार से स्थिर होकर अपने स्वाभाविक कर्म कर रही होती हैं तथा मानसिक क्रियायें भी ठीक प्रकार से होती रहती हैं तो वह व्यक्ति स्वस्थ माना जाता है। यदि ऐसा नहीं है तो चिकित्सक के लिए आवश्यक है कि बल प्रमाण को जानने के लए सार द्वारा परीक्षा करे। शरीर मात्र के देखने से कि शरीर भरा हुआ है तो बलवान् है, शरीर के कृश होने से निर्बल है, महान् शरीर होने से अति बलशाली है तथा शरीर छोटा होने से अल्प बलशाली है, वह ज्ञान सर्वथा ठीक नहीं होता है। छोटे तथा दुबले शरीर–वाले भी बलवान् हो सकते हैं अतः सारता के ज्ञान से ही बल का प्रमाण माना जा सकता है। इस ज्ञान की उपलब्धि हेतु आठ प्रकार के सारों का चिकित्सा शास्त्र में वर्णन किया गया है।

साराण्यष्टौ पुरुषाणां बलमानविशेषज्ञानार्थमुपदिश्यन्तेः तद्यथा-त्वग्रक्तमांसमेदोऽस्थिमज्जशुक्रसत्त्वानि। च० वि० 8/112

पुरुषों में बल के प्रमाण सम्बन्धी विशेष ज्ञान के लिए आठ प्रकार के सारों का वर्णन किया गया है। यथा–[1] त्वक्सार, [2] रक्तसार, [3] मांससार, [4] मेदसार, [5] अस्थिसार, [6] मज्जासार, [7] शुक्रसार तथा [8] सत्त्वसार।

एषां पूर्वं पूर्वं प्रधानमायुःसौभाग्ययोरिति।। सु० सू० 35/17

सत्त्वसार, शुक्रसार इस प्रतिक्रम से वर्णन करते हुए सुश्रुताचार्य ने कहा है कि इनमें पूर्व के सार आयु और सौभाग्य की दृष्टि से प्रधान होते हैं– अर्थात्– त्वक्सार से रक्तसार, रक्तसार से मांससार, मांससार से मेदसार, मेदसार से अस्थिसार, अस्थिसार से मज्जासार, मज्जासार से शुक्रसार तथा शुक्रसार से सत्त्वसार वाले पुरुष आयु तथा सौभाग्य की दृष्टि से अधिकाधिक प्रशस्त होते हैं। इसका कारण है कि पूर्व धातु से उत्तर धातु की पुष्टि होती है। शुक्रसार व्यक्ति में अन्य समस्त धातुएं भी सम्यक् प्रकार से कर्म करती हुई होती हैं तथा सप्त धातुओं में सम्यक् प्रकार से कर्म करने से सत्त्व, (मन) की क्रियायें–चिन्तन करना, विचार करना, तर्क–वितर्क, ध्येय, संकल्प आदि, ठीक प्रकार से सम्पन्न होती हैं। इसी से सत्त्वसार पुरुष स्मृति शक्ति उत्पन्न, कृतज्ञ, बुद्धिमान्, पवित्र, अत्यन्त उत्साही, बुद्धि तथा चेष्टाओं में गम्भीर आदि गुणों से युक्त कहा है। सर्वसार युक्त पुरुष सर्वश्रेष्ठ है। उसके विषय में चरक संहिता वि० 8/121 में कहा गया है

कि सब सारों से युक्त पुरुष अतिबलवान्, परमगौरवयुक्त, क्लेश को सहन करनेवाला, कार्यों में आत्मविश्वासी, कल्याण में तत्पर, सुसंगठित एवं स्थिर शरीरवाला, सुव्यवस्थित गतिवाला, गूंजनेवाला स्निग्ध तथा गम्भीर स्वरवाला, सुख ऐश्वर्य, धन उपभोग और सम्मानवाला होता है। ऐसे पुरुष को बुढ़ापा कम व्यापता है तथा रोग कम होते हैं। सन्तान भी समान गुणवाली होती हैं। वे पुरुष दीर्घायु होते हैं।

अतो विपरीतास्त्वसाराः ।। च० वि० 8/122

सार लक्षणों के विपरीत लक्षणयुक्त पुरुष साररहित कहलाते हैं।

पहले वर्णन किया जा चुका है कि शरीर में रस का प्रमाण अनुमान द्वारा जाना जाता है। अनुमान का भी कोई आधार होता है। यहां व्यक्ति की त्वचा को देखकर रसधातु के सम्बन्ध में अनुमान किया जाता है, अतः रससारता के जानने के लिए त्वक्सार पुरुष का वर्णन किया गया है।

तत्र स्निग्धश्लक्ष्णमृदुप्रसन्नसूक्ष्माल्पगम्भीरसुकुमारलोमा सप्रभेव च त्वक् त्वक्साराणां सा सारता सुखसौभाग्यैश्वर्योपभोगबुद्धिविद्या-रोग्यप्रहर्षणान्यायुश्चानित्वरमाचष्टे ।। च० वि० 8/113

त्वक्सार पुरुष की त्वचा स्निग्ध, श्लक्ष्ण, मृदु, सूक्ष्म (पतली) तथा अल्प एवं कोमल लोमवाली और प्रभायुक्त होती है।

यह सारता सुख, सौभाग्य, ऐश्वर्य, उपभोग, बुद्धि, विद्याा, आरोग्य, प्रसन्नता तथा दीर्घायु को बताती है।

सुप्रसन्नमृदुत्वग्रोमाणं त्वक्सारं विद्यादिति ।। सु० सू० 35/17

त्वक्सार पुरुष की त्वचा तथा रोम सुप्रसन्न तथा कोमल होते हैं।

रस वृद्धि के लक्षण—

शरीर में रस धातु के सामान्य से अधिक हो जाने पर जी मिचलाना, मुख से स्राव का अधिक उत्पन्न होना तथा श्लेष्मा (कफ) की वृद्धि के समान मन्दाग्नि, आलस्य, शीतता, अंगों में शिथिलता, श्वास, कास एवं निद्रा की अति आदि लक्षण प्रकट होते हैं।

रसोऽतिवृद्धो हृदयोत्क्लेदं प्रसेकं चापादयति ।। सु० सू० 15/15

श्लेष्माऽग्निसदनप्रसेकालस्यगौरवम् ।

श्वैत्यशैत्यश्लथांगत्वश्वासकासातिनिद्रताः ।।

रसोऽपि श्लेष्मवत् ।। अ० हृ० सू० 11/7,8

रस क्षय के लक्षण—

शरीर में रसधातु के क्षय होने की दशा में जरा—सी चेष्टा करने पर

हृदय में पीड़ा होने लगती है। ऊंचें स्वर में बोलना सहन नहीं होता। जरा–जरा सी बातों पर हृदय की धड़कन बढ़ जाती है। शरीर में कम्पन तथा शून्यता प्रतीत होती है। मामूली से परिश्रम से थकावट आ जाती है। मुख सूख जाता है, प्यास अधिक लगती है। शरीर में रूक्षता बढ़ जाती है। अपने से ही ग्लानि उत्पन्न हो जाती है।

घट्टते सहते शब्दं नोच्चैर्द्रवति शूल्यते।
हृदयं ताम्यति स्वल्पचेष्टस्यापि रसक्षये।। च० सू० 17/63
रसक्षये हृत्पीडा कम्पः शून्यता तृष्णा च।। सु० सू० 15/10
रसे रौक्ष्यं श्रमः शोषो ग्लानिः शब्दाऽसहिष्णुता।। अ० हृ० सू० 11/17

क्षय अथवा वृद्धि का सामान्य प्रतिकार–

दोषधातुमलक्षीणो बलक्षीणोऽपि वा नरः।
स्वयोनिवर्धनं यत्तदन्नपानं प्रकांक्षति।।
यद्यदाहारजातं तु क्षीणः प्रार्थयते नरः।
तस्य तस्य स लाभे तु तं तं क्षयमपोहति।।सु० सू० 15/30, 31

दोषक्षीण, धातुक्षीण, मलक्षीण या ओजक्षीण मनुष्य क्षीणता को दूर करने वाले अन्नपान की अभिलाषा किया करता है। क्षीण मनुष्य जिस आहार की इच्छा करता है उससे उसे लाभ होता है तथा क्षय का नाश हो जाता है।

यह वृद्धि और क्षय को दूर करने का सामान्य क्रम है। जब रस क्षय होता है तो रसवर्धक पदार्थों की यथा दूध आदि की इच्छा होती है तथा रस की वृद्धि होने पर इसके प्रति अनिच्छा और इसके विपरीत रूक्ष, उष्ण आदि पदार्थों की इच्छा हो जाती है। हमको प्रायः हितकर पदार्थों की इच्छा तथा अहितकर पदार्थों के प्रति अनिच्छा सामान्यतः रहती है। इस प्रकार हित का सेवन तथा अहित का त्याग करते हुए दोष, धातुओं आदि की वृद्धि को क्षीण तथा क्षय की दशा में वृद्धि कर दोष धातुओं आदि को साम्यावस्था में लाना चाहिए।

रसज विकार–

क्षीण अथवा वृद्ध रसधातु को यदि साम्यावस्था में नहीं लाया जाएगा तो शरीर से रस धातु में स्थित दोष विषमावस्था को प्राप्त होकर रसधातु में विकार उत्पन्न करते हैं। विकारों के सामान्य लक्षण हैं–

भोजन के प्रति अश्रद्धा, अरुचि, मुख में रस का विकृत हो जाना, हृल्लास (जी मिचलाना-nausea), भारीपन, तन्द्रा, अंगों में पीड़ा, ज्वर, नेत्रों के आगे अन्धकार होना, पाण्डुता, स्रोतों में अवरोध, मैथुनशक्ति में ह्रास, शिथिलता, शरीर का दुबला हो जाना, तृप्ति (पेट भरा हुआ प्रतीत होना, थकान तथा हृदय

रोग होना। ये रसदुष्टि से उत्पन्न लक्षण हैं।

अश्रद्धा चारुचिश्चास्यवैरस्यमरसज्ञताः।
हृल्लासो गौरवं तन्द्रा साङ्गमर्दो ज्वरस्तमः।।
पाण्डुत्वं स्रोतसां रोधः क्लैव्यं सादः कृशाङ्गता।
नाशोऽग्नेरयथाकालं वलयः पलितानि च।।
रसप्रदोषजा रोगाः।। च० सू० 28/89

तत्र अन्नाश्रद्धारोचकाविपाकाङ्गमर्दज्वरहृल्लासतृप्तिगौरवहृत्पाण्डुरोगमार्गोपरोधकार्श्यवैरस्याङ्गसादाकालवलीपलितदशनप्रभृतयो रसदोषजा विकाराः। सु० सू० 24/9

रसजानां विकारणां सर्वलंघनमौषधम्। सु० सू० 28/24

रसज विकारों के प्रतिकारों के लिए सब प्रकार के लंघन औषध हैं।

शरीर में लघुता उत्पन्न करने वाले उपायों को लंघन कहते हैं। रसदोषज लक्षण श्लेष्मा प्रकोपज लक्षणों के समान होते हैं। स्निग्धता, स्नेहता आदि भाव शरीर में बढ़ जाते हैं अतः लघुता उत्पन्न करने वाले उपायों से लाभ होता है। लंघन द्वारा बढ़े हुए दोषों को क्षीण करके साम्यावस्था में ले आना चिकित्सा है।

रसवह स्रोतस एवं दुष्टि के कारण–

रसवाहानां स्रोतसां हृदयं मूलं दश च धमन्यः। च० वि० 5/9

रसवह स्रोतों का मूल हृदय तथा (दस) धमनियां हैं।

गुरुशीतमतिस्निग्धमतिमात्रं समश्नताम्।
रसवाहिनो दुष्यन्ति चिन्त्यानां चातिचिन्तनात्।। च० वि० 5/18

भारी, शीतल, अत्यन्त स्निग्ध, अत्यधिक मात्रा में भोजन करने में तथा बहुत अधिक चिन्ता करने से रसवाही स्रोत दुष्ट हो जाते हैं।

उपधातु

संस्कृत में 'धातु' शब्द की निष्पत्ति 'डुधाञ्–धारणापोषणयोः' से है। इसका अर्थ है धारण तथा पोषण करना। धातुयें शरीर का धारण तथा पोषण करती हैं। रस, रक्त, मांस, मेद, मज्जा तथा शुक्र ये सात धातुयें शरीर का धारण तथा पोषण करती हैं। इन धातुओं के अतिरिक्त सात ही उपधातुयें हैं। उपधातु धातुओं के समान शरीर का धारण तो करती हैं परन्तु पोषण नहीं करती हैं। धातुओं से आंशिक समता के कारण ही इन्हें उपधातु कहा गया है। धातुओं की साम्यावस्था, क्षयावस्था अथवा वृद्धावस्था का प्रभाव अन्य धातुओं पर पड़ता है परन्तु उपधातुओं का इस प्रकार का एक दूसरे पर कोई प्रभाव

नहीं पड़ता है।

रसात्स्तन्यं स्त्रिया रक्तमसृजः कण्डराः सिराः।

मांसाद्वसा त्वचः षट् च मेदसः स्नायुसम्भवः।। च० चि० 15/16

रस से स्त्रियों में स्तन्य (दूध) तथा आर्तव, रक्त के कण्डरा तथा सिरा, मांस से वसा तथा छः त्वचा, मेद से स्नायु की उत्पत्ति होती है।

उपधातु का स्रोत	उपधातु
1- रस धातु	1 - स्तन्य (दूध) तथा
	2 - आर्तव
2. रक्त धातु	1 - कण्डरा तथा
	2 - सिरा
3 - मांस धातु	1 - वसा तथा
	2 - षट् त्वचा
4. मेद धातु	1 - स्नायु

अस्थि, मज्जा तथा शुक्र धातुओं से उपधातुओं की उत्पत्ति नहीं होती है। परन्तु श्री शार्ङ्गधराचार्य ने सातों धातुओं की उपधातुओं का वर्णन किया है।

स्तन्यं रजश्च नारीणां काले भवति गच्छति।

शुद्धमांसभवः स्नेहः सा वसा परिकीर्तिता।

स्वेदो दन्तास्तथा केशास्तथैवोजश्च सप्तमम्।

इति धातुभवा ज्ञेया एते सप्तोपधातवः।। शा० पू० 5/15,16

स्त्रियों के स्तनों में दूध (स्तन्य) रस धातु की उपधातु है तथा स्त्रियों का रज (आर्तव) रक्त धातु की उपधातु है। ये दोनों समयानुसार उत्पन्न तथा नष्ट होते रहते हैं। विशुद्ध मांस के स्नेह को वसा कहते हैं यही मांस धातु की उपधातु है। स्वेद मेद धातु की उपधातु है। दांत अस्थियों की उपधातु हैं। केश और रोम मज्जा धातु की उपधातु हैं तथा ओज शुक्र धातु की उपधातु है। इस प्रकार सातों रसादि धातुओं से सात उपधातुओं की उत्पत्ति होती है।

स्तन्य

उत्पत्ति–

रसात् स्तन्यसम्भवः।। च० चि० 15/16

रस धातु के स्तन्य (दूध) की उत्पत्ति होती है।

रसप्रसादो मधुरः पक्वाहारनिमित्तजः।

कृत्स्नदेहात् स्तनौ प्राप्तः स्तन्यमित्यभिधीयते।। सू० नि० 10/17

पचे हुए आहार से उत्पन्न रस का प्रसाद तथा मधुर भाग जो समस्त शरीर में परिसंचरित होता रहता है, स्तनों में पहुंचकर परिवर्तित हो स्तन्य कहलाता है। अर्थात् जब रस धातु [प्लाज्मा] स्तन में पहुंचता है तब दुग्ध कोशिकाओं [milk alveoli] में स्थित विशेष कोशिकायें रस धातु से दूध उत्पादक द्रव्यों को ग्रहण कर स्तन्य [दूध] की उत्पत्ति करती हैं।

विशस्तेष्वपि गात्रेषु यथा शुक्रं न दृश्यते।
सर्वदेहाश्रितत्वाच्च शुक्रलक्षणमुच्यते।। स० नि० 10/18

सर्वशरीरव्यापी होने के कारण शरीर के अंगों के विच्छेदन पर जिस प्रकार शुक्र दिखाई नहीं देता है उसी प्रकार शुक्र के सदृश सर्वदेहाश्रित स्तन्य होता है।

रस धातु में स्थित स्तन्य उत्पादक तत्त्वरस [plasma] के साथ ही समस्त शरीर में संवहित होते रहते हैं। उनका स्वरूप स्तन्य के समान नहीं होने के कारण सर्वदेहाश्रित होने पर भी दिखाई नहीं देते हैं, परन्तु दुग्ध उत्पादनकाल में वे दुग्ध कोशिकाओं में पहुंचने पर स्तन्य में परिवर्तित होते रहते हैं।

आहाररसयोनित्वादेव स्तन्यमपि स्त्रियाः।
तदेवापत्यसंस्पर्शाद् दर्शनात् स्मरणादपि।।
ग्रहणाच्च शरीरस्य शुक्रवत् संप्रवर्तते।
स्नेहो निरन्तरस्तत्र प्रस्रवे हेतुरुच्यते।। सु० नि० 10/20, 21

आहाररस से उत्पन्न स्तन्य स्त्रियों में सर्वशरीरव्यापी होता है। यह स्तन्य बालक के स्पर्श, दर्शन, स्मरण और ग्रहण करने पर शुक्र के समान सर्वदेहाश्रय छोड़कर स्तनों को प्राप्त हो बाहर निकलता है। इस प्रकार स्तन्य का उत्पन्न होकर बाहर निकलते रहने में माता का निरन्तर स्नेह ही कारण है।

कन्याओं में दूध की उत्पत्ति न होने के कारण के सम्बन्ध में कहा गया है कि–

धमन्यः संवृतद्वाराः कन्यानां स्तनसंश्रिताः।
तासामेव प्रजातानां गर्भिणीनां च ताः पुनः।
स्वभावादेव विवृता जायन्ते। सु० नि० 10/15, 16

कन्याओं के स्तनों से सम्बन्ध रखने वाली धमनियां [दूग्ध–कोश -alveoli] संकुचित होती हैं। प्रसूता तथा गर्भवती होने पर स्त्रियों के स्तन्य की ये धमनियां अपने स्वभाव के कारण अपने आप विस्तृत हो जाती हैं अर्थात् कार्यरत हो जाती हैं।

शुद्ध स्तन्य की परीक्षा–

स्तन्यसम्पत् [दूध के शुभगुण] जो दूध वर्ण, गन्ध, रस तथा स्पर्श में

स्वाभाविक हो, शीत, तरल, शंख के समान आभा वाला, फेन एवं तन्तुविरहित हो, जल में डालने से जल में मिल जाए तथा जल श्वेत एवं मधुर हो जाए, वह दूध शुभ गुणों वाला, उत्तम एवं आरोग्य तथा बलदाता होता है। शुद्ध दूध न तो जल में तैरता है अर्थात् जल से हल्का नहीं होता है और न जल में डूबता है अर्थात् जल से भारी नहीं होता है।

स्तन्यसम्पत्तु– प्रकृतवर्णगंधरसस्पर्शमुदपात्रे दुह्यमानमुदकं व्येति प्रकृतिभूतत्वात् तत् पुष्टिकरमारोग्यकरं चेति स्तन्यसम्पत्।।

च० शा० 8/54

यतः क्षीरमुदके क्षिप्तमेकीभवति पाण्डुरम्।
मधुरं चाविवर्णं च प्रसन्नं तद्विनिर्दिशेत्। सु० नि० 10/14
यदद्भिरेकतां याति न च दोषैरधिष्ठितम्।
तद्विशुद्धं पयः।। अ० हृ० उ० 2/2

स्तन्य के गुण तथा कर्म–

अनेक प्रकार के खाद्य पदार्थों के सारभाग का प्रसाद दूध है। यह प्राणों का धारक (बल प्रदान करने वाला) तथा रस एवं विपाक में मधुर तथा गुणों में गुरु, पिच्छिल, शीतल, स्निग्ध, श्लक्ष्ण सर और मृदु होता है इसलिए सब प्राणियों के लिए दूध सात्म्य होता है। यह ओजवर्धक, शारीर धातुओं की वृद्धि करने वाला, वात एवं पित्त शामक, वृष्य, कफकारक, वाजीकर, रसायन, मेधावर्धक, भग्नसंयोजक (भग्न अस्थि आदि का संधान करनेवाला), आयुवर्धक, जीवनीय, शरीर पुष्टिकर, वमनोपग, विरेचक होता है। बालक, वृद्ध तथा क्षत से क्षीण एवं मैथुन, व्यायाम आदि से क्षीण व्यक्तियों के लिए अत्यन्त पथ्यकर होता है। माता का दूध पीने से शिशु पुष्ट होता है, उसकी वृद्धि ठीक प्रकार से होती है तथा वह रोगरहित रहता है।

तत्त्वनेकौषधिरसप्रसादं प्राणदं गुरु।
मधुरं पिच्छिलं शीतं स्निग्धं श्लक्ष्णं सरं मृदु।
सर्वप्राणभृतां तस्मात् सात्म्यं क्षीरमिहोच्यते।। सु० सू० 45/47
स्वादुपाकरसं स्निग्धमोजस्यं धातुवर्धनम्।
वातपित्तहरं वृष्यं श्लेष्मलं गुरु शीतलम्।।
प्रायः पयः।। अ० हृ० सू० 5/22
तत् (स्तन्य) पुष्टिकरमारोग्यकरं चेति।। च० शा० 8/83
स्तन्यं स्तनयोरापीनत्वजननं जीवनं चेति।। सु० सू० 15/8
तेन (स्तन्येन) कुमारस्यारोग्यं शरीरोपचयो बलवृद्धिश्च भवति।।

सु० शा० 10/13

मातुरेव पिबेत् तद्ध्यलं देहवृद्धये।। अ० ह्व० उ० 1/15

गाय, भैंस, बकरी आदि का कच्चा दूध अभिष्यन्दि (कफकारक) और भारी होता है तथा युक्तिपूर्वक गर्म किया हुआ दूध इसके विपरीत कफ को न बढ़ाने वाला तथा हल्का होता है। देर तक गर्म किए जाने से गाढ़ा हुआ दूध भारी हो जाता है तथा धारोष्ण दूध अमृत के सामन गुणकारी होता है। यदि स्वस्थवृत्त के नियमों का पालन करते हुए लिया गया है तो अमृत के समान गुणकारी सिद्ध होता है। स्त्री दुग्ध को गर्म करना वर्जित है।

पथ्योऽभिष्यन्दि गुर्वामं प्रयाशः परिकीर्तितम्। सु० सू० 46/61
तदेवोक्तं लघुतरमनभिष्यन्दि वै शृतम्।।
पयोऽभिष्यन्दि गुर्वामं युक्त्या शृतमतोऽन्यथा।
भवेद् गरीयोऽतिशृतं धारोष्णममृतोपमम्।। अ० ह्व० सू० 5/30
प्रायः प्राभातिकं क्षीरं गुरु विष्टम्भि शीतलम्।
रात्र्याः सोमगुणत्वाच्च व्यायामाभावतस्तथा।।
दिवाकराभितप्तानां व्यायामानिलसेवनात्।
वातानुलोमि श्रान्तिघ्नं चक्षुष्यं चापराह्णिकम्।। सु० सू० 45/59, 60

रात्रि में शीतलता होने के तथा व्यायाम आदि न करने के कारण (घूमने फिरने के अभाव में) पशुओं का प्रातः दूध भारी, विष्टम्भकारक और शीतल होता है।

दिन में सूर्य की किरणों से अभितप्त होने से तथा कार्य करते रहने (व्यायाम, कार्यरत) से तथा वायु के सेवन से सायंकाल का दूध वायु का अनुलोम (नाश) करनेवाला, श्रमनाशक और नेत्रों के लिए हितकर होता है।

स्तन्य वृद्धि के लक्षण–

स्तन्यं स्तनयोरापीनत्वं मुहुर्मुहुः प्रवृत्तिं तोदं च।। सु० सू० 15/60

सामान्य से अधिक दूध की उत्पत्ति में वृद्धि होने से स्तन स्थूल हो जाते हैं। जिसके तनाव होने के कारण पीड़ा होती है तथा बार–बार दुग्धस्राव की प्रवृत्ति होती है।

स्तन्य क्षय के लक्षण–

स्तन्यक्षये स्तनयोर्म्लानता स्तन्यासम्भवोऽल्पता वा। सु० सू० 15/12

दुग्ध उत्पत्ति सामान्य से कम होने पर स्तन सिकुड़ कर छोटे हो जाते हैं, दूध की उत्पत्ति कम हो जाती है अथवा समाप्त हो जाती है।

तत्र श्लेष्मवर्धनद्रव्योपयोगः।। सु० सू० 15/12

दुग्ध क्षय की अवस्था में कफवर्धक, द्रव्यों का उपयोग करना श्रेयस्कर है।

स्त्री दुग्ध–

स्त्री का दुग्ध गुणों में शीतल, लघु एवं स्निग्ध होता है। वह जीवनीय (जीवन देने वाला), वृंहण (बल बढ़ाने वाला), सात्म्य (शरीर के अनुकूल), अग्नि को उद्दीप्त करने वाला है, रस में मुधर तथा अन्नरस में कषाय होता है। यह वात, पित्त एवं रक्त विकारों का नाश करता है। अभिघातज तथा नेत्र रोगों में नेत्र में डालने से तथा रक्तपित्त विकारों में नासिका में टपकाने से लाभ करता है।

जीवनं वृंहणं सात्म्यं स्नेहनं मानुषं पयः।
नावनं रक्तपित्ते च तर्पणं घाक्षिशूलिनाम्।। च० सू० 27/229
नार्यास्तु मधुरं स्तन्यं कषायानुरसं हिमम्।
नस्याश्च्योतनयोः पथ्यं जीवनं लघु दीपनम्।। सु० सू० 45/57

विकृत दुग्ध–

अनिष्टगन्धमम्लं च विवर्णं विरसं च यत्।
वर्ज्यं सलवणं क्षीरं यच्च विग्रथितं भवेत्।। सु० सू 45/64

जिस दूध में अनिष्ट गन्ध आती है, अम्लता उत्पन्न हो गई, वर्ण परिवर्तित हो गया है, स्वाद में नमकीन है अथवा फट गया है ऐसा दूध सेवन के अयोग्य होता है।

वातदूषित दुग्ध–

वातदूषित दुग्ध श्याम व अरुण वर्ण अनुरस में कषाय, विशद (पिच्छिलता रहित), गन्धहीन, रूक्ष (स्निग्धता का अभाव), द्रव (अधिक पतला), फेनिल (झाग युक्त), लघु (जल से हल्का) अतृप्तिकर, शरीर को कृश करने वाला तथा वातरोगों को उत्पन्न करने वाला होता है। यह मल एवं मूत्र का विबन्ध करता है।

श्यावारुणवर्णं कषायानुरसं विशदमनतिलक्ष्यगन्धं रूक्षं फेनिलं लघ्वतृप्तिकरं कण्ठवातविकाराणां कर्तृकं वातोपसृष्टं क्षीरमभिज्ञेयम्।

च० शा० 8/84

वाताद् दुष्टं तु प्लवतेऽम्भसि।
कषायं फेनिलं रूक्षं वर्चोमूत्रविबन्धकृत्।। अ० हृ० उ० 2/3

पित्तदूषित दुग्ध–

पित्तदूषित दूध में काली, नीली, पीली तथा ताम्र वर्ण की आभा होती है। अनुरस में तिक्त, अम्ल तथा कटु होता है। मृतक के समान तथा रक्त के समान गन्ध वाला, अति उष्ण, दाहकारक एवं पित्तज विकारों का उत्पादक होता है।

कृष्णनीलपीतताभावभासं तिक्ताम्लकटुकारनुरसं कुणपरुधिरगन्धि भृशोष्णं पित्तविकाराणां कर्तृ पित्तोपसृष्टं क्षीरमभिज्ञेयम्।

च० शा० 8/84

पित्तादुष्णाम्लकटुकपीतराज्यप्सु दाहकृत्। अ० हृ० उ० 2/4

कफदूषित दुग्ध—

कफदूषित दूध अत्यधिक श्वेत वर्ण का अतिमधुर, अनुरस में लवण एवं घी, तैल, वसा और मज्जा की गंध वाला, अति पिच्छिल तन्तुयुक्त, जल के पात्र में डालने से नीचे बैठने वाला तथा कफज विकारों को उत्पन्न करने वाला है।

अत्यर्थशुक्लमतिमाधुर्योपपन्नं लवणानुरसं घृततैलवसामज्जगन्धिपिच्छिलं तन्तुमदुदपात्रेऽवसीदति श्लेष्मविकाराणां कर्तृ श्लेष्मोपसृष्टं क्षीरमभिज्ञेयम्। च० शा० 8/84

कफात्सलवणं सान्द्रं जले मज्जति पिच्छिलम्।। अ० हृ० उ० 2/76

कफ दूषित दूध कुछ लवण रसयुक्त, गाढ़ा होता है तथा जल में डालने से डूब जाता है।

त्रिदोषदूषित दुग्ध—

सृष्टलिंगं संसर्गात्त्रिलिंगं सान्निपातिकम्।। अ० हृ० उ० 2/6

सन्निपात से दूषित दूध में तीनों दोषों के मिले हुए लक्षण होते हैं।

दुग्ध दोषों की चिकित्सा—

तेषां त्रयाणामपि क्षीरदोषाणां प्रतिपत्तिविशेषमभिसमीक्ष्य यथास्वं यथादोषं च वमनविरेचनास्थापनानुवासनानि विभज्य कृतानि प्रशमनाय भवन्ति। च० शा० 8/85

तीनों प्रकार के दुग्ध दोषों के भेदों की विवेचना करके दूध वाली स्त्री की प्रकृत्ति तथा दूध दोषों के अनुसार वमन, विरेचन तथा आस्थापन और अनुवासन वस्तियों में जो उचित हो उसके प्रयोग में उस दोष का शमन हो जाता है।

स्तन्याभाव में—

स्त्री—दुग्ध के अभाव में बालक को स्त्री—स्तन्य के समान होने के कारण बकरी अथवा गाय का दूध उचित समय पर्यन्त आवश्यकता के अनुसार शिशु के बल को देखकर ठीक मात्रा में देना चाहिए।

क्षीरसात्म्यतया क्षीरमाजं गव्यमथापि वा।
दद्यादास्तन्यपर्याप्तेर्बालानां वीक्ष्य मात्रया।। सु० शा० 10/48
स्तन्याभावे पयश्छागं गव्यं वा तद्गुणं पिबेत्।

स्तन्याभाव के कारण–

शोकक्रोधलंघनायासाः स्तन्यनाशस्य हेतवः।

शोक, क्रोध लंघन तथ आयास, ये स्त्रियों के स्तनों में दूध को नष्ट करने वाले कारण हैं।

स्त्री दुग्ध गर्म नहीं करना चाहिए–

वर्जयित्वा स्त्रियाः स्तन्यमाममेव हि तद्धितम्। सु० सू० 45/62

स्त्री–दुग्ध के अतिरिक्त अन्य दूध गर्म करके पीने योग्य होते हैं। स्त्री दुग्ध बिना गर्म किए ही हितकर होता है।

आर्तव

आर्तव के पर्याय शोणित, रज, ऋतु असृक्, मासिक स्राव आदि हैं।

आर्तवकाल की मर्यादा–

स्त्रियों में रज नाम से जो रक्त होता है उसकी उत्पत्ति रसधातु से होती है। यह रज स्त्रियों में बारह वर्ष की आयु के पश्चात् प्रकट होकर जरावस्था में परिपक्व शरीर के कारण पचास वर्ष की आयु के पश्चात् बन्द हो जाता है। प्रत्येक मास तीन दिन तक रज का स्राव होता है।

रसादेव स्त्रिया रक्तं रजःसज्ञं प्रवर्त्तते।
तद्वर्षाद् द्वादशादूर्ध्वं याति पञ्चाशतः क्षयम्।। सु० सू० 14/6
तद्वर्षाद् द्वादशात् काले वर्तमानमसृक् पुनः।
जरापक्वशरीराणां याति पञ्चाशतः क्षयम्।। सु० शा० 3/11
मासि मासि रजः स्त्रीणां रसजं स्त्रवति त्र्यहम्।
वत्सराद् द्वादशादूर्ध्वं याति पञ्चाशतः क्षयम्।। अ. हृ. शा. 1/7

स्त्री योनि द्वारा बारह वर्ष की अवस्था में 50 वर्ष की अवस्था तक प्रत्येक 28वें दिन के पश्चात् 3 से 5 दिन तक रसजनित रस (श्लेष्मामिश्रित रक्त) का स्राव होता है। 50 वर्ष की आयु के पश्चात् यह स्राव स्वयं बन्द हो जाता है। आर्तवदर्शन के इस मर्यादाकाल में ही स्त्रियों में गर्भ धारण हो सकता है।

रजो दर्शन से प्रकट हो जाता है कि बालिका अब तरुणावस्था में प्रवेश कर रही है। इस काल से उसके शरीर में तरुणावस्था के लक्षण प्रकट होने लगते हैं। डिम्ब ग्रन्थि से डिम्ब का प्रत्येक मास निकलना प्रारम्भ हो जाता है। सामान्यतः 12-14 वर्ष की आयु से रजोदर्शन प्रारम्भ हो जाता है परन्तु यह जलवायु, रहन–सहन स्वभाव आदि पर निर्भर करता है। शीतप्रधान देशों में रजोदर्शन उष्णप्रधान देशों की अपेक्षा देर से प्रारम्भ होता है। उत्तेजनाप्रद

आहार–विहार से रजोदर्शन शीघ्र होने लगता है। गर्भधारण काल में रजोदर्शन प्राकृतिक रूप से बन्द हो जाता है।

आर्तव प्रकृति–

मासेन रसः शुक्रो भवति स्त्रीणां चार्तवम्। सु० सु० 14/14

एक मास में रसधातु पुरुषों में शुक्र तथा स्त्रियों में आर्तव में परिणत हो जाती है।

ते (द्वे धमन्यौ) एवं रक्तमभिवहतो विसृजतश्च) नारीणामार्तव–संज्ञम्। सु० शा० 9/7

दो धमनियां (गर्भाशय धमनियां) स्त्रियों में आर्तव वहन का कार्य करती हैं। मास भर तक संचित किंचित् कृष्ण वर्ण का तथा विकृत गन्धयुक्त आर्तव उचित समय पर धमनियों से अपान वायु द्वारा योनिमुख की ओर ले जाया जाता है अर्थात् योनि से निष्कासित होता है।

मासेनोपचितं काले धमनीभ्यां तदार्तवम्।
ईषत्कृष्णं विगन्धं च वायुर्योनिमुखं नयेत्।। सु० शा० 3/10
मासेनोपचितं रक्तं धमनीभ्यामृतौ पुनः।
ईषत्कृष्णं विगन्धं च वायुर्योनिमुखान्नुदेत्।। आ० हृ० शा० 1/23

ऋतु-काल की मर्यादा–

जिस दिन से आर्तवस्राव प्रारम्भ हो जाता है उस दिन से सौलहवीं रात्रि पर्यन्त समय को ऋतु काल कहते हैं। यह 16 दिन का ऋतु काल गर्भ धारण करने योग्य है। सुश्रुत के अनुसार ऋतुकाल 12 दिन का होता है।

आर्त्तवस्रावदिवसादृतुः षोडशरात्रयः।
गर्भग्रहणयोग्यस्तु स एव समयः स्मृतः।। भाव पू० 3/2
ऋतुस्तु द्वादशरात्रं भवति दृष्टार्तवः।। सु० शा० 3/6

ऋतु स्राव (मासिक धर्म Menstrual Cycle) के प्रारम्भ होने के 12 दिन बीत जाने पर (सामान्यतः चौदहवें दिन अन्यथा 13 वें से 16 दिन तक) डिम्ब ग्रन्थि से निकलकर डिम्ब (ovum) गर्भाशय में प्रवेश करता है और प्रवेश के पश्चात् केवल दो दिन जीवित रहता है जीवित डिम्ब से जीवित शुक्राणु का संयोग होने पर ही गर्भ धारण हो सकता है अतः 12वें –13वें दिन से 15वें [13 से 18 दिन] दिन तक का काल गर्भ धारण काल माना गया है।

ऋतु के पश्चात् गर्भाशय की स्थिति–

जिस प्रकार दिन की समाप्ति पर (रात्रि में) कमल निश्चित रूप से संकुचित हो जाता है उसी प्रकार ऋतुकाल की समाप्ति पर स्त्रीयोनि संकुचित हो जाती है और फिर योनि पुरुष वीर्य को ग्रहण नहीं कर सकती है।

नियतं दिवसेऽतीते संकुचत्यम्बुजं यथा।
ऋतौ व्यतीते नार्यास्तु योनिः संव्रियते तथा।। सु० शा० 3/9
पद्मं संकोचमायाति दिनेऽतीते यथा तथा।
ऋतावतीते योनिः सा शुक्रं वातः प्रतीच्छति।। अ. हृ. शा. 1/22

योनि वीर्य को ग्रहण तो कर सकती है परन्तु गर्भाशय में डिम्ब के अभाव में गर्भधारण सम्भव नहीं होता। गर्भधारण काल ऋतु काल की समाप्ति के 12वें दिन से 17-18 दिन के मध्य ही समान्यतः रहता है। इस समय ही गर्भाशय में जीवित डिम्ब उपस्थित रहता है।

आर्तव का स्वरूप–

आर्तब शोणित आग्नेय होता है और शुक्र [वीर्य] सौम्य होता है। **[सौम्यं शुक्रमार्तवमाग्नेयम्]**— शुक्र सौम्य एवं आर्तव आग्नेय होता है। गर्भ अग्नि और सोम के संयोग से उत्पन्न होता है।

आर्तवं शोणितं त्वाग्नेयम् अग्नीषोमीयत्वाद् गर्भस्य।
सु० सू० 14/47

शुद्ध आर्तव गुञ्जाफल, लाल कमल, लाक्षारस, इन्द्रगोप अथवा शशक के रक्त के वर्ण का होता है। वस्त्रों पर लगे चिन्ह धोने से छूट जाते हैं यह मास के अन्तर से निकलता है तथा पिच्छिल, दाह एवं पीड़ा से रहित होता है तथा अधिकतम पांच दिन तक मात्रा में न बहुत अधिम और न कम प्रवृत्त होता है।

गुञ्जाफलसवर्णं च पद्माऽलकसन्निभम्।
इन्द्रगोपसंकाशमार्तवं शुद्धमादिशेत्।। च० चि० 30/223
शशासृक्प्रतिमं यत्तु यद्वा लाक्षारसोपमम्।
तदार्तवं प्रशंसन्ति यद्वासो न विरञ्जयेत्।। सु० शा० 2/27
लाक्षारस शशास्राभं धौतं यच्च विरज्यते।। अ. हृ. शा. 1/19
मासान्निष्पिच्छदाहार्ति पञ्चरात्रानुबन्धि च।
नैवातिबहु नात्यल्पमार्तवं शुद्धमादिशेत्।। च० चि० 30/222

आर्तव का कार्य–

रक्तलक्षणमार्तवं गर्भकृच्च गर्भो गर्भलक्षणम्।। सु० सू० 15/19

रक्त के समान लक्षण वाला आर्तव गर्भस्थिति का कारक है। गर्भ की स्थिति हो जाने पर गर्भाशय में गर्भ के लक्षण उत्पन्न करता है।

आर्तव दर्शन के 13वें दिन से 16वें दिन के अन्दर डिम्ब ग्रन्थियों से डिम्ब का क्षरण होता है और वह गर्भाशय में पहुंचता है। डिम्ब और शुक्राणु के संयोग से गर्भ स्थापित करने के लिए गर्भाशय आधार तैयार करता है। इसके लिए गर्भाशयभित्तियों में गर्भाशय धमनियों द्वारा रक्त अधिक मात्रा में एकत्रित होने लगता है जिससे अन्तर्गर्भाशय कला (endometrium) मोटी हो जाती है।

यदि डिम्ब एवं शुक्राणु का संयोग होकर विरेचन हो जाता है तब अन्तर्गर्भाशय कला का व्यपजनन (degeneration) नहीं होता है तथा यह गर्भस्थिति का कारण बन जाता है। अन्यथा 28वें दिन यह अतिरिक्त रक्त अन्तर्गर्भाशयकला की श्लेष्मलावृत्ति (epithelium) के साथ योनि मुख से 3 से 5 दिनों में बाहर निकल जाता है। रक्त के साथ श्लेष्मा का संयोग होने के कारण यह वस्त्रों को खराब नहीं करता है। जल से धोने से वस्त्रों पर कोई चिन्ह नहीं रहता है। इस स्राव को आर्तव कहते हैं। यह 50 मि० ली० से 200 मि० ली० तक होता है। वस्त्रों पर रक्त का चिन्ह नहीं रहने के कारण आर्तव को रक्त की उपधातु न मानते हुए रस की उपधातु की कल्पना की गई प्रतीत होती है, क्योंकि रस वर्णरहित माना गया है।

डिम्बाशय (ovary) से डिम्ब का प्रतिमास क्षरण होता है अन्तर्गर्भाशय कला इस आशा से कि डिम्ब और शुक्राणु का संयोग होकर गर्भ स्थापित हो जाएगा, अपने अन्दर ये सब परिवर्तन करती है। यदि गर्भ स्थापित हो जाता है तो ठीक है, अन्यथा कला आगामी मास में आने वाले डिम्ब के लिए, पहिले किए गए परिवर्तनों को समाप्त कर देती है और आर्तव के रूप में यह सब योनि मुख से निकल जाता है। इस प्रकार आर्तव गर्भस्थापना में सहायक होता है न कि कारक है। गर्भ का कारक तो डिम्ब और शुक्राणु संयोग जब स्त्रियों में आर्तव की प्रवृत्ति प्रारम्भ होती है उसी समय से गर्भधारण क्रिया प्रारम्भ होती है और आर्तव निवृत्ति के साथ ही स्त्री में गर्भ धारण शक्ति समाप्त हो जाती है। अतः आर्तव को गर्भधारण का कारक आयुर्वेद में मान लिया गया प्रतीत होता है।

आर्तव वृद्धि—

आर्तवमङ्गमर्दमतिप्रवृत्तिं दौर्बल्यं च। सु० सू० 15/21

आर्तवस्राव की मात्रा सामान्य से अधिक होने पर अंगों में पीड़ा, अधिक रजःप्रवृत्ति तथा दुर्बलता होती है।

तेषां यथास्वं संशोधनं क्षपणं च क्षयादविरुद्धैः क्रियाविशेषैः प्रकुर्वीत।। सु० सू० 15/22

अतिवृद्ध आर्तव की संशोधन तथा संशमन कर्म द्वारा इस प्रकार चिकित्सा करे कि उसका क्षय स्वाभाविक अवस्था से अधिक न हो जाए।

आर्तव क्षय—

आर्तवक्षये यथोचितकालादर्शनमल्पता वा योनिवेदना च।

सु० सू० 15/16

आर्तवक्षय में यथासमय रजोदर्शन न होना अथवा अल्पमात्रा में होना तथा योनि में वेदना ये लक्षण उत्पन्न होते हैं।

तत्र संशोधनमाग्नेयानां च द्रव्याणां विधिवदुपयोगः।। सु०सू०15/16

आर्तवक्षय में संशोधनपूर्वक उष्ण द्रव्यों का विधिवत् सेवन प्रशस्त है।

3

रक्त धातु

रक्त की उत्पत्ति–

रसाद्रक्तं..........................प्रजायते।। च.चि. 15/15, सू.सू. 14/10

रस से रक्त उत्पन्न होता है।

रस के प्रसादांश में उपस्थित रक्त सधर्मी अंश पर रक्ताग्नि की क्रियास्वरूप रक्त की उत्पत्ति होती है।

तेजो रसानां सर्वेषां मनुजानां यदुच्यते।

पित्तोष्मणः स रागेण रसो रक्तत्वमृच्छति।। च.चि. 15/27

समस्त मनुष्यों में जो रसों का तेज अग्नि होता है उससे तथा पित्त की ऊष्मा दोनों से पाक होकर रस रक्तता को प्राप्त होता है।

स खल्वाप्यो रसो यकृत्प्लीहानौ प्राप्य रागमुपैति।।

रञ्जितास्तेजसा त्वापः शरीरस्थेन देहिनाम्।।

अव्यापन्नाः प्रसन्नेन रक्तमित्यभिधीयते।। सू. सू. 14/45

जलरूप (वर्णरहित) रस यकृत् और प्लीहा में पहुंचकर रक्त वर्ण का हो जाता है। इस प्रकार मनुष्य शरीर के विशुद्ध तेज में रस का प्रसाद भाग रक्त वर्ण का होकर रक्त कहलाता है।

यत्तु यकृत्प्लीह्नोः पित्तं तस्मिन् रञ्जकोऽग्निरिति संज्ञा।।

सू. सू.21/13

यकृत् प्लीहा में रक्त जिस पित्त के द्वारा रक्त में परिवर्तित होता है उसे रञ्जकाग्नि (रंजक पित्त) कहते हैं।

आमाशयाश्रयं पित्तं रञ्जकं रसरंजनात्।। अ. हृ. सू. 21/13

आमाशय के आश्रित रस को रक्त वर्ण प्रदान करने वाले पित्त को रंजक पित्त कहते हैं।

रसस्तु हृदयं याति समानमारुतेरितः।

रञ्जितः पाचितस्तत्र पित्तेनायाति रक्तताम्। शा. पू. 6/8

(आहार पाक के सार अंश से प्राप्त) रस, समान वायु, द्वारा प्रेरित हो, (यकृत् मार्ग से) हृदय में जाता है और रञ्जक पित्त से रञ्जित तथा (रक्ताग्नि द्वारा पाचित होकर रक्त रूप को प्राप्त होता है।

रक्त उत्पत्ति की उपरोक्त कल्पना के अनुसार आमाशय, यकृत् तथा प्लीहा में रस को रक्त वर्ण प्राप्त होता है और इस प्रकार रस का वह अंश रक्त धातु में परिणत हो जाता है। रक्त का यह वर्ण प्लाज्मा में उपस्थित लोहित–

कोशिकाओं के कारण है हम आजकल जिसको रक्त कहते हैं वह रस धातु तथा रक्त धातु दोनों का मिश्रण है। इसमें लगभग 55 प्र० श० रस धातु (प्लाज्मा) तथा 45 प्र० श० रक्त धातु (लोहित कोशिका) होती है। लोहित कोशिकाओं की उत्पत्ति अस्थियों से उपस्थित सरक्त मेद **(red marrow)** द्वारा होती है। यकृत् में रक्तजनक द्रव्य स्थित रहते हैं जिनमें विटामिन बी12 मुख्य है। विटामिन बी12 भोजन के द्रव्यों में रहता है। भोजन के पाक के पश्चात् अन्नरस में यह विटामिन भी होता है परन्तु आन्त्र द्वारा इसके अवशोषण में आमाशय स्थित 'अन्तस्थ कारक' सहायक होता है। शिशु के गर्भस्थित काल में लोहित कोशिकाओं की उत्पत्ति यकृत् और प्लीहा में उसी प्रकार होती है जिस प्रकार जन्म के पश्चात् सरक्त मेद में होती है। अरक्तता की कुछ विशेष अवस्थाओं में सरक्त मेद के क्षय होने पर प्लीहा पुनः लोहित कोशिकाओं का निर्माण प्रारम्भ कर देती है। गर्भ शिशु में चौथे मास में रक्त मज्जा उत्पन्न होने लगती है।

रक्त का स्वरूप—

विशुद्ध रक्त सुवर्ण (सोने) की आभा वाला, वीरबहूटी, लाल कमल, अलक्तक (लाख में रंजित रूई), गुञ्जाफल, भेड़ अथवा शशक के रक्त के समान अथवा किंचिद् विविध वर्ण असंहत (गाढ़ा) होता है। शुद्ध रक्त मधुर एवं लवणरसयुक्त स्वभाव में शीतोष्ण होता है।

विविध वर्ण कहने का तात्पर्य है कि रक्त का वर्ण लोहित कोशिकाओं में उपस्थित हीमोग्लोबिन तथा उससे संयुक्त आक्सीजन की मात्रा पर निर्भर करता है। हीमोग्लोबिन की अल्पता से लोहित कोशिकाओं का वर्ण पीलेपन की ओर बढ़ता है। यह रक्त की वैकृतावस्था है। अरक्तता में भी ऐसा ही हो जाता है। आक्सीजन का पर्याप्त मात्रा में हीमोग्लोबिन से संयोग होने से रक्त आभायुक्त गहरे लाल वर्ण का होता है आक्सीजन की मात्रा जिस अंश में कम होती चली जाएगी रक्त का वर्ण भी पीलेपन की ओर बढ़ता जाएगा।

* **तपनीयेन्द्रगोपाभं पद्मालक्तकसन्निभम्।**
गुञ्जाफलसवर्णं च विशुद्धं विद्धि शोणितम्।। च. सू. 24 21

* **इन्द्रगोपकप्रतीकाशमसंहतमविवर्णं च प्रकृतिस्थं जानीयात्।**
सु. सू. 14/22

* **मधुरं लवणं किंचित् शीतोष्णमसंहतम्।**
पद्मेन्द्रगोपहेमाविशशलोहितलोहितम्।। अ. हृ. सू. 27/1

रक्त का पाञ्चभौतिक स्वरूप–

विस्रता द्रवता रागः स्पन्दनं लघुता तथा।
भूम्यादीनां गुणा ह्येते दृश्यन्ते चात्र शोणिते।। सु. सू. 12/9

आमगन्ध (विस्रता) पृथिवी महाभूत के कारण (गन्धत्व पृथिवी महाभूत का गुण है), द्रवता जल महाभूत के कारण (द्रवता जल महाभूत का गुण है), वर्ण प्रकाशन तेज महाभूत के कारण (प्रकाशत्व अथवा वर्ण का प्रकाश करना तेज महाभूत का गुण है) स्पन्दन [गति] वायु महाभूत का कारण [गति वायु का महाभूत का गुण है] एवं लघुता आकाश महाभूत के कारण [लघुता आकाश महाभूत का गुण है] होती है।

रक्त के कार्य–

अपनी सिराओं [रक्तवाहिकाओं] में संचार करता हुआ रक्त धातुओं का पोषण करता है, इस प्रकार धातुओं की क्षय एवं वृद्धि रक्त अधीन है। वह वर्ण का प्रसादन करता है एवं व्यक्ति को बल तथा सुख से युक्त करता है। मांस को पुष्ट करता है, स्पर्श ज्ञान कराता है। शुद्ध रक्त हमारे प्राणों [जीवन] का धारक है। संक्षेप में रक्त शरीर का मूल है, इसकी यत्नपूर्वक रक्षा करनी चाहिए।

*** रक्तं सर्वशरीरस्थं जीवस्याधारमुत्तमम्।** शा. उ. 6/9

*** तद्विशुद्धं हि रुधिरं बलवर्णसुखायुषा।**
युनक्ति प्राणिनं प्राणः शोणितं ह्यनुवर्तते।। च. सू. 24/3

*** देहस्य रुधिरं मूलं रुधिरेणैव धार्यते।**
तस्माद् यत्नेन संरक्ष्यं रक्तं जीव इति स्थितिः सु. सू. 14/45

*** रक्तं वर्णप्रसादं मांसपुष्टिं जीवयति च।।** **सु. सू. 15/6**

*** तेषां (धातूनां) क्षयवृद्धी शोणितनिमित्तं।** सु. सू. 14/21

*** धातूनां पूरणं वर्णं स्पर्शज्ञानमसंशयम्।**
स्वाः सिराः संचरद्रक्तं कुर्याच्चान्यान् गुणानपि।
सु. शा. 7/13

*** लोहितं प्रभवः शुद्धं तनोस्तेनैव च स्थितिः।**
अ. हृ. सू. 27/1

विशुद्ध रक्त वाले पुरुष के लक्षण–

प्रसन्नवर्णेन्द्रियमिन्द्रियार्थानिच्छन्तमव्याहतपक्तृवेगम्।
सुखान्वितं पुष्टिबलोपपन्नं विशुद्धरक्तं पुरुषं वदन्ति।।
च सू.24/24

जिस मनुष्य का वर्ण तथा इन्द्रियां प्रसन्न हैं, जो इन्द्रियों के विषयों की इच्छा रखता है [समस्त इन्द्रियां अपना कार्य सम्यक् प्रकार से कर रही होती हैं] पाचकाग्नि का वेग जिसमें निर्विघ्न है। [जिसका आहारपाक भली–भान्ति हो

जाता है] तथा सुख, आरोग्य, पुष्टि और बल से युक्त है, ऐसे मनुष्य को विशुद्ध रक्तवाला जानना चाहिए।

शरीर में रक्त का अञ्जलि प्रमाण—

अष्टौ (अञ्जलयः) शोणितस्य। च. शा. 7/16

रक्त का शरीर में आठ अंजलि प्रमाण होता है। अर्थात् सामान्य मनुष्य में यह मात्रा 8×16 = 128 तो. = 1.5 लीटर के लगभग होती है एक [अञ्जलि = 16 तोला। आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से रक्त धातु [R.B.C.] शरीर में लगभग 1.8 लीटर से 2.5 लीटर होती है।

रक्तसार पुरुष के लक्षण—

*** कर्णाक्षिमुखजिह्वानासौष्ठपाणिपादतलनखललाटमेहनं स्निग्धरक्तवर्णं श्रीमत् भ्राजिष्णु रक्तसाराणाम्।**

सा सारता सुखमुदग्रतां मेधां मनस्वित्वं सौकुमार्यमनतिबलमक्लेशसहिष्णुत्वमुष्णसहित्वं चाचष्टे।। च. चि. 8/114

रक्तसार पुरुष के कान, नेत्र, मुख, जिह्वा, नासिका, औष्ठ, हाथों की हथेली, पैरों के तलवे, नाखून, ललाट और मूत्रेन्द्रिय स्निग्ध, रक्त वर्ण के, शोभायुक्त तथा उज्ज्वल होते हैं।

यह [रक्त] सारता सुख, उदग्रता, मेधा, मनस्विता तथा सुकुमारता प्रदान करती है परन्तु इन व्यक्तियों में बल अधिक नहीं होता है तथा इनमें क्लेश एवं उष्णता के प्रति असहनशीलता रहती है।

स्निग्धताम्रनखनयनतालुजिह्वौष्ठपाणिपादतलं रक्तेन।

सु. सू. 35/17

जिस मनुष्य के नख, नेत्र, तालू, जिह्वा, औष्ठ, हथेलियां, पैरों के तलवे स्निग्ध तथा ताम्र वर्ण के होते हैं वह रक्तसार व्यक्ति होता है।

रक्तवृद्धि के लक्षण—

शरीर में सामान्य से अधिक रक्त की वृद्धि होने पर ये लक्षण शरीर में प्रकट होते हैं।

रक्त की शरीर में अतिवृद्धि होने पर शरीर तथा नेत्रों में [सामान्य से अधिक] लाली आ जाती है और शिरायें [रक्तवाहिकायें] रक्त से भर जाती हैं। अर्थात् रक्त अतिवृद्धि उच्च दाब [hypertention] का कारण होती है। इस दिशा में निद्रा अधिक आती है। हर समय मद [नशा] चढ़ा सा प्रतीत होता है तथा शरीर में दाह (जलन) होती है।

***रक्तं [अतिवृद्धं] रक्ताङ्गाक्षितां सिरापूर्णत्वं च।** सु. सू. 15/15

*** वृद्धे रक्ताङ्गनेत्रत्वं शिराणां पूरणं तथा।**

रक्तं विसर्पप्लीहविद्रधीन्।।

कुष्ठवातास्रपित्तास्रगुल्मोपकुशकामलाः।

व्यंगाग्निनाशसम्मोहरक्तत्वङ् नेत्रमूत्रताः।। अ. हृ. शा. 11/9

रक्त के (सामान्य) से अधिक बढ़ जाने से विसर्प, प्लीहावृद्धि, विद्रधि, कुष्ठ, वातरक्त, रक्तपित्त गुल्म, उपकुश नामक दन्त रोग, कामला, व्यंग, अग्निमान्द्य तथा मूर्च्छा उत्पन्न होती है। त्वचा, नेत्र और मूत्र का वर्ण लाल हो जाते हैं।

रक्तवृद्धि का प्रतिकार—

विशेषाद्रक्तवृद्ध्युत्थान् रक्तस्रुतिविरेचनैः। अ. हृ. सू. 11/30

रक्तवृद्धि से उत्पन्न रोगों में रक्तमोक्षण तथा विरेचन करना चाहिए।

रक्तक्षय के लक्षण—

शरीर में रक्त की कमी होने से त्वचा खुरदरी, फटी हुई सी (स्फुटिता), म्लान तथा रूक्ष हो जाती है। मूर्च्छा आ जाती है। मधुर एवं अम्ल पदार्थों के सेवन की इच्छा होती है। वातवृद्धि के कारण उन्मार्गगामिता की दशा उत्पन्न हो जाती है।

*** परुषा स्फुटिता म्लाना त्वग्रूक्षा रक्तसंक्षये।।** च. सू. 17/64

*** शोणितक्षये त्वक्पारुष्यमम्लशीतप्रार्थनासिरशैथिल्यं च।।**

सु. सू. 15/19

*** रक्तेऽम्लशिशिरप्रीतिशिराशैथिल्यरूक्षताः।** अ. हृ. सू. 12/17

*** क्षीणेऽम्लमधुराकांक्षा मूर्च्छा च त्वचि रूक्षता।**

शैथिल्यं च शिराणां स्याद्वातादुन्मार्गगामिता।। श. उ. 12/7

रक्तक्षय का प्रतिकार—

धातुक्षयात् स्रुते रक्ते मन्दः संजायतेऽनलः।

पवनश्च परं कोपं याति तस्मात् प्रयत्नतः।।

तं नातिशीतैर्लघुभिः स्निग्धैः शोणितवर्धनैः।

ईषदम्लैरनम्लैर्वा भोजनैः समुपाचरेत्।। सु. सू. 19/38, 39

रक्त के अधिक निकल जाने पर भी रक्तक्षय हो जाता है और रक्तक्षीणता के कारण पाचनक्रिया मन्द हो जाती है तथा वायु का प्रकोप हो जाता है।

ऐसी दशा में रोगी को ऐसा भोजन देना चाहिए जो अधिक शीतल न हो तथा लघु स्निग्ध और रक्तवर्धक हो, भोजन में अम्लता (खट्टापन) न अधिक और न कम हो वरन् बहुत मामूली अम्लता हो।

अत्यधिक रक्तस्राव से हानि—

आन्ध्यमाक्षेपकं तृष्णां तिमिरं शिरजो रुजम्।
पक्षाघातं श्वासकासौ हिक्कां दाहं च पाण्डुताम्।।
कुरुतेऽतिस्रुतं रक्तं मरणं वा करोति च।। श. उ. 12/36

मात्रा से अधिक रक्तस्राव से अन्धापन, आक्षेपक (अङ्गों का इधर–उधर भटकना), प्यास, तिमिर, शिरोव्यथा, पक्षाघात, श्वास, कास, हिक्का, दाह, पाण्डुता (अरक्तता) हो जाती है। अत्यधिक रक्तस्राव के कारण मृत्यु भी हो जाती है।

दूषित रक्त—

विकृत मद्य के अत्यधिक मात्रा में सेवन से, अतितीक्ष्ण अथवा उष्ण मद्यपान से तथा इसी प्रकार के अन्य मादक द्रव्यों के सेवन से रक्त दूषित हो जाता है। लवण, क्षार, अम्ल व कटु रस के अति सेवन से, कुलत्थ, उड़द, मटर तिलतैल के अति सेवन से; पिण्डालु, मूली आदि हरित पदार्थों के अतिसेवन से; जलचर, आनूपदेशों के बिलों में रहने वाले तथा प्रसह पशुपक्षियों के मांस के सेवन से; दही, कांजी, दही का पानी, सिरका, सुरा के अतिसेवन से; संयोग, संस्कार, देश, काल तथा मात्रा में विरुद्ध पदार्थों के सेवन से तथा सड़े गले दुर्गन्धित पदार्थों के सेवन से; द्रव, स्निग्ध एवं गुरु आहार के निरन्तर सेवन के पश्चात् दिन में सोने से; भोजन द्रव्यों के मात्रा से अधिक सेवन से; क्रोध करने से; धूप तथा गर्मी को अत्यधिक तापने से; वमन आदि वेगों को रोकने से; रक्त दुष्टिकाल (शरद काल) में आवश्यकता होने पर रक्तमोक्षण न कराने से; श्रम (थकावट) चोट; एवं संताप से; अजीर्ण अथवा अध्यशन से तथा शरद काल में स्वभाव से ही रक्त दुष्ट हो जाता है।

पित्त प्रकोपक पदार्थों (क्षार, उष्ण, तीक्ष्ण, अम्ल आदि) के अतिसेवन से अथवा कफप्रकोपक पदार्थों [स्निग्ध, गुरु आदि] के अतिसेवन से, द्रवपदार्थों के अतिसेवन से, दिन में अधिक सोने से, बहुत क्रोध करने से, अग्नि या सूर्य के ताप के अतिसेवन से, अभिघात [चोट लगना] आदि के कारण अथवा अजीर्ण, विरुद्धाशन, अध्ययन आदि से रक्त प्रकुपित [दूषित हानिकर] हो जाता है।

***तत्पित्तश्लेष्मलैः प्रायो दूष्यते।।** अ. हृ. सू. 27/2

*** पित्तप्रकोपणैरेव चाभीक्ष्णं द्रवस्निग्धगुरुभिराहारैर्दिवास्वप्न–क्रोधानलातपश्रमाभिघाताजीर्णविरुद्धाध्यशनादिभिर्विशेषैरसृक् प्रकोपमाद्यते।।** सु. सू. 21/24

रक्तवाहिकाओं की दुष्टि के कारण—

विदाहीन्यन्नपानानि स्निग्धोष्णानि द्रवाणि च।

रक्तवाहीनि दुष्यन्ति भजतां चातपानलौ।। च. वि. 5/19

विदाही, (दाह उत्पन्न करने वाला), स्निग्ध, उष्ण तथा पेय (द्रव) अन्नपान के अतिसेवन से, धूप और अग्नि के अधिक ताप से रक्तवाहीस्रोत दुष्ट (विकृत) हो जाते हैं।

दूषित रक्त का स्वरूप—

अरुणाभं भवेद् वाताद् विशदं फेनिलं तनु।

पित्तात् पीतासितं रक्तं स्त्यायत्यौष्ण्याच्चिरेण च।।

ईषत्पाण्डु कफाद् दुष्टं पिच्छिलं तन्तुमद्घनम्।

द्विदोषलिङ्गं संसर्गात् त्रिलिङ्गं सान्निपातिकम्।

च.सू. 24/19, 20

'द्विदोषलिङ्ग' के स्थान पर संतृष्टलिङ्ग' पाठ भी कुछ संहिताग्रन्थों में आया है।

वातदूषित रक्त के लक्षण—

***अरुणाभं भवेद् वाताद् विशदं फेनिलं तनु।** च. सू. 24/19

वातदूषित रक्त अरुण वर्ण का, विशद फेनिल [झागदार] तथा पतला होता है।

***फेनिलमरुणं कृष्णं परुषं तनु शीघ्रगमस्कन्दि च वातेन दुष्टम्।।**

सु. सू. 14/22

वातदूषित रक्त फेनिल, अरुण वर्ण का, काला, परुष, [पिच्छिलता रहित] पतला, शीघ्र गति करनेवाला और न जमनेवाला होता है।

पित्तदूषित रक्त के लक्षण—

पित्तात् पीतासितं रक्तं स्त्यायत्यौष्ण्याच्चिरेण च।। च. सू. 24/19

पित्त दूषित रक्त पीला, काला तथा उष्णता के कारण देर से जमने वाला होता होता है।

***नीलं पीतं हरितं श्यावं विस्रमनिष्टं पिपीलिकामक्षिकाणाम् स्कन्दि च पित्तेन दुष्टम्।।** सु. सू. 14/22

पित्तदूषित रक्त नीला, पीला, हरा, आमगन्धी, चींटी और मक्खियों को अप्रिय तथा न जमने वाला होता है।

कफदूषित रक्त के लक्षण—

***ईषत्पाण्डु कफाद् दुष्टं पिच्छिलं तन्तुमद्घनम्।।** चू. सू. 24/20

कफदूषित रक्त ईषत् पाण्डु वर्ण का [कुछ कुछ पीला], पिच्छिल, तन्तुमय तथा [सामान्य से अधिक] गाढ़ा होता है।

*** गैरिकोदकप्रतीकाशं स्निग्धं शीतलं बहलं पिच्छिलं चिरस्रावि मांसपेशीप्रभं च श्लेष्मदुष्टम्।** सु. सू. 14/22

कफदूषित रक्त गेरु के जल के समान, स्निग्ध, शीतल, गाढ़ा, पिच्छिल, मन्द गति से बहने वाला तथा मांसपेशी के समान आभा वाला होता है।

संसर्गज तथा सन्निपातज रक्त के लक्षण–

*** द्विद्वोषलिंगं संसर्गात् त्रिलिंगं सान्निपातिकम्।।** च. सू. 24/20

दो दोषों द्वारा दूषित रक्त उन दोनों के लक्षणों वाला तथा तीनों दोषों द्वारा दूषित रक्त तीनों दोषों के लक्षणों वाला होता है।

*** सर्वलक्षणसंयुक्तं काञ्जिकाभं विशेषतो दुर्गन्धि च सन्निपातदुष्टम् द्विद्वोषलिंगं संसृष्टम्।।** सु. सू. 14/22

सन्निपातदूषित रक्त समस्त दोषज लक्षणों से युक्त, कांजी के समान, विशेष दुर्गन्धयुक्त होता है।

संसर्ग द्वारा दूषित रक्त उन दोनों दोषों के लक्षणों वाला होता है।

विषदूषित रक्त के लक्षण–

विषदुष्टं भवेच्छ्यावं नासिकोन्मार्गगं तथा।
विस्रं काञ्चिकसंकाशं सर्वकुष्ठकरं बहु।। शा. उ. 12/12

विषदूषित रक्त काले वर्ण का नासिका से भी प्रवृत्ति, आमगन्धयुक्त तथा काञ्जि के वर्ण का और अत्यन्त दूषित होता है। वह सब प्रकार के कुष्ठों को उत्पन्न करने वाला होता है।

दूषितरक्त से रोगों की उत्पत्ति–

यदा तु कुपितं रक्तं सेवन्ते स्ववहाः सिराः।
तदाऽस्य विविधा रोगा जायन्ते रक्तसम्भवाः।। सु. शा. 7/14

जब कुपित रक्त रक्तवाहिकाओं के द्वारा संवहित होता है उस समय वह शरीर में विविध रक्तज रोगों को उत्पन्न करता है।

रक्तदोषज के रोग–

वक्ष्यन्ते रक्तदोषजाः।
कुष्ठवीसर्पपिडका रक्तपित्तमसृग्दरः।।
गुदमेढ्रास्यपाकश्च प्लीहागुल्मोऽथ विद्रधिः।।
नीलिका कामला व्यंगं पिप्लवस्तिलकालकाः।।
दद्रुश्चर्मदलं श्वित्रं पामाकोढास्रमण्डलम्।
रक्तप्रदोषाज्जायन्ते।। च. सू. 28/10-12

कुष्ठ [Skin diseases], विसर्प [erysipelas], पिडका, रक्तपित्त [haemorrhagic diseases], रक्तप्रदर, गुदपाक, लिंगपाक, मुखपाक, प्लीहावृद्धि, गुल्म [tumour], विद्रधि [abscess], नीलिका [मुख के अतिरिक्त स्थानों पर व्यंग], कामला [Jaundice], व्यंग [capillary angiomata] पिल्लु, तिलकालक, [तिल] [non-elevated mole], दद्रु [ringworm], चर्मदल [चम्बल], श्वित्र, पामा [eczema], कोढ़ रक्तमण्डल आदि रोग रक्त की दुष्टि [विकृति] से उत्पन्न होते हैं।

★ ★ ★

कुष्ठविसर्पपिडकामशकनीलिकातिलकालकन्यच्छव्यंगेन्द्रलुप्त–प्लीहाविद्रधिगुल्मवातशोणितार्शोऽर्बुदाङ्गमर्दासृग्दररक्तपित्तप्रभृतयो रक्तदोषजाः।। सु. सू. 24/10

कुष्ठ, विसर्प, विस्फोट, मशक [मस्सा mole] नीलिका, तिलकालक, न्यच्छ, व्यंग, इन्द्रलुप्त [baldness], प्लीहावृद्धि, विद्रधि, गुल्म, वातरक्त [gout] अर्श [haemorrhoids piles], अर्बुद, अंगमर्द, रक्तप्रदर, रक्तपित्त आदि रोग रक्त के दूषित होने से उत्पन्न होते हैं।

★ ★ ★

कुरुतेऽतः।
विसर्पविद्रधिप्लीहगुल्माग्निसदनज्वरान्।।
मूत्रनेत्रशिरोरोगमदतृड्लवणास्यताः।
कुष्ठवातास्रपित्तास्रकट्वम्लोद्गिरणभ्रमान्।। अ. हृ. सू. 20/2,3

दूषित रक्त विसर्प, विद्रधि, प्लीहा रोग, गुल्म, अग्निमांद्य, मुख रोग, नेत्र रोग, शिर रोग; मद, तृष्णा, मुख में लवणता, कुष्ठ, वात, रक्तपित्त, कटु और अम्ल उद्गार तथा भ्रम आदि रोग उत्पन्न करता है।

दूषित रक्त की चिकित्सा–

तेषु स्रावयितुं रक्तमुद्रिक्तं व्यधयेत्सिराम्।। अ. हृ. सू. 27/5

रक्त विकारों में रक्त को सिरावेधन द्वारा निकाल देना चाहिए।

★ ★ ★

कुर्याच्छोणितरोगेषु रक्तपित्तहरीं क्रियाम्।
विरेकमुपवासं वा स्रवणं शोणितस्य वा।। च. सू. 24/17

रक्तविकारों में रक्तपित्तहर चिकित्सा व्यवस्था (क्रियायें) तथा विरेचन, उपवास तथा रक्तस्रावण आदि कराना चाहिए।

क्या रक्त दोष है ?

दोष केवल तीन हैं। यदि रक्त को चौथा दोष माना जाता है तब आयुर्वेद का आधार त्रिदोष सिद्धान्त छिन्न–भिन्न हो जाता है। यह भ्रांति इसलिए प्रतीत होती है कि सुश्रुत संहिता में अनेक स्थलों पर रक्त को दोषों के समकक्ष रखा

है। हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि सुश्रुत संहिता प्रधानतः शल्य विषयक ग्रन्थ है। 'व्रण प्रश्न' नामक सूत्र स्थान के 12वें अध्याय में इसी प्रकार रक्त को प्रधानता दी गई है। सम्भव है कि यह भी भ्रान्ति का एक कारण हो।

एवं दोषाः कदाचिदेकशो द्विशः समस्ताः शोणितसहिता वाऽनेकधा प्रसरन्ति।।

दोष संचित होने पर कभी एक–एक, कभी दो–दो मिलाकर, कभी एक साथ सभी तथा इसी क्रम से कभी रक्त के साथ मिलकर विविध प्रकार से शरीर में प्रसरण करते हैं।

उपरोक्त कथन में शंका का कारण यह है कि **'एकशो द्विशः'** के पश्चात् **'समस्ताः'** से केवल तीन का ही नहीं तीन से अधिक संख्या का भी ग्रहण हो सकता है। इस प्रकार **'समस्ताः'** से न केवल वात, पित्त और कफ का वरन् रक्त का भी ग्रहण हो जाता है। यदि ऐसा नहीं था तो सुश्रुताचार्य ने तीन के लिए तीन की संख्या का बोध करानेवाला शब्द क्यों नहीं प्रयोग किया।

वास्तव में देखा जाए तो ऊपर के उदाहरण में भी आचार्य ने रक्त को दोष नहीं माना है। यदि रक्त को दोषों की पंक्ति में बैठाना उनका अभिप्राय होता तो **'दोषाः'** में रक्त का समावेश भी हो जाता फिर **'दोषाः शोणितसहिता प्रसरन्ति'** कहने की आवश्यकता नहीं थी। जब दोष तीन ही हैं तब एक, दो के पश्चात् समस्त केवल तीन की संख्या का ही बोधक है तीन से अधिक का नहीं।

तीन संख्या के बोध के लिए समस्त शब्द का प्रयोग आचार्य ने दोषज प्रकृति वर्णन में भी किया है।

सप्त प्रकृतयो भवन्ति। दोषैः पृथक्, द्विशैः समस्तैश्च।।

सु. शा. 4/61

प्रकृतियां सात होती हैं। पृथक्–पृथक् दोषों की, दो–दो दोष मिलकर तथा समस्त मिलकर। यहां पर भी समस्त अर्थ तीन हैं, तीन से अधिक नहीं। यदि रक्त भी दोष माना जाता तो दोषज प्रकृतियां उपरोक्त क्रमानुसार सात के स्थान पर चौदह होतीं। इससे स्पष्ट है कि आचार्य ने रक्त की दोषों में परिगणना नहीं की है।

दोषों की संख्याओं की निरुक्ति देते समय भी तीनों दोषों को ही लिया गया है।

तत्र 'वा गतिगन्धनयो' रिति धातुः, 'तप संतापे श्लिष आलिंगने' एतेषां कृद्विहितैः प्रत्ययैर्वातः पित्तं श्लेष्मेति च रूपाणि भवन्ति।।

सु. सू. 21/5

'वात' शब्द **'वा गतिगन्धनयोः'** धातु से **'पित्त'** शब्द 'तप संतापे' धातु से तथा **'श्लेष्मा'** शब्द **'श्लिष आलिङ्गने'** धातु से कृदन्त विहित प्रत्ययों द्वारा बनते हैं।

यदि सुश्रुताचार्य रक्त को भी दोष मानते तब वात, पित्त और श्लेष्मा के साथ रक्त शब्द की निरुक्ति अवश्य देते। उन्होंने यह उपेक्षा इसलिए की कि रक्त दोष नहीं है।

दोषों के स्थान का वर्णन करते हुए भी उन्होंने रक्त के स्थान का वर्णन नहीं किया है।

दोषस्थानान्यत ऊर्ध्वं वक्ष्यामः, तत्र समासेन वातः श्रोणिगुदसंश्रयः। तदुपर्यधो नाभेः पक्वाशयः। पक्वामाशयमध्यं पित्तस्य। आमाशयः श्लेष्मणः।। सु. सू. 21/7

अब दोषों के स्थान का वर्णन करते हैं। संक्षेप में श्रोणि और गुदा वात का स्थान है। श्रोणि और गुदा के ऊपर तथा नाभि के नीचे पक्वाशय है। पक्वाशय और आमाशय के मध्य पित्त का स्थान है तथा आमाशय श्लेष्मा का स्थान है।

यदि रक्त को भी दोष मानना अभिप्रेरित होता तो रक्त का स्थान बताना भी इतना ही अपेक्षित था। रक्त का स्थान तीनों दोषों के स्थान के साथ ही साथ न बताना स्पष्ट करता है कि आचार्य रक्त को दोष नहीं मानते थे।

विसर्गादानविक्षेपैः सोमसूर्यानिला यथा।
धारयन्ति जगद् देहं कफपित्तानिलास्तथा।। सु. सू. 21/7

उपरोक्त श्लोक में आचार्य ने तीन उपमान सोम–सूर्य–अनिल कहा है तो शरीर को धारण करने वाले दोष भी उपमेय स्वरूप वात–पित्त–कफ तीन ही कहे हैं। यदि सुश्रुताचार्य का किञ्चित् भी यह मत होता कि दोष चार होते हैं तो यह श्लोक इस रूप में नहीं होता। उस दशा में उपमान भी चार होते।

यही नहीं, आचार्य का मत स्पष्ट है कि दोष केवल तीन हैं चार नहीं यथा–

वातपित्तश्लेष्माण एव देहसम्भवहेतवः। तैरेवाव्यापन्नैरधो–मध्योर्ध्वसन्निविष्टैः शरीरमिदं धार्यतेऽगारमिव स्थूणाभिस्तिसृभिरतश्च त्रिस्थूणमाहुरेके।। सु. सू. 21/2

उपरोक्त कथन में दोषों की उपमा त्रिस्थूण से दी है यदि दोष कल्पना से भी चार होते तब **स्थूणाभिस्तिसृभिः** के स्थान पर **स्थूणाभिश्चतसृभिः** पाठ होता।

आयुर्वेद के किसी भी संहिता ग्रन्थ में रक्त को दोष नहीं माना है। प्रत्येक ने दोष तीन ही माने हैं और वे हैं केवल वात–पित्त–कफ। सुश्रुतसंहिता से पूर्व

की चरक संहिता तथा पश्चात् की वाग्भट्ट संहिता का उदाहरण पर्याप्त है।

वायुः पित्तं कफश्चोक्तः शारीरो दोषसंग्रहः। च. सू. 1/16

वायु पित्तं कफश्चेति त्रयो दोषाः समासतः। अ. हृ. सू. 1/6

जिस स्थान पर रक्त की उपयोगिता पर विशेष रूप से बल देना आचार्य का अभिप्राय था वहां उन्होंने रक्त की श्रेष्ठता ही प्रदर्शित की है। परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं समझा जाना चाहिए कि आचार्य ने रक्त को दोष माना है। उदाहरण के लिए दो स्थल हम दे रहे हैं–

देहस्य रुधिरं मूलं रुधिरेणैव धार्यते।

तस्माद् यत्नेन संरक्ष्यं रक्तं जीव इति स्थितिः।। सु. सू. 14/45

उपरोक्त श्लोक में आचार्य ने रक्त की संरक्षता पर जोर दिया है।

तदेभिरेव शोणितचतुर्थैः सम्भवस्थितिप्रलयेष्वप्यविरहितं शरीरं भवति।। सु. सू. 21/3

वात–पित्त–कफ और चौथा रक्त ये चारों शरीर की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय (नाश) में अविरहित उपस्थित रहते हैं।

उपरोक्त कथन भी 'व्रण प्रश्न' नामक अध्याय में है। यह रक्त के शरीर में बने रहने की आवश्यकता ही प्रकट करता है।

अन्त में आचार्य सुश्रुत के ही कथन से प्रसंग समाप्त करते हैं।

त्रयो दोषा.........................देहं सन्धारयन्ति।। सु. उ. 66/6

तीन दोष शरीर को धारण करते हैं।

रक्त का मल–

किट्टमसृजः पित्तम्।।

पित्त रक्त का मल है।

रक्त के मल के रूप में जिस पित्त का वर्णन किया गया है वह पित्त दोष नहीं वरन् लोहितकोशिकाओं (R.B.C.) के विघटन से उत्पन्न पदार्थों से संगठित एक द्रव्य है। लोहितकोशिकाओं की ही रक्त धातु संज्ञा है। अतः यह द्रव्य जिसे रक्त का मल 'पित्त' कहा गया है आधुनिक मत से पित्त (bile) है। इसके संगठन में अधिकांश अंश जल (98 प्र०श०) होता है, जिसके कारण इसका वहन हो जाता है तथा 2 प्र० श० घन द्रव्य होते हैं। इनमें मुख्य पित्त लवण (0.75 प्र०श०) तथा पित्त वर्णक (bile pigments) (0.50 प्र०श०) होते हैं। पित्त लवण शरीरोपयोगी पदार्थ हैं। ये आहार द्रव्यों के पाचन में सहायक होते हैं। विशेष रूप से चिकनाई वाले पदार्थों के पाचन में प्रमुख भाग लेते हैं। इनका आन्त्रभित्ति द्वारा अवशोषण हो जाता है और इस प्रकार ये पुनः शरीर में प्रवेश कर जाते हैं। पित्त वर्णक दो प्रकार के होते हैं– विलिरुबिन तथा विलिवरडिन। इनकी उत्पत्ति रक्तधातु (लोहितकोशिकाओं) से होती है तथा

इनकी शरीर में किसी प्रकार की उपयोगिता नहीं होती है। अतः मल संज्ञा से विभूषित हैं। यदि इनका शरीर से निष्कासन नहीं होता है तब रक्त में रुक कर कामला आदि व्याधियों के कारण बनते हैं। ये यकृत् में रक्त से पृथक् हो जाते हैं तथा पुराना पुरीष एवं मूत्र द्वारा शरीर से बाहर हो जाते हैं। पुरीष का वर्ण इन्हीं वर्णकों के कारण होता है।

निराम (अदूषित) पित्त (bile)–

आताम्रपीतमत्युष्णं रसे कटुकमस्थिरम्।
पक्वं विगन्धं विज्ञेयं रुचिपक्तिबलप्रदम्।।

ताम्र आभायुक्त पीले वर्ण का, वीर्य में अत्यन्त उष्ण, कटुरसयुक्त, अस्थिर [पतला], गन्धरहित, रुचिवर्धक, पाचकाग्निवर्धक तथा बलवर्धक पित्त [bile] निर्दोष होता है।

साम (दूषित) पित्त (bile)–

दुर्गन्धं हरितं श्यावं पित्तमम्लं स्थिरं गुरु।
अम्लिकाकण्ठहृद्दाहकरं सामं विनिर्दिशेत्।।

साम पित्त दुर्गन्धयुक्त, हरे–काले वर्ण का, स्वाद में अम्ल एवं गाढ़ा भारी होता है। साम पित्त में खट्टी डकारें आती हैं तथा कण्ठ, हृदय [वक्ष] में दाह [जलन] होती है।

रक्त की उपधातुयें

कण्डरा तथा सिराओं की उत्पत्ति और पुष्टि रक्त द्वारा होती है। ये दोनों रक्त धातु की उपधातुयें, आयुर्वेद की कही गई हैं।

असृजः कण्डरा सिरा..................सम्भवः।। च. चि. 15/16

रक्त से कण्डरा सिराओं की उत्पत्ति होती है।

कण्डरा

त्वचा आदि के साथ कण्डरा की गणना भी शरीर के प्रत्यंगों में की गई है

तस्य (प्रत्यंगविभागस्य) संख्येयानि-त्वचः.............कण्डराः.......
.........स्नायवः...............................सिरा च।। सू. शा. 5/4

प्रत्यंगों में गणनीय अवयव हैं– [1] त्वचायें, [2] कण्डरायें, [3] स्नायु तथा [4] सिरायें।

कण्डराओं की संख्या–

षोडश-कण्डराः।। कण्डरायें 16 होती हैं। सु. शा. 5/10

षोडश कण्डराः तासां चतस्रः पादयोः, तावत्यो हस्तग्रीवापृष्ठेषु। तत्र हस्तपादगतानां कण्डरा नखाः प्ररोहाः। ग्रीवाहृदयनिबन्धिनीना-

मधोभागगतानां मेढ्रम्। श्रोणिपृष्ठनिबिन्धनीनामधोभागगतानां बिम्बम् मूर्धोरुवक्षोंऽशपिण्डादीनां च।। सु. शा. 5/10

कण्डरायें चार पैरों में, चार हाथों में, चार ग्रीवा में तथा चार पीठ में इस प्रकार 16 होती हैं।

हाथों और पैरों की कण्डराओं के प्ररोह (निवेश-insertion) नख (नखप्रान्त) हैं।

ग्रीवा और हृदय को बांधने वाली कण्डराओं के नीचे को गए हुए भाग प्ररोह (निवेश) मेढ्र (जघन क्षेत्र Public region) है।

श्रोणि और पृष्ठ (पीठ) को बांधने वाली कण्डराओं के नीचे को गए हुए भाग प्ररोह (निवेश) बिम्ब (श्रोणि क्षेत्र-Pelvic region) है।

इन कण्डराओं के ऊपर की ओर गए हुए भागों के प्ररोह (उद्गम origin) मस्तक, उरु, वक्ष तथा अंशपिण्ड हैं। ग्रीवा स्थित कण्डराओं के उपरिगत प्ररोह (उद्गम) मस्तक है, पैरों की कण्डराओं के उपरिगत प्ररोह (उद्गम) उरु मण्डल (श्रोणि–क्षेत्र) है, पृष्ठ की कण्डराओं के उपरिगत प्ररोह (उद्गम) वह क्षेत्र है तथा हाथों की कण्डराओं के उपरिगत प्ररोह (उद्गम) बाहुशिर (अंशपिण्ड–क्षेत्र) हैं।

कण्डराओं के कार्य–

प्रसारणाकुंचनयोरङ्गानां कण्डरा मताः।। शा. पू. 5/36

शरीर में प्रसारण [extension] तथा आकुंचन [contraction, flexion] कण्डराओं के द्वारा होता है।

कण्डरा पेशियों [muscles] के बन्धन का कार्य करती हैं जिनके कारण कंकाल [skeleton muscles] प्रसारण तथा आंकुचन कम होते हैं। अतः कण्डराओं को नवीन मतानुसार टेण्डन [tendon] कह सकते हैं।

सिरा

धमनी, स्रोत तथा सिरा शब्दों की निरुक्ति बताते हुए चरक संहिता में कहा गया है–

ध्मानाद्धमन्यः स्रवणात् स्रोतांसि सरणात्सिराः।। च. सू. 30/11

जिनमें धमन कार्य होता है वे धमनियां हैं।

जिनमें स्रवण [secretion] कर्म होता है वे स्रोत हैं।

जिनमें सरण [गति] कर्म होता है वे सिरा हैं।

उपरोक्त परिभाषा के अनुसार रक्तवाहिकायें [शिरा–Veins], तन्त्रिकायें [nerves] तथा लसिका वाहनियां [lymphatic ducts] ये सब सिरा

शब्द के अन्तर्गत आ जाती हैं, परन्तु व्यवहार में रक्तवाहिकाओं के लिए ही इस शब्द का प्रयोग होता है। आयुर्वेद में समस्त धमनियां, रिरायें, कोशिकायें [capallaries] तथा लसिकावाहिनियां रक्त की उपधातु सिरा के अन्तर्गत आ जाती हैं।

सिराओं की संख्या तथा कार्य–

सप्तसिराशतानि भवन्ति।। च. सू. 7/15

सिराओं की संख्या सात सौ है।

सप्त सिराशतानि भवन्ति। याभिरिदं शरीरमाराम इव जलहारिणीभिः केदार इव च कुल्याभिरुपस्निह्यतेऽनुगृह्यते चाकुंचनप्रसारणादिभिर्विशेषैः। द्रुमपत्रसेवनीनामिव च तासां प्रतानाः, तासां नाभिर्मूलं, ततश्च प्रसरन्त्यूर्ध्वमधस्तिर्यक् च।। सु. शा. 7/2

सिरायें सात सौ होती हैं। जैसे जलहारिणियों (पानी की नालियों) द्वारा आराम (बगीचे) का और छोटी–छोटी नालियों (कुल्या) द्वारा क्यारियों (केदारियों) का उपस्नेहन तथा परिपोषण होता है उसी प्रकार आकुञ्चन और प्रसारण आदि कर्मों द्वारा सिरायें शरीर का उपस्नेहन एवं परिपोषण करती हैं।

जिस प्रकार वृक्ष के पत्तों में सेवनी (नाड़ियाँ) होती हैं उसी प्रकार सिराओं में प्रतान (शाखायें) होती हैं।

शिराओं का उद्गम [मूल] नाभि है [गर्भ काल में नाभि तथा जन्मोत्तर काल में हृदय होता है] वहां से ऊपर की ओर, नीचे की ओर तथा आस–पास [side] में फैलती हैं।

तासां मूलसिराश्चत्वारिंशत्। तासां वातवाहिन्यो दश, पित्तवाहिन्यो दश, कफवाहिन्यो दश, दश रक्तवाहिन्यः। तासां तु वातवाहिनीनां वातस्थानगतानां पञ्चसप्ततिशतं भवति। तावत्य एव पित्तवाहिन्यः पित्तस्थाने, कफवाहिन्यश्च कफस्थाने, रक्तवाहिन्यश्च यकृत्प्लीह्नोः। एवमेतानि सप्त सिराशतानि। सु. शा. 7/5

इन [सात सौ सिराओं] की मूल सिरायें चालीस हैं। इन [चालीस सिराओं] में दस वातवाहिनी सिरायें, दस कफवाहिनी सिरायें और दस रक्तवाहिनी सिरायें होती हैं।

इन दस वातवाहिनी सिराओं की वात स्थान को जानेवाली 175 सिरायें हो जाती हैं। पित्तवाहिनी की पित्तस्थान सिरायें, कफस्थान की कफवाहिनी सिरायें और यकृत् तथा प्लीहा की रक्तवाहिनी सिरायें भी 175-175 होती हैं।

इस प्रकार यें सिरायें सातसौ हो जाती हैं।

तासां शतानां सप्तानां पादोऽस्त्रं वहते पृथक्। वातपित्तकफैर्जुष्टं शुद्धं चैवं स्थिता मलाः शरीरमनुगृह्णन्ति पीडयंत्यन्यथा पुनः।।

अ. हृ. शा. 3/35

इन सात सौ सिराओं में 175 रक्त का वहन करती हैं तथा 175-175 वात, पित्त और कफ का वहन करती हैं। इस प्रकार सिरायें शुद्ध रक्त, शुद्ध वात, शुद्ध पित्त और शुद्ध कफ को वहन करती हुई शरीर का पालन एवं आयु की वृद्धि करती हैं तथा मलिन होने पर ये सब शरीर का पीड़न करती हैं।

तत्र श्यावारुणाः सूक्ष्माः पूर्णा रिक्ताः क्षणात्सिराः।
प्रस्पन्दिन्यश्च वातास्त्रं वहन्ते पित्तशोणितम्।
स्पर्शोष्णाः शीघ्रवाहिन्यो नीलपीताः कफं पुनः।।
गौर्यः स्निग्धाः स्थिराः शीताः संसृष्टं लिङ्गसङ्करे।।

अ. हृ. शा. 3/36,37

इनमें श्याव और अरुण वर्ण की सिरायें जो सूक्ष्म हैं तथा क्षण में पूर्ण और क्षण में रिक्त होती हुई स्पन्दन (धड़कन) करती हुई वहन करती हैं, ये सिरायें वात और रक्त को वहन करने वाली हैं। इन रक्तवाहिनियों की धमनियां (arteries) कह सकते हैं।

जो सिरायें स्पर्श में उष्ण और शीघ्र वहन करने वाली (अर्थात् बिना धमन गति से बहने वाली हैं तथा वर्ण में नील पीत हैं और पित्त को वहन करती हैं। [ये वाहिनियां शिरा-veins कही जा सकती हैं]।

जो सिरायें गौर वर्ण की स्निग्ध, स्थिर और शीत स्पर्श करने वाली हैं वे शिरायें शुद्ध कफ को वहन करती हैं। [ये लसिका वाहिनियां-lymphatic ducts] कही जा सकती हैं।

इनमें जो मिश्रित लक्षणों वाली हैं वे मिले हुए वात–पित्त, वात–कफ तथा पित्त–कफ का वहन करने वाली जाननी चाहियें।

तत्रारुणा वातवहाः पूर्यन्ते वायुना सिराः।
पित्तादुष्णाश्च नीलाश्च, शीता गौर्यः स्थिराः कफात्।
असृग्वहास्तु रोहिण्यः सिरा नात्युष्णशीतलाः।। सु. शा. 7/17

वातवह शिरायें अरुण वर्ण की तथा वात से भरी हुई होती हैं। धमनियां [arteries]।

पित्तवह सिरायें उष्ण और नील वर्ण की होती हैं। [शिरायें-veins]।

कफवह शिरायें गौर वर्ण की, शीतल और स्थिर होती हैं। [लसिका

वाहिनियां-lymphatics] तथा रक्तवह सिरायें रक्त की, न बहुत शीतल और न बहुत उष्ण होती हैं।

वातवह सिराओं के प्राकृतिक कर्म—

क्रियाणामप्रतीघातममोहं बुद्धिकर्मणाम्।

करोत्यन्यान् गुणांश्चापि स्वाः सिराः पवनश्चरन्। सु. शा. 7/7

अपनी सिराओं में संचार करता हुआ वात शारीरिक क्रियाओं तथा आंकुचन, प्रसारण आदि कर्मों को अप्रतिघात रूप से [बिना रुकावट के] करता है एवं बुद्धि के स्वाभाविक कर्म यथा विरेचन और निर्णय लेना आदि को भी सम्यक् प्रकार से करता है।

कुपित वातवह सिराओं के कर्म—

यथा तु कुपितो वायुः स्वाः सिराः प्रतिपद्यते।

तदाऽस्य विविधा रोगा जायन्ते वातसंभवाः।। सु. शा. 7/8

जब कुपित हुआ वात अपनी सिराओं में संचार करता है तब शरीर में विविध प्रकार के वातजन्य रोग उत्पन्न होते हैं।

पित्तवह सिराओं के प्राकृतिक कर्म—

भ्राजिष्णुतामन्नरुचिमग्निदीप्तिमरोगताम्।

संसर्पत्स्वाः सिराः पित्तं कुर्याच्चान्यान्गुणानपि।। सु. शा. 7/9

अपनी सिराओं में संचार करता हुआ पित्त शरीर में कान्ति, अन्न के प्रति रुचि, जठराग्नियों को दीप्त [प्रखरता], निरोगता तथा पित्त के अन्य गुणों का सम्पादन करता है।

कुपित पित्तवह सिराओं के कर्म—

यदा प्रकुपितं पित्तं सेवन्ते स्ववहाः सिराः।

तदाऽस्य विविधा रोगा जायन्ते पित्तसंभवाः।। सु. शा. 7/10

जब कुपित हुआ पित्त अपनी सिराओं में संचार करता है तब शरीर में विविध प्रकार के पित्तजन्य विकार उत्पन्न होते हैं।

कफवह सिराओं के प्राकृतिक कर्म—

स्नेहमङ्गेषु सन्धीनां स्थैर्यं बलमुदीर्णताम्।

करोत्यन्यान् गुणांश्चापि बलासः स्वाः सिराश्चरन्।। सु. शा. 7/11

अपनी सिराओं में संचार करता हुआ कफ शरीर के अंगों में स्निग्धता,

संधियों में स्थिरता, बल उत्साह, तथा कफ के अन्य गुणों का सम्पादन करता है।

कुपित कफवह सिराओं के कर्म—

यदा तु कुपितः श्लेष्मा स्वाः सिराः प्रतिपद्यते।
तदाऽस्य विविधा रोगा जायन्ते श्लेष्मसम्भवाः।। सु. शा. 7/12

जब कुपित हुआ कफ अपनी सिराओं में संचार करता है तब शरीर में विविध प्रकार के कफजन्य रोग उत्पन्न होते हैं।

रक्तवह सिराओं के प्राकृतिक कर्म—

धातूनां पूरणं वर्णं स्पर्शज्ञानमसंशयम्।
स्वाः सिराः संचरद्रक्तं कुर्याच्चान्यान् गुणानपि।। सु. शा. 7/13

अपनी सिराओं में संचार करता हुआ रक्त धातुओं का पोषण, शरीर के वर्ण का प्रसादन, स्पर्शज्ञान और अन्य गुणों को निःसंशय करता है।

कुपित रक्तवह सिराओं के कर्म—

यदा तु कुपितं रक्तं सेवते स्ववहाः सिराः।
तदाऽस्य विविधा रोगा जायन्ते रक्तसंभवाः।। सु. शा. 7/14

जब कुपित हुआ रक्त अपनी सिराओं में संचार करता है तब शरीर में विविध प्रकार के रक्तजन्य रोग उत्पन्न होते हैं।

दश मूलसिरायें और उनके कार्य—

दश मूलसिरा हृत्स्थास्ताः सर्वाः सर्वतो वपुः।
रसात्मकं वहंत्योजस्तन्निबद्धं हि चेष्टितम्।। अ. हृ. शा. 3/18

हृदय में लगी हुई दश मूलसिरायें जो अन्य सिराओं के मूलभूत होने के कारण सम्पूर्ण देह में चारों ओर से व्याप्त हैं। ये दश मूल सिरायें रस, रूप ओज का वहन करती हैं और इन्हीं के आश्रय सम्पूर्ण कायिक, वाचिक तथा मानसिक चेष्टायें निबद्ध हैं।

स्थूलमूलाः सुसूक्ष्माग्राः पत्ररेखाप्रतानवत्।
भिद्यन्ते तास्ततः सप्तशतान्यासां भवन्ति तु।। अ. हृ. शा. 3/19

(इन दस) स्थूल मूल सिराओं के सूक्ष्म अग्रभाग शाखा प्रतिशाखाओं को प्राप्त कर सात सौ हो जाते हैं।

यहां हृदय से सम्बन्धित दस रक्त वाहिकाओं का वर्णन किया गया है। ये दस रक्त वाहिकायें इस प्रकार हैं।

दक्षिण अलिन्द से सम्बन्धित—

1. ऊर्ध्व महासिरा (Superior venacava)

2. निम्न महासिरा (Inferior venacava)

दक्षिण निलय से सम्बन्धित–

3. फुफ्फुस धमनी (Pulmonary artery)

वाम अलिन्द से सम्बन्धित–

4-7 फुफ्फुस सिरायें (Pulmonary veins)

वाम निलय से सम्बन्धित–

8. महाधमनी (aorta)

9. दक्षिण हृद्धमनी (rt. coronery artery) | महाधमनी सिरानाल

10. वाम हृद्धमनी (left coronery artery) |(aortic sinus) से प्रारम्भ होती हैं।

इन रक्त वाहिकाओं की शाखायें समस्त शरीर में फैली रहती हैं। महाधमनी द्वारा रक्त हृदय से निकलकर समस्त शरीर में संचित होता हुआ महासिराओं द्वारा हृदय में वापिस आ जाता है, तथा फुफ्फुस धमनी द्वारा रक्त फुफ्फुसों में जाकर सिराओं द्वारा हृदय में पहुंच जाता है। यह रक्त परिसंचरण है। हृद्धमनियां हृदय की अपनी रक्त की आवश्यकता को पूरा करती हैं। इन समस्त सिराओं (रक्त वाहिकाओं) का मूल हृदय है।

–★–

4

मांस धातु

मांस धातु की उत्पत्ति–

रसाद्रक्तं..............................प्रजायते।। रस से रक्त तथा रस से मांस उत्पन्न होता है। च. चि. 14/15, सु. सू. 14/11, अ. हृ. शा. 13/63

वाय्वम्बुतेजसा रक्तमूष्मणा चाभिसंयुतम्।
स्थिरतां प्राप्य मांसं स्यात्।। च. चि. 15/28

वायु, जल, तेज और उष्मा से युक्त होने पर रक्त स्थिरता को प्राप्त हो मांस में परिणत हो जाता है। अर्थात्

रक्त का कुछ अंश वायु, जल, तेज और उष्मा के प्रभाव से स्थिर होकर घन हो जाता है। इसको 'मांस' कहते हैं।

मांस शब्द की उत्पत्ति 'माङ्' धातु से हुई है जिसका अर्थ है मान अर्थात् मापन योग्य होना। शरीर धातुओं में प्रथम दोनों रस और रक्त धातुएं द्रव रूप में होती हैं। सब से पूर्व घनत्व को प्राप्त कर मूर्त रूप ग्रहण करने के कारण मापन के योग्य हो जाता है अतः इसकी संज्ञा 'मांस' है।

मांस धातु के कर्म–

मांसं शरीरपुष्टिं मेदसश्च।।

मांस शरीर और मेद की पुष्टि करता है।

अन्य जो कर्म पेशियों के कहे गए हैं वे भी मांस के ही कर्म हैं।

पेशियां–

डल्हण ने सुश्रुत संहिता की टीका में पेशियों के सम्बन्ध में लिखा है कि–

मांसावयवसंघातः परस्परं विभक्तः पेशीत्युच्यते।।

मांस (flesh) घटकों के समुदायों को, जो परस्पर विभक्त रहते हैं, पेशी (muscle) कहते हैं। शरीर में पेशियों के रूप में ही मांस स्थित रहता है। पेशियां तीन प्रकार की होती हैं– (1) कंकाल पेशियां अस्थियों में लगी रहती हैं तथा इनके आकुञ्चन तथा प्रसारण से अस्थियों में गति होती है, जिससे उन अंगों में भी गति होती है। (2) अरेखित पेशियां– ये पेशियां शरीर के भीतरी अंगों तथा आमाशय, आन्त्र आदि के निर्माण में होती हैं तथा (3) हृद्पेशी– हृदय के निर्माण में भाग लेने वाली पेशियां हैं।

पेशियों की संख्या–

चत्वारि पेशीशतानि भवन्ति। शरीर में चार सौ पेशियां हैं।

च. शा. 7/15

पञ्च पेशीशतानि भवन्ति। तासां चत्वारि शतानि शाखासु, कोष्ठे षट्षष्टिः, ग्रीवां प्रत्यूर्ध्वं चतुस्त्रिंशत्।। सु० शा० 5/45

शरीर में पाचं सौ पेशियां होती हैं। इनमें चार सौ शाखाओं में, छियासठ कोष्ठ (धड़) में तथा चौंतीस गर्दन के ऊपर होती हैं।

पेशियों के स्वरूप–

तासां बहुलपेलवस्थूलाणुपृथुवृत्तह्रस्वदीर्घस्थिरमृदुश्लक्ष्णकर्कशभावाः सन्ध्यस्थिसिरास्नायुप्रच्छादका यथाप्रदेशं स्वाभावत एव भवन्ति।

सु० शा० 5/52

पेशियां स्वरूप में अनेक प्रकार की होती हैं यथा बहुल [बड़ी-large] पेलव [छोटी-small], स्थूल [मोटी-thick], अणु [पतली-thin], पृथु [चिपटी-flat] वृत्त [गोल], ह्रस्व [कम लम्बी-short], दीर्घ [बहुत लम्बी-very large], स्थिर [firm] मृदु [कोमल], श्लक्ष्ण [चिकनी-smooth] तथा कर्कश [खुरदरी-rough]। ये पेशियां सन्धि, अस्थि, सिरा और स्नायु के प्रच्छादन के लिए स्थानविशेष के अनुसार जिस–जिस स्वरूप की होनी चाहिएं उसी प्रकार की होती हैं।

पेशियों के कार्य–

सिरास्नाय्वस्थिपर्वाणि संधयश्च शरीरिणाम्।
पेशीभिः संवृतान्यत्र बलवन्ति भवन्त्यतः।। सु० शा० 5/49

शरीरधारियों की सिरा, स्नायु, अस्थिपर्व और संधियां भाग लेती हैं तथा घिरी रहती हैं। अतएव वे बलवती होती हैं।

सिराओं [blood vessels] की भित्ति के निर्माण में पेशियां भाग लेती हैं तथा स्नायु अस्थियां और सन्धि स्थल भी पेशियों से घिरे रहते हैं। इस प्रकार पेशियां इन अंगों को बल तथा आधार प्रदान करती हैं।

रचना एवं कार्य की दृष्टि से पेशियां तीन प्रकार की होती हैं। [1] कंकाल पेशी [skeletal muscles], [2] आन्तरंग पेशी [visceral muscles] तथा [3] हृद् पेशी [cardiac muscles]।

प्रत्येक पेशी कोशिकाओं से निर्मित होती है। पेशी कोशिकाओं को पेशीतन्तु [muscles fidres] कहते हैं। कंकालपेशी तन्तु मोटाई में एक समान होते हैं। आन्तरङ्गपेशी तन्तु तकुये के आकार के बीच में मोटे तथा किनारों पर पतले होते हैं। हृद्पेशी तन्तु आयताकार होते हैं, इनमें शाखायें होती हैं, जो दूसरे पेशीतन्तुओं में फंसी रहती हैं।

पेशियों का कार्य आकुञ्चन करना होता है। उत्तेजना (stimulation) की प्राप्ति पर आकुञ्चन करना तथा उत्तेजना की समाप्ति पर प्रसारण कर पुनः अपनी स्वाभाविक स्थिति पर पहुंचना इसका कार्य है। कंकाल पेशियों के आकुञ्चन से अस्थियों में गति होती है। आन्तरङ्ग पेशियों के आकुञ्चन से उन–उन अवयवों में, जिनका वे निर्माण करती हैं गति होती है जिसके द्वारा वे अपना कार्य सम्पादित करती हैं। हृद् पेशियों के आकुञ्चन–प्रसारण से हृदय शरीर में रक्त का संचार करता है।

आचार्य शाङ्र्गधर ने आकुञ्चन तथा प्रसरण का गुण कण्डराओं का कहा है– **'प्रसारणाकुंचनयोरङ्गानां कण्डरा मताः'**। कण्डरा पेशियों के बन्धन [tendons] होते हैं। व्यावहारिक दृष्टि से पेशियों में आकुञ्चन तथा प्रसारण क्रियाएं होती हैं तथा कण्डरा इन पेशियों के बंधन हैं अतः उन पर भी प्रभाव पड़ता है। इस स्थिति में यह कहना अधिक यथार्थ है कि **'प्रसारणाकुंचनयोरङ्गानां पेशी मताः'** अर्थात् शरीर में आकुञ्चन तथा प्रसारण क्रियाएं पेशियों के द्वारा सम्पादित होती हैं।

मांससार पुरुष के लक्षण–

***शंखललाटकृकाटिकाक्षिगण्डहनुग्रीवास्कन्धोदरकक्षवक्षपाणिपादसन्धयो गुरुस्थिरमांसोपचिका मांससाराणाम्।**

सा सारता क्षमां धृतिमलौल्यं वित्तं विद्यां सुखमार्जवमारोग्यं बलमायुश्च दीर्घमाचष्टे।। च० वि० 8/115

मांससार पुरुषों के शंख, ललाट, कृकाटिका (गर्दन के पीछे का भाग), नेत्र कपोल, जबड़ा (हनु), कन्धे, उदर, कक्ष (बगलें), वक्ष हाथ–पैर और संधियां भारी स्थिर तथा मांस से भरी होती हैं।

मांससारता क्षमा धैर्य अचपलता, धन, विद्या, सुख, सरलता, आरोग्य, बल और आयु की निर्देशक है।

***अच्छिद्रगात्रं गूढ़ास्थिसन्धिं मांसोपचितं च मांसेन।**

सु० सू० 35/17

मांससार पुरुष के शरीर में कहीं भी निम्नता नहीं होती है, अस्थि और सन्धियां पूर्णतया मांस से गूढ़ होती हैं (भरी रहती हैं) तथा शरीर मांसल होता है।

मांस वृद्धि के लक्षण–

मांसं स्फिग्गण्डौष्ठोपस्थोरुबाहुजंघासु वृद्धिं गुरुगात्रतां च।।

सु० सू० 15/15

मांस की अतिवृद्धि [असमान्य रूप से बढ़ जाने पर] कटि, कपोल, होठ, शिश्न, उरु, भुजा और जंघा अतिस्थूल हो जाते हैं और समस्त शरीर भारी हो जाता है।

*** मांसं गण्डाबुर्दग्रन्थिगण्डोरूदरवृद्धिताः।**

कण्ठादिष्वधिमांसं च।। अ० हृ० सू० 11/10

मांसक्षय के लक्षण—

शरीर में मांस के कम होने पर सबसे अधिक प्रभाव कंकाल पेशियों पर पड़ता है। अतः स्फिक् [कटि, नितम्ब], ग्रीवा, वक्ष, पिण्डलियां, उरु एवं वक्ष शुष्क [पतले तथा रूक्ष] हो जाते हैं साथ ही साथ उदर कपोल ओष्ठ, शिश्न भी पतले हो जाते हैं। शरीर में थकान, धमनियों में शिथिलता, इन्द्रियों में ग्लानि अर्थात् उनके कार्यों में मन्दता, सन्धियों में वेदना होने लगती है।

*** मांसक्षये विशेषेण स्फिग्ग्रीवोदरशुष्कता।।** च० सू० 18/64

*** मांसक्षये स्फिग्गडौष्ठोपस्थोरुवक्षःकक्षापिण्डिकोदरग्रीवाशुष्कता रौक्ष्यतोदौ गात्राणां सदनं धमनीशैथिल्यं च।।** सु० सू० 15/10

*** मांसेऽक्षग्लानिगण्डस्फिक्शुष्कतासंधिवेदनाः।।**

अ० हृ० सू० 11/18

मांसवह स्रोत—

मांसवहानां च स्रोतसां स्नायुर्मूलं त्वक् च।

मांसवाहीनि दुष्यन्ति भुक्त्वा च स्वपतां दिवा।। च० वि० 5/20

अभिष्यन्दी [भारी] भोजन करने और भोजन के पश्चात् दिन में सोने से मांसवाही स्रोत [मांसपेशियों में स्थित रक्तवाहिकायें] दूषित हो जाती हैं।

मांसदोषज विकार—

दोषों के कारण मांस में आश्रित जो विकार उत्पन्न हो सकते हैं वे—

अधिमांस [मांस का बढ़ जाना], अर्बुद [myoma], मांसकील, अर्श, अधिजिह्व, उपजिह्व, गलशुण्डिका, गण्डमाला, गलशालूक, पूतिमांस, अलजी, ओष्ठ, प्रकोप, उपकुश तथा गुदा मुख एवं शिश्न—पाक। [च० सू० 28, सु० सू० 24,]

मांसदोषज विकारों के प्रतिकार—

मांसजानां तु संशुद्धिः शस्त्रक्षाराग्निकर्म च।। च० सू० 28/25

मांसज विकारों की वमन आदि संशोधन कर्म, शस्त्रकर्म, क्षारकर्म तथा

अग्नि कर्म द्वारा जहां जैसी आवश्यकता हो उसके अनुसार चिकित्सा की जानी चाहिए।

मांस के मल–

मांसस्य खमलो मलः।। मांस के खमल मल हैं। च० चि० 15/17

'ख' आकाश को कहते हैं अर्थात् ऐसे स्थानों पर पाये जाने वाले मल जहां आकाश रहता है यथा कर्ण, नासिका, नेत्र, मुख तथा बाह्य जननावयवों में प्रकट होने वाले मल, मांस द्वारा उत्पन्न होते हैं।

मांस की उपधातुयें

मांसाद् वसा त्वचः षट् च।। च० चि० 15/16

मांस से वसा तथा छह त्वचाओं की उत्पत्ति होती है।

वसा

शुद्धमांसस्य यः स्नेहः सा वसा परिकीर्तिता।। सु० शा० 1/12

शुद्ध मांस का स्नेह वसा कहलाता है।

त्रयो (अञ्जलयः) वसायाः। च० शा० 7/16

वसा की शरीर में सामान्यतः तीन अंजलि प्रमाण में मात्रा होती है। शरीर में उपस्थित स्नेह के लिए तीन शब्दों का प्रयोग किया गया है– मेद जो प्राणियों की छोटी अस्थियों में सरक्त मेद के रूप में रहता है। मज्जा; जो अस्थियों में पीत मज्जा के रूप में रहता है तथा वसा, जो मांसपेशियों में संग्रहीत स्नेह के रूप में रहता है।

शरीर में स्नेहांशों के समान वसा का भी शरीर में कार्य होता है।

स्नेहना जीवना बल्या वर्णोपचयवर्धनाः।

स्नेहा ह्येते च विहिता वातपित्तकफापहाः।। च० सू० 8/7

स्नेह शरीर में (1) स्निग्धता प्रदान करता है। (2) जीवनीय शक्ति (vitality) को बढ़ाता है तथा शरीर के तापमानों को बनाये रखता है। (3) वर्ण के लिए हितकर होता है। (4) बल को बढ़ाता है। (5) शरीर के गठन को पुष्टता प्रदान करता है एवं शरीर को बनाये रखता है तथा वात पित्त कफ के विकारों को नष्ट करता है।

वसा शरीर में धातु के रूप में स्थित होती है। उपधातुओं का कार्य शरीर को धारण करना है, पोषण कार्य उनका नहीं है। अतः वसा उस स्नेह को कहते हैं जो शरीर में स्थित होकर धारण का कार्य करे। इसी प्रकार वसा शरीर का केवल संग्रहीत उदासीन (natural] स्नेह होता है तथा स्नेहऊतक (adipose tissues) में रहता है। इसका सबसे अधिक अंश पेशियों और त्वचा के

मध्य अवत्वक्ऊतक (subcutaneous tissue) तथा उदर में पीछे की ओर होता है। पेशियों के मध्य में भी संग्रहीत रहता है। अवत्वक्ऊतक की कोशिकाओं में जीवद्रव्य (प्रोटोप्लाज्मा) के स्थान पर वसा भरी रहती है। अतः वसा शरीर की शुद्ध चर्बी (fat) है तथा इसका भार शरीर में शरीर के भार का 10 प्रतिशत के लगभग होता है।

त्वचा

त्वचा शरीर का मुख्य अंग है जिसके द्वारा हमें पंचमहाभूतों का ज्ञान प्राप्त होता है।

तत्र चक्षुः, श्रोत्रं, घ्राणं, रसनं, स्पर्शनं इति पञ्चेन्द्रियाणि।

च० सू० 8/7

चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसन तथा स्पर्शन ये पांच इन्द्रियां हैं।

पञ्चेन्द्रियद्रव्याणि— ख वायुर्ज्योतिरापो भूरिति।। च० सू० 8/8

पांच ही इन्द्रिय द्रव्य हैं— आकाश, वायु, तेज, जल तथा पृथिवी। अर्थात् श्रोत्रेन्द्रिय का द्रव्य आकाश है; स्पर्शनेन्द्रिय का द्रव्य वायु है, चक्षुरिन्द्रिय का द्रव्य अग्नि है, रसनेन्द्रिय का द्रव्य जल है तथा घ्राणेन्द्रिय का द्रव्य पृथिवी है।

पञ्चेन्द्रियाधिष्ठानानि—अक्षिणी कर्णौ नासिके जिह्वात्वक् चेति।।

च० सू० 8/9

पांचों इन्द्रियों के पांच ही अधिष्ठान हैं— नेत्र, कर्ण, नासिका, जिह्वा व त्वचा। चक्षुरिन्द्रिय के अधिष्ठान दोनों नेत्र हैं, श्रोत्रेन्द्रिय के अधिष्ठान दोनों कान हैं। घ्राणेन्द्रिय के अधिष्ठान दोनों नथुने (नासिका) हैं, रसनेन्द्रय का अधिष्ठान जिह्वा है तथा स्पर्शनेन्द्रिय का अधिष्ठान त्वचा है।

पञ्चेन्द्रियार्थाः—शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः।। च० सू० 8/10

इन्द्रियों के पांच ही विषय हैं— शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध। श्रोत्रेन्द्रिय का विषय शब्द को ग्रहण करना है, स्पर्शनेन्द्रिय का विषय स्पर्श को ग्रहण करना है, चक्षुरिन्द्रिय का विषय रूप को ग्रहण करना है, रसनेन्द्रिय का विषय रस को ग्रहण करना है तथा घ्राणेन्द्रिय का विषय गन्ध को ग्रहण करना है।

पञ्चेन्द्रियबुद्धयश्चक्षुर्बुद्ध्यादिकाः। ताः पुनरिन्द्रयेन्द्रियार्थसत्त्वात्मसंनिकर्षजाः, क्षणिकाः, निश्चयात्मिकाश्च।। च० सू० 8/11

इन पांचों इन्द्रियों से प्राप्त बुद्धि (ज्ञान) भी पांच हैं— चक्षुर्बुद्धि, श्रोत्रबुद्धि

घ्राणबुद्धि, रसनबुद्धि तथा स्पर्शनबुद्धि। इन्द्रिय, इन्द्रियों के विषय, मन और आत्मा के सन्निकर्ष से ये बुद्धियां उत्पन्न होती हैं। ये क्षणिक हैं परन्तु निश्चयात्मक हैं।

उपरोक्त विवरण में बताया गया है कि हमें इन्द्रियों से ज्ञान की अनुभूति किस प्रकार होती है। चक्षुरिन्द्रिय जब अपने अधिष्ठान नेत्रों के द्वारा अपने विषय रूप को ग्रहण कर मन के द्वारा आत्मा से सन्निकर्ष करती है तब रूप का प्रत्यक्ष ज्ञान (चक्षुबुद्धि) प्राप्त होती है; इसी प्रकार श्रोत्रेन्द्रिय अपने अधिष्ठान कर्णों के द्वारा अपने विषय शब्द को ग्रहण कर मन के द्वारा आत्मा से सन्निकर्ष प्राप्त कर शब्द ज्ञान हमको कराती है; इसी प्रकार स्पर्शनेन्द्रियां अपने अधिष्ठान त्वचा के द्वारा स्पर्श विषयों को प्राप्त कर मन के माध्यम से आत्मा से सम्बन्ध स्थापित कर हमें स्पर्श ज्ञान कराती हैं। इन इन्द्रियों के द्वारा प्राप्य यह ज्ञान क्षणिक होता है क्योंकि मन चंचल है। यदि इस ज्ञान को क्षणिक नहीं मानें तो इन पांचों इन्द्रियों के स्थान पर केवल एक ही इन्द्रिय, जिसका आत्मा से सन्निकर्ष होगा, का ज्ञान प्राप्त होता रहेगा। मन के द्वारा एक समय में आत्मा से एक इन्द्रिय का सन्निकर्ष होता है। निश्चयात्मक ज्ञान को ही बुद्धि कहते हैं। इन इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त ज्ञान यह ज्ञान प्रत्यक्ष होता है।

इसी तरह त्वचा स्पर्शनेन्द्रिय का अधिष्ठान है। इसमें वायु महाभूत की प्रधानता है तथा यह स्पर्शन बुद्धि की अनुभूति कराती है, स्पर्शनेन्द्रियों के द्वारा ही अन्य महाभूतों के दृष्ट लक्षणों का अनुभव हमें होता है।

खरद्रवचलोष्णत्वं भूजलानिलतेजसाम्।
आकाशस्याप्रतीघातो दृष्टं लिङ्गं यथाक्रमम्।।
लक्षणं सर्वमेवैतत्स्पर्शनेन्द्रियगोचरम्।
स्पर्शनेन्द्रियविज्ञेयः स्पर्शो हि सविपर्ययः।। च० शा० 1/28;29

पृथ्वी महाभूत का दृष्ट लक्षण खरत्व है, जल महाभूत का दृष्ट लक्षण द्रवत्व है, वायु महाभूत का दृष्ट लक्षण उष्णत्व है तथा आकाश महाभूत का दृष्ट लक्षण अप्रतिघातत्व (स्पर्शाभाव) है। ये सब लक्षण स्पर्शनेन्द्रिय द्वारा ज्ञेय हैं। स्पर्श का अभाव भी स्पर्शनेन्द्रिय द्वारा ही जाना जा सकता है क्योंकि इन्द्रियों से जिस वस्तु के भाव का ज्ञान होता है उसी इन्द्रिय से उसके अभाव का भी ज्ञान होता है।

त्वचा हमारे शरीर का एक अत्यन्त अनमोल प्रसंग है, इसके द्वारा ही हमें महाभूतों का प्रत्यक्ष होता है। इसकी महत्ता को दृष्टि से रखते हुए इसकी गणना

उपधातुओं में की गई है। त्वचा के अपने कार्यों को वर्णन भ्राजक पित्त के प्रसंग में दिया जा चुका है तथा इस अध्याय के अन्त में भी दिया जा रहा है।

त्वचा की उत्पत्ति—

*** तस्य खल्वेवंप्रवृत्तस्य शुक्रशोणितस्याभिपच्यमानस्य क्षीरस्येव सन्तानिकाः सप्त त्वचो भवन्ति।।** सु० शा० 4/3

शुक्र और आर्तव के संयोग के पश्चात् उसमें भूतात्मा प्रवेश करता है तब वह गर्भ परिपक्वता की ओर प्रवृत्त होता है उस समय, जिस प्रकार अग्नि द्वारा परिपक्व किये जाते हुए दूध पर मलाई की तहें बनती हैं उसी प्रकार त्रिदोषों (विशेष रूप से पित्त) द्वारा परिपक्व हो उस शुक्र शोणित संयोगरूपी गर्भ के पृष्ठ भाग पर त्वचा की सात तहें बनती हैं।

तत्र सप्त त्वचोऽसृजः।

पच्यमानात्प्रजायन्ते क्षीरात्सन्तानिका इव।। अ० हृ० **शा० 3/8**

जिस प्रकार दूध के परिपाक से ऊपर मलाई आ जाती है उसी **प्रकार रक्त** (शोणित) द्वारा परिपाक से शरीर पर सात त्वचायें उत्पन्न होती हैं।

सुश्रुत तथ वाग्भट्ट ग्रन्थों में सात त्वचाओं का वर्णन है परन्तु चरक और काश्यप संहिताओं में 6 त्वचाओं को प्रतिपादित किया गया है। सुश्रुतसम्मत सातवीं मांसधरा को चरक ने त्वचा का भाग नहीं माना है।

चरक संहिता में वर्णित 6 त्वचायें हैं (च० शा० 7/4)

प्रथमा— सबसे बाहर की उदकधरा। जल को धारण करने वाली अर्थात् शरीर के निर्जलीकरण (dehydration) को रोकने वाली है।

द्वितीया— असृग्धरा (रक्तधरा को धारण करने वाली) है। बाह्य त्वचा के हट जाने से भी रक्त का स्राव नहीं होता है अतः इसको असृग्धरा, रक्त को धारण करने वाली, कहा गया है।

तृतीया— सिध्म (Ptyriasis), किलास (श्वेतकुष्ठ leucoderma) की उत्पत्ति का आश्रय है।

चतुर्थी— द्रदु (ringworm) कुष्ठ (dermatose) की उत्पत्ति का आश्रय है।

पञ्चमी— अलजी (phlyctenule), विद्रधि (abscess) की उत्पत्ति का आश्रय है।

षष्ठी— इस स्तर के कटने पर अन्धकार से युक्त हो जाता है तथा इसका आश्रय करके पर्वों पर कृष्ण तथा लाल वर्ण की अत्यन्त स्थूल मूल वाली फुंसियां हो जाती हैं।

ये छः त्वचायें छह अंगों वाले सम्पूर्ण शरीर को ढके रहती हैं।

★ ★ ★

चरकाचार्य ने त्वचाओं के इन विभिन्न स्तरों को किसी प्रकार की संज्ञा प्रदान नहीं की है केवल प्रथमा, द्वितीया आदि कहकर इनके क्रम का बोध कराया है। जबकि सुश्रुताचार्य ने प्रत्येक त्वक् स्तर का नामकरण किया है।

सु० शा० 4/3

उनमें (सात त्वचाओं में) प्रथमा त्वचा अवभासिनी नामक है। यह वर्ण को प्रकट करती है तथा पांचों प्रकार की छाया को प्रकाशित करती है यह मोटाई में व्रीहि (धान्य) के अठारहवें भाग के परिमाण की होती है और सिध्म तथा पद्म कंटक (Papiloma of the skin) का आश्रयस्थान है।

द्वितीय त्वचा का **लोहिता** नाम है। यह मोटाई में व्रीहि के सोलहवें भाग के परिमाण में होती है तथा तिलकालक (तिल nonelvated mole), न्यच्छ और व्यंग का आश्रयस्थान है।

तृतीय त्वचा का **श्वेत** नाम है। यह मोटाई में व्रीहि के बारहवें भाग के परिमाण में होती है तथा चर्मदल अजगल्ली और मशक (मस्सों) का आश्रयस्थान है।

चतुर्थ त्वचा का **ताम्रा** नाम है। यह मोटाई में व्रीहि के आठवें भाग के परिमाण में होती है तथा विविध प्रकार के किलास व कुष्ठों का आश्रयस्थान है।

पंचम त्वचा का **वेदिनी** नाम है। यह मोटाई में व्रीहि के पांचवें भाग के परिमाण में होती है तथा कुष्ठ और विसर्प का आश्रयस्थान है।

षष्ठी त्वचा का **रोहिणी** नाम है। यह मोटाई में व्रीहि के परिमाण में होती है तथा ग्रन्थी, अपची, अर्बुद्ध, श्लीपद और गलगण्ड का आश्रयस्थान है।

तथा सप्तम त्वचा का **मांसधरा** नाम है यह मोटाई में दो व्रीहि परिमाणों में होती है तथा भगन्दर, विद्रधि तथा अर्श का आश्रयस्थान है।

ये जो मोटाई के परिमाण बताये गए हैं वे मांसल स्थानों के हैं। ललाट, अंगुलियों आदि सूक्ष्म स्थानों के नहीं हैं तथा व्रीहि (जौ) की नोंक की तरफ से मोटाई को एक व्रीहि मानना चाहिए।

उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट है कि त्वचा शरीर का बाह्य आवरण है। त्वचा के अन्य मुख्य कार्य निम्नलिखित हैं–

1. **रक्षात्त्वचा** (i) आन्तरिक अवयवों तथा प्रत्यंगों की बाह्य वातावरण से रक्षा करती है तथा (ii) हानिकारक जीवाणुओं का शरीर में प्रवेश रोकती है।

2. **संवेदन**– त्वचा में स्थित संवेदी तन्त्रिकाओं (Sympathetic nerves) के अन्तिम सिरे प्रिय अथवा अप्रिय सब प्रकार की संवेदनाओं का वहन कर उनकी अनुभूति कराते हैं। इस अनुभूति के अनुसार शरीर अपनी रक्षा का उपाय करता है।

3. **संग्रह**– त्वचा के नीचे अवत्वक्ऊतक में वसा का संग्रह रहता है।

4. **शोषण**– त्वचा में गैसीय आदान–प्रदान भी कुछ अंश में होता है। अभ्यंग द्वारा स्निग्ध पदार्थों का कुछ अंशों में अवशोषण भी हो जाता है।

5. **उत्सर्जन**– त्वचा द्वारा स्वेद का शरीर में उत्सर्जन होता है।

6. **संश्लेषण**– त्वचा द्वारा परानील लोहित किरणों (ultraviolet rays) का शोषण होकर विटामिन 'डी' का संश्लेषण होता है।

7. **ताप संतुलन**– त्वचा द्वारा संचालन (conduction), संवहन (convection), विकिरण (radiation), तथा वाष्पन (evaporation) द्वारा शरीर की ऊष्मा का क्षय होता रहता है। यह हानि सबसे अधिक विकिरण द्वारा होती है तथा शरीर के आन्तरिक तथा बाह्य तापक्रमों के अन्तर पर निर्भर करती है। यदि शरीर से अधिक ताप की हानि की आवश्यकता है तो त्वचा के नीचे रक्त परिसंचरण बढ़ जाता है। इस रक्त परिसंचरण का नियन्त्रण मस्तिष्क के अधश्चेतक (hypothalamus) द्वारा होता है। अधिक रक्त परिसंचरण की अवस्था में रक्त वाहिकाओं का प्रसार हो जाता है। इसके विपरीत आवश्यकता पर रक्तवाहिकायें संकुचित हो जाती हैं और रक्त परिसंचरण में रक्त की मात्रा कम हो जाती है।

त्वचा सारिणी

क्रम	1	2	3	4	5	6	7
चरक नाम	प्रथमा	द्वितीया	तृतीया	चतुर्थी	पञ्चमी	षष्ठी	ऽ
अधिष्ठान	उदक	असृक्	सिध्म, किलास	द्रदु, कुष्ठ	अलजी विद्रधि	अरुषी	ऽ
सुश्रुत नाम	अवभासिनी	लोहिता	श्वेता	ताम्रा	वेदिनी	रोहिणी	मांसधरा
अधिष्ठान	सिध्म पद्म कंटक	तिलकालक न्यच्छ, व्यंग	चर्मदल मशक अजगल्ली	किलास कुष्ठ	कुष्ठ, विसर्प	ग्रन्थी, अपची अर्बुद, श्लीपद	भगन्दर विद्रधि, अर्श
कार्य	वर्ण तथा छाया प्रकाशन	—	—	—	—	—	—
मोटाई व्रीहि परिमाण	1/18	1/16	1/12	1/8	1/5	1	2
आधुनिक नाम	शृंगी, शल्क स्तर S. Corneum hornylayer	स्वच्छस्तर S. lucidum clear layer	कणमय स्तर S. granulosum granular layer आधार स्तर की कोशिकाओं में मेलीनिन के काले कण होते हैं। इनकी मात्रा के अनुसार त्वचा का वर्ण होता है।	जनन स्तर S. germinavitum इसका स्तर लहरदार होता है। त्वचा पर उभार रेखाओं के रूप में इसी के कारण स्तर के बचे रहने पर ऊपर के स्तर पर पुनः उत्पन्न हो जाते हैं।	अंकुरक स्तर Papillary layer इसमें रोमकूप तैलग्रन्थियां तथा मांसतन्तु होते हैं।	जलीय स्तर Reticular layer	अवत्वक् Sub-cutanoeus

←——बाह्य त्वक् epidermis——→←——त्वक् dermis——→

5

मेद धातु

मेद की उत्पत्ति–

मांसान्मेदः प्रजायते।।

च० चि० 15/15, सू० सू० 14/11, अ० हृ० शा० 3/62

मांस से मेद की उत्पत्ति होती है।

मांस में उपस्थित मेद सधर्मी अंश पर मेदोऽग्नि की पाकक्रिया के फलस्वरूप उसके प्रसादांश से मेद धातु की उत्पत्ति होती है।

स्वोष्मणा पक्वमेव तत्।

स्वतेजोऽम्बुगुणस्निग्धोद्रिक्तं मेदोऽभिजायते।। च० चि० 15/28

मांस अपनी ऊष्मा से परिपक्व हो अपने तेज तथा जलीय गुण (स्निग्धता) की वृद्धि होने पर मेद के रूप में परिणत हो जाता है।

मेद का पोषण मांस से होता है।

मांसं शरीरपुष्टिं मेदसश्च।। सु० सू० 16/6

मांस शरीर और मेद को पुष्ट करता है।

तृतीया मेदाधरा नाम, मेदो हि सर्वभूतानामुदरस्थमण्वस्थिषु च, महत्सु च मज्जा भवति।।

स्थूलास्थिषु विशेषेण मज्जा त्वभ्यन्तराश्रितः।

अथेतरेषु सर्वेषु सरक्तं मेद उच्यते।। सु० शा० 4/11, 12

तीसरी मेदोधरा नाम की कला है। मेद सब प्राणियों के उदर में तथा छोटी अस्थियों में होती है। बड़ी अस्थियों में मज्जा होती है।

विशेषकर बड़ी अस्थियों का आश्रय करके मज्जा होती है और बाकी अन्य अस्थियों में जो मेद होता है वह रसक्त मेद कहलाता है।

मज्जा को पीत मज्जा (Yellow marrow) कहते हैं तथा सरक्त मेद को रक्त मज्जा (red marrow) भी कहते हैं। यहां पीत मज्जा को मज्जा तथा रक्त मज्जा को मेद कहा गया है।

मेद नाम से शरीर के उस स्नेह का अंश कहा गया है जिसका बाहर से सेवन नहीं किया जा सके, क्योंकि मेद में स्नेह का अंश अन्य द्रव्यों से संयुक्त होकर यौगिकों के रूप में स्थित होता है तथा फॉस्फोलाइपिड, स्टेरॉल आदि। यदि उसे मुख द्वारा लिया जाता है तो पाक क्रिया के फलस्वरूप इसका स्वरूप बदल जाता है। यद्यपि सरक्त मेद (red marrow) तथा पीत मज्जा (yellow-marrow) दोनों ही अस्थियों के सुषिर भाग में स्थित होती हैं परन्तु सरक्त

मेद का पान नहीं किया जाता है। अतः इसकी परिगणना मज्जा धातु के अन्तर्गत न करके पृथक् धातु के रूप में की गई है।

बालक के जन्म के पश्चात् कुछ समय तक समस्त अस्थियों के सुषिर भाग में मेद ही भरा रहता है फिर धीरे–धीरे बड़ी अस्थियों के मध्य में पीत मज्जा प्रकट होने लगती है। बीस वर्ष की आयु पर पहुंचने तक केवल छोटी अस्थियों यथा केशरुक, उरोस्थि (sternum), पर्शुका (rids), कपाल अस्थियां (Skull bones), अंशफलक (scapula) तथा नितम्बास्थियों (hip bones) में ही मेद रह जाती है। सरक्त मेद में संयोजी ऊतक (connective tissue), रक्तवाहिकायें, स्नेहकोशिकायें (fat cells) तथा अधिकांश प्राक्कणिक श्वेतकोशिकायें (myelocytes) होती हैं। इनमें लसिका (lymph) का अभाव होता है।

मेद के कार्य–

मेदः स्नेहस्वेदौ दृढ़त्वं पुष्टिमस्थ्नां च।। सु० सू० 15/6

मेद शरीर में स्निग्धता उत्पन्न करता है, श्वेद को उत्पन्न करता है तथा शरीर में दृढ़ता उत्पन्न करता है और अस्थियों की पुष्टि करता है।

मेद को धातु रूप से स्मरण किया जाता है तथा वसा को उपधातु रूप से। मेद का कार्य शरीर को धारण करना तथा पोषण करना है। अतः स्नेह का शरीरगत वह अंश जिसकी शरीर को तुरन्त ही ऊर्जा तथा ऊष्मा उत्पत्ति के लिए आवश्यकता नहीं होती है वसा के रूप में वसा संग्रह स्थानों पर संगृहीत हो जाता है। शेष अंश फॉस्फेट आंदि से संयुक्त हो मेद के यौगिकों के रूप में रक्त में संचरित हो जाता है। मेद के इस अंश से शरीर की प्रत्येक कोशिका (cells) की बाह्यकला, तन्त्रिकातन्तु (अक्षतन्तु axon आदि) तन्त्रिकाओं के अन्तस्थ आवरण (medullary sheath), डिम्ब ग्रन्थि (ovary) के हॉरमोन, वृषण के हॉरमोन, अधिवृक्क प्रान्तस्था (adrenal cortex) के हॉरमोन आदि का निर्माण होता है। इसी के द्वारा समस्त शरीर में विटामिन ए, डी तथा ई पहुंचते हैं। विटामिन डी का निर्माण भी मेद में उपस्थित डिहाइड्रोकोसेस्टेरॉल पर परानील लोहित किरणों (ultra ziolet rays) के द्वारा होता है। विटामिन डी अस्थियों के निर्माण के लिए कैल्शियम और फॉस्फेट के संयोग में सहायक होता है, इसके बिना यह संयोग नहीं होता है। इस प्रकार मेद से अस्थियों का निर्माण माना गया है। मेद शरीर में ताप उत्पत्ति तथा ऊर्जा प्राप्ति का प्रमुख साधन है।

मेद का शरीर में परिमाण—

द्वौ (अञ्जली) मेदसः।। च० शा०7/16

शरीर में मेद की मात्रा दो अञ्जलि परिमाण में होती है।

मेदसार पुरुष के लक्षण—

*** वर्णस्वरनेत्रकेशलोमनखदन्तौष्ठमूत्रपुरीषेषु विशेषतः स्नेहो मेदःसाराणाम्।**

सा सारता वित्तैश्वर्यसुखोपभोगप्रदानान्यार्जवं सुकुमारोपचारतां चाचष्टे।।

च० वि० 8/106

मेदसर पुरुष के वर्ण, स्वर, नेत्र,, केश, रोम, नख, दन्त, ओष्ठ, मूत्र और पुरीष स्निग्ध होते हैं।

धन, ऐश्वर्य एवं सुखों का उपभोग, दानशीलता, सुकुमारता और सेवाभाव मेदसार होने का सूचक है।

स्निग्धमूत्रस्वेदस्वरं वृहच्छरीरमायासासहिष्णुं मेदसा।।

सु० सू० 35/17

मेदसार पुरुष के मूत्र, स्वेद एवं स्वर में स्निग्धता होती है, शरीर बड़ा होता है परन्तु ऐसा व्यक्ति परिश्रम करने में असमर्थ होता है (सुकुमार होता है)।

मेदक्षय के लक्षण—

शरीर में मेदक्षय के कारण संधियों में स्फुटन (टूटने की पीड़ा) तथा शून्यता प्रतीत होती है। नेत्रों में ग्लानि (निष्प्रभता) प्लीहावृद्धि, शरीर में रूक्षता बढ़ जाती है। स्निग्ध पदार्थों के अभाव के कारण उदर एवं शरीर कृश हो जाता है। स्निग्ध पदार्थों के सेवन की इच्छा बढ़ जाती है।

*** संधीनां स्फुटनं ग्लानिरक्ष्योरायाम एव च।**
लक्षणं मेदसि क्षीणे तनुत्वमुदरस्य च।। च० सू० 17/65

*** मेदःक्षये प्लीहाभिवृद्धिः सन्धिशून्यता रौक्ष्यं मेदुरमांसप्रार्थना च।**

सू० सू० 15/10

*** मेदसि स्वपनं कट्या प्लीहावृद्धिः कृशाङ्गता।।**

अ० हृ० सू० 11/18

कृशांगता के लक्षण—

जिस पुरुष के नितम्ब, पेट, गर्दन शुष्क हों। धमनियों (रक्तवाहिकाओं) के जाल फैले हुए दिखाई देते हों। जिनके त्वचा और अस्थिमात्र ही शरीर पर बचा हो। अस्थिसंधियां स्थूल दिखाई दें। वह पुरुष अतिकृश माना जाता है। (च० सू० 21/84)

कृशांगता के दोष–

कृश व्यक्ति में समस्त शारीरिक क्रियायें निर्बल हो जाती हैं उसे भूख–प्यास नहीं लगती है। शीत, उष्ण, वायु एवं वर्षा सहन नहीं करता है। भार उठाने में असमर्थ होता है। मैथुन कर्म को भी सहन नहीं कर सकता।

कृश व्यक्ति प्रायः वातज व्याधियों से पीड़ित रहता है। श्वास, कास, क्षय, प्लीहा–वृद्धि, अग्निमांद्य, गुल्म, रक्तपित्त, अर्श, उदर, तथा ग्रहणी रोगों से पीड़ित रहता है। अत्यन्त दुर्बलता के कारण शरीर रोग अति बलवान् हो जाता है और प्रायः इन्हीं रोगों से मृत्यु हो जाती है।

मेदक्षय (कृशांगता) के कारण–

रूक्ष एवं कसैले अन्नपान का सेवन, लंघन (उपवासादि) बहुत करना, मात्रा से कम भोजन करना, शारीरिक क्रियाओं (कायिक, वाचिक एवं मानसिक क्रियाओं) का अतियोग, यथा अतिव्यायाम, अतिमैथुन, अतिभय, अतिक्रोध, अतिचिन्ता, अतिशोक करना, शारीर वेगों को रोकना, निद्रा को रोकना, वमन–विरेचन आदि क्रियाओं का अतियोग होना, शरीर के रूक्ष होने पर भी बिना उबटन, तेल अभ्यंग के स्नान करना, प्रकृति से कृश होना तथा वृद्धावस्था में रोगों का बहुत समय तक रहना आदि कारणों से शरीर में रसधातु बहुत स्वल्प मात्रा में बनता है जिससे उसके शरीर में परिभ्रमण पर भी अन्य धातुओं को तृप्ति नहीं होती है जिस कारण शरीर कृश हो जाता है।

(च० सू० 24, सु० सू० 15)

मेदवृद्धि के लक्षण–

शरीर में स्नेह का अधिकांश उपयोग मेद के रूप में होता है यदि आवश्यकता से अधिक स्नेह आहार द्रव्यों में लिया जायेगा अथवा स्नेह की चायापचय क्रिया सम्यक् प्रकार से नहीं होगी तो आवश्यकता से अधिक मात्रा अतिरिक्त वसा के रूप में वसा–स्थानों पर एकत्रित हो जायेगी। इस दशा को मेदवृद्धि के रूप में स्मरण किया जाता है।

शरीर में मेद की अतिवृद्धि से शरीर में स्निग्धता बढ़ जाती है। उदर, पार्श्व, स्तन, नितम्ब आदि में विशेष रूप से मेद एकत्रित हो जाता है। शरीर से दुर्गन्ध आने लगती है। स्वल्प चेष्टा एवं श्रम से ही श्वास फूल जाती है। ऐसा व्यक्ति अतिस्थूल कहलाता है।

(सु० सू० 15; अ० ह्र० सू० 11)

अतिस्थूल (मेदस्वी) के लक्षण–

मेद और मांस के शरीर में अतिवृद्धि प्राप्त कर लेने से नितम्ब, उदर तथा स्तन (चलते समय) हिलते हैं, शरीर का चयापचय बिगड़ जाता है तथा ऐसे व्यक्ति में उत्साह भी कम हो जाता है। ऐसे व्यक्ति को अतिस्थूल कहते हैं।

अतिस्थूल मनुष्य में प्रत्येक श्वास छोटी हो जाती है। तृष्णा, क्षुधा, निद्रा एवं स्वेदन बढ़ जाते हैं। शरीर से दुर्गन्ध आने लगती है। एकाएक श्वास का रुक जाना, अङ्गों का जरा से परिश्रम से थकना तथा वाणी का अस्पष्ट होना आदि लक्षण शरीर में हो जाते हैं। (च० सू० 21/8)

मेद की कोमलता के कारण सब प्रकार के कार्यों के करने में शीघ्र दुर्बलता आ जाती है। कफ और मेद द्वारा शुक्र मार्ग अवरुद्ध होने से अधिक मैथुन के अयोग्य हो जाता है। अन्य धातुओं के मार्गों के मेद द्वारा अवरुद्ध हो जाने के कारण शरीर में धातुओं की वृद्धि नहीं होती है, इससे वह अत्यन्त दुर्बल हो जाता है। प्रमेह, पिडिका, ज्वर, भगन्दर, विद्रधि तथा वातविकारों में से किसी रोग से ग्रस्त होकर मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। (सु० सू० 15/33)

मेद से उसके शरीर के समस्त स्रोतों के विरुद्ध होने के कारण उस व्यक्ति में प्रायः सभी रोग बलवान् हो जाते हैं।

अतिस्थूल (मेदस्वी) के दोष–

अतिस्थूलस्य तावदायुषो ह्रासो, जवोपरोधः, कृच्छ्रव्यवायता दौर्बल्यं दौर्गन्ध्यं स्वेदाबाधः, क्षुदतिमात्रं, पिपासातियोगश्चेति भवन्त्यष्टौ दोषाः।

(च० सू० 21/3)

अतिस्थूल व्यक्ति के शरीर में आठ दोष होते हैं– [1] आयु की हीनता, [2] फुर्ती न होना, [3] मैथुन क्रिया कष्ट से होना, [4] दुर्बलता, [5] शरीर से दुर्गन्ध आना, [6] अत्यधिक स्वेद का आना, [7] अत्यधिक भूख का लगना तथा [8] अत्यधिक प्यास का लगना।

मेद की वृद्धि (अतिस्थूलता) से उत्पन्न लक्षणों के कारण–

भोजन में गुरु मधु, शीतल, स्निग्ध, कफकारक पदार्थों के अति उपयोग से तथा अध्यशन से, मैथुन न करने से, व्यायाम [परिश्रम] न करने से, दिन में सोने से, नित्य प्रसन्न रहने से, किसी प्रकार की चिन्ता न करने से, अपक्व तथा अत्यन्त मधुर अन्नरस शरीर में परिभ्रमण करता हुआ अति स्निग्ध होने के कारण मेद को उत्पन्न कर शरीर को अतिस्थूल बनाता है। बीज के [पैतृक]

स्वभाव से भी अतिस्थूलता उत्पन्न होती है।

अत्यधिक मेदोयुक्त व्यक्ति के देह में मेद का अन्य धातुओं की अपेक्षा अधिक उपचय [संचय] होता है। अतएव [धातुओं में विषमता होने से] वायु का ह्रास होता है। मेद के शिथिल, मृदु तथा गुरु होने से वह व्यक्ति वेग [फुर्ती] से रहित होता है। वीर्य के कम होने से तथा मेद द्वारा वीर्य मार्गों के आच्छादित होने के कारण मैथुन में शक्ति कम हो जाती है। रक्त आदि धातुओं के विषम होने से दुर्बलता होती है। मेद के दूषित होने के कारण, मेद के स्वभाव के कारण एवं मेद द्वारा स्वेद की अधिक उत्पत्ति होने के कारण शरीर से दुर्गन्ध आती है। मेद कफ से मिश्रित होने के कारण अर्थात् विष्यन्दी होने के कारण, मेद के अत्यधिक होने के कारण तथा व्यायाम को न सह सकने के कारण वह व्यक्ति मेद से पीड़ित रहता है अर्थात् अत्यधिक स्वेदन होता है। अग्नि के तीक्ष्ण होने से तथा कोष्ठ में वायु के अत्यधिक होने से उसे भूख और प्यास अधिक लगती है।

च० सू० 21/3, सु० सू० 15/33

मेददोष विकार–

मेदःसंश्रयांस्तु प्रचक्ष्महे।

निन्दितानि प्रमेहाणां पूर्वरूपाणि यानि च।। च० सू० 25/14

(अति स्थूल व्यक्ति के आठ दोषों के प्रसंग कहे गए) आयु की हीनता आदि लक्षण तथा प्रमेह के पूर्व रूप, ये सब मेद से दोष होते हैं।

मेद की अतिवृद्धि होने से जब ये दोनों मिश्रित हो जाते हैं तो कफ को भी दूषित कर देता है। यह कफ प्रकोपजन्य प्रमेहों का कारण होता है तथा मेदोवृद्धि, गलगण्ड, मेदोऽबुर्द, मेदोज, ओष्ठप्रकोप, मधुमेह, अतिस्थौल्य, अतिस्वेद, प्रभृति मेददोषज विकार उत्पन्न हो जाते हैं।

(च० चि० 28. सु० सू० 24)

मेदोवाही स्रोतों के दूषित होने के कारण–

अव्यायामाद् दिवास्वप्नान्मेद्यानां चातिभक्षणात्।

मेदोवाहीनि दुष्यन्ति वारुण्याश्चातिसेवनात्।। च० चि० 5/21

व्यायाम (परिश्रम) न करने से, दिन में सोने से, मेदवाले अन्न पान अधिक करने से, मदिरा के अति सेवन से, मेदोवाही स्रोत दूषित हो जाते हैं।

मेदोवाही स्रोतों के दूषित होने से ऊपर वर्णित रोग उत्पन्न होते हैं।

स्वेद

मेद का मल—

मलं स्वेदस्तु मेदसः।। च० चि० 15/18

मेद का मल स्वेद होता है।

स्वेद के कार्य—

स्वेदाद्धातुस्थिता दोषाः स्नेहक्लिन्नस्य देहिनः।

द्रवत्वं प्राप्य कोष्ठान्तर्गता यान्ति विरेकताम्।। शा० उ० 2/9

रस रक्तादि धातुओं में स्थित वातादि दोष स्नेह से क्लेदित होकर शरीर से स्वेद के द्रव भाग को प्राप्त कर कोष्ठ से स्वेद वहन करने वाले, स्वेदवह स्रोतों द्वारा बाहर निकल जाते हैं। इस प्रकार—

स्वेद त्वचा को आर्द्र तथा कोमल बनाता है तथा वात एवं उससे उत्पन्न विकारों को नष्ट करता है।

*** स्वेदः क्लेदत्वक्सौकुमार्यकृत्।।** सु० सू० 15/7

*** स्वेदस्य क्लेदविधृतिः।।** अ० हृ० सू० 11/5

*** स्वेदाः सर्वे वातार्तिहारिणः।।** शा० तृ० 2/1

स्वेदक्षय के लक्षण—

स्वेद के क्षय होने पर रोमकूप बन्द हो जाते हैं। त्वचा शुष्क हो जाती है, रोम झड़ने लगते हैं, स्पर्शज्ञान यथोचित नहीं होता है तथा स्वेद आना बन्द हो जाता है।

*** स्वेदक्षये स्तब्धरोमकूपता त्वक्शोषः स्पर्शवैगुण्यं स्वेदनाशश्च।** सु० सू० 11/15

*** स्वेदे रोमच्युतिः स्तब्धरोमता स्फुटनं त्वचः।।** अ० हृ० सू० 11/22

स्वेदक्षय का प्रतिकार—

स्वेदक्षय में तेल मालिश (अभ्यंग) तथा स्वेदन करना चाहिए। व्यायाम उपयोगी होता है।

तत्र अभ्यंगः स्वेदोपयोगश्च।। सु० सू० 15/11

व्यायामाभ्यंजनस्वेदमद्यैः स्वेदक्षयोद्भवान्।। अ० हृ० सू० 11/33

स्वेदवृद्धि के लक्षण—

स्वेद की (सामान्य से अधिक) वृद्धि से त्वचा में दुर्गन्ध तथा कण्डू (खुजली) उत्पन्न होती है।

*** स्वेदस्त्वचो दौर्गन्ध्यं कण्डूं च।।** सु० सू० 15/16

*** स्वेदोऽतिस्वेददौर्गन्ध्यकण्डूः।।** अ० हृ० सू० 15/16

गर्भवृद्धि में उदर तथा स्वेद की वृद्धि होती है अर्थात् गर्भावस्था में स्वेद वृद्धि प्राकृतिक है विकार का कारण नहीं है।

*** गर्भो जठराभिवृद्धिं स्वेदं च।।** सु० सू० 15/16

स्वेदवह स्रोत–

स्वेदवहानां स्रोतसां मेदो मूलं रोमकूपाश्च।। च० वि० 5/12

स्वेदवह स्रोतों का मूल (उद्गम) मेद (त्वग्वसा ग्रन्थियां, मेदो ग्रन्थियां (Sebaceous glands) तथा रोमकूप हैं।

स्वेदवह स्रोतों की दुष्टि का कारण–

व्यायामादतिसन्तापाच्छीतोष्णाक्रमसेवनात्।

स्वेदवाहीनि दुष्यन्ति क्रोधशोकभैस्तथा।। च० वि० 5/27

व्यायाम, अतिसन्ताप, शीत तथा उष्ण का क्रमरहित सेवन, क्रोध, शोक और भय से स्वेदवाही स्रोत विकृत हो जाते हैं।

स्वेदवह स्रोतों की दुष्टि के लक्षण–

प्रदुष्टानां खल्वेषामिदं विशेषविज्ञानं भवति। तद्यथाअस्वेदनमतिस्वेदनं पारुष्यमतिश्लक्ष्णतामङ्गस्य परिदाहं लोमहर्षं च दृष्ट्वा स्वेदवहान्यस्य स्रोतांसि प्रदुष्टानीति विद्यात्।। च० वि० 5/12

स्वेदवह स्रोतों के दुष्ट होने पर, स्वेद का न आना अथवा बहुत आना, त्वचा का अतिरूक्ष होना अथवा अतिस्निग्ध होना, दाह, लोमहर्ष आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं

स्वेद ग्रन्थियों के प्रकार, स्वेद के संगठन, स्वेद के कार्यों आदि के विस्तृत ज्ञान के लिए अभिनव शरीर क्रिया विज्ञान की पुस्तक देखें।

स्नायु

उत्पत्ति–

मेदसः स्नायुसम्भवः।। च० चि० 15/16

स्नायु उत्पत्ति मेद से होती है।

स्नायु शब्द का प्रयोग सन्धिबन्धन (ligaments), वातनाड़ियों (वाततन्त्रिकाओं nerves) तथा कण्डराओं (tendons) के लिए किया गया है। सन्धिबन्धन आदि की रचनाओं में तांन्तव ऊतक (fibrous tissue) की अधिकता होती है। इन तन्तुओं की कोशिकाओं में मेद का अंश अधिक होता है। तन्त्रिकाओं

का आवरण (मेदसावरण-medullary sheath) में तथा तन्त्रिकातन्तुओं (अक्षतन्तु आदि) की रचना में भी मेद का अंश सर्वाधिक होता है।

मेदसः स्नेहमादाय सिरा स्नायुत्वमाप्नुयात्।

सिराणां तु मृदुः पाकः स्नायूनां च ततः खरः।। सु० शा० 4/28

(पित्तयुक्त वायु) मेद के स्नेह के भाग को मेद से पृथक् करके सिरा और स्नायुओं में परिवर्तित करता है।

सिरा और स्नायुओं में इतना ही अन्तर है कि सिराओं का पाक मृदु होता है तथा स्नायुओं का पाक खर होता है। अर्थात् सिराओं की अपेक्षा स्नायु कठोर एवं अल्पप्रत्यास्थ होते हैं।

स्नायुओं की संख्या–

*** नव स्नायुशतानि।।** सु० शा० 5/34, च० शा० 7/51

शरीर में स्नायु नौ सौ होते हैं।

*** स्नाय्वां नवशती।।** शरीर में स्नायु नौ सौ हैं। अ० हृ० शा० 3/17

तासां शाखासु षट्शतानि, द्वे शते त्रिंशच्च कोष्ठे, ग्रीवां प्रत्यूर्ध्वं सप्ततिः।। सु० शा० 5/34

इनमें शाखाओं में छः सौ, मध्य शरीर में दो सौ तीस और ग्रीवा के ऊपर के भाग में सत्तर होते हैं। इस प्रकार स्नायु नौ सौ होते हैं।

स्नायु के प्रकार तथा स्थान–

स्नायूश्चतुर्विधा विद्यात्तांस्तु सर्वान्निबोध मे।

प्रतानवत्यो वृत्ताश्च पृथ्व्यश्च शुषिरास्तथा।। सु० शा० 5/30

स्नायु चार प्रकार के होते हैं– [1] प्रतानवती, [2] वृत्त, [3] पृथुल [चपटे] तथा [4] शुषिर [सछिद्र]।

प्रतानवत्यः शाखासु सर्वसन्धिषु चाप्यथ।

वृत्तास्तु कण्डराः सर्वा विज्ञेयाः कुशलैरिह।। सु० शा० 5/39

[1] प्रतानवती स्नायु [सन्धिबन्धन-Ligaments] समस्त शाखाओं तथा सन्धियों में होते हैं।

[2] वृत्त स्नायु– वृत्त [गोल] स्नायुओं को, कार्य में समानता की दृष्टि से, कण्डरा [tendons] के समान समझना चाहिए।

आमपक्वाशयान्तेषु बस्तौ च शुषिराः खलु।

पार्श्वोरसि तथा पृष्ठे पृथुलाश्च शिरस्यथ।। सु० शा० 2/40

[3] सुषिर स्नायु [sphincter muscles] आमाशय, पक्वाशय तथा बस्ति में सुषिर स्नायु होते हैं।

[4] पृथुल स्नायु [aponeurosis चपटे स्नायु]– पार्श्व, वक्ष, पीठ तथा सिर में पृथुल स्नायु होते हैं।

स्नायु के कार्य–

***नौर्यथा फलकास्तीर्णा बन्धनैर्बहुभिर्युता।**

भारक्षमा भवेदप्सु नृयुक्ता सुसमाहिता।।

एवमेव शरीरेऽस्मिन् यावन्तः सन्धयः स्मृताः।

स्नायुभिर्बहुभिर्बद्धास्तेन भारसहा नराः।। सु० शा० 5/41, 42

जिस प्रकार अनेकों तख्तों को भलीभान्ति बन्धनों से बांधकर बनाई हुई नाव जल में भार उठाने में समर्थ होती है, इसी प्रकार शरीर की सन्धियां स्नायुओं से बन्धी हुई होने के कारण मनुष्य शरीर का भार उठाने में समर्थ रहती हैं।

***स्नायवो बन्धनं प्रोक्ता देहे मांसास्थिमेदसाम्।।** सु० शा० 5/32

शरीर में मांस, अस्थि तथा मेद भाग को बान्धने [सुदृढ़ करने] के लिए स्नायु प्रयुक्त होते हैं।

स्नायु का महत्त्व–

न ह्यस्थीनि पेश्यो वा न सिरा न च सन्धयः।

व्यापादितास्तथा हन्युर्यथा स्नायुः शरीरिणाम्।। सु० शा० 5/35

अस्थियों, पेशियों, सिराओं तथा सन्धियों के आघात [injury] से इतनी पीड़ा नहीं होती है जितनी स्नायुओं के आघात से [सुचारुता से कार्य न करने से अथवा क्षत से] होती है।

★ ★ ★

6

अस्थि धातु

उत्पत्ति–

मेदस्ततोऽस्थि प्रजायते।। च० चि० 15/15, अ० हृ० शा० 3/63

मेद अस्थि को उत्पन्न करता है।

मेदसोऽस्थि जायते।। मेद से अस्थि उत्पन्न होती है। सु० सू० 14/11

मेद के प्रसादांश में उपस्थित अस्थि सधर्मी अंश पर अस्थ्यग्नि की क्रियास्वरूप उत्पन्न प्रसादांश से अस्थि धातु का निर्माण होता है।

पृथिव्यग्न्यनिलादीनां संघातः स्वोष्मणा कृतः।

खरत्वं प्रकरोत्यस्य जायतेऽस्थि ततो नृणाम्।। च० चि० 15/29

अपनी ऊष्मा से पृथिवी, अग्नि और वायु आदि का संघात होकर वह [मेद] खर [कठोर] हो जाता है, इससे अस्थि बन जाती है।

मेदः पुष्टिमस्थ्नां।। मेद अस्थियों का पोषण करता है। सु० सू० 15/6

अस्थियों की संख्या–

दांत, दांतों के उलूखल और नखों सहित अस्थियां तीन सौ साठ होती हैं।

***त्रीणि षष्ट्यधिकानि शतान्यस्थ्नां सह दन्तोलूखलनखैः।**

च० शा० 7/6

वेदवादी अर्थात् वेद को प्रमाण माननेवाले, शरीर में 360 अस्थियां कहते हैं, परन्तु शल्यतन्त्र के अनुसार अस्थियां तीन सौ होती हैं।

***त्रीणि सषष्टीन्यस्थिशतानि वेदवादिनो भाषन्ते।**

शल्यतन्त्रे तु त्रीण्येव शतानि।। सु० शा० 5/17

सुश्रुत संहिता में दांतों के उलूखल तथा नखों को अस्थियों में नहीं गिना गया है जबकि चरक ने इनकी गणना अस्थियों में की है।

आधुनिक शरीर रचना के अनुसार कान की अस्थियों सहित अस्थियां दो सौ छः होती हैं।

अस्थियों के प्रकार एवं कार्य–

एतानि पंचविधानि भवन्ति। तद्यथा-कपालरुचकतरुणवलय-नलकसंज्ञानि।

तेषां जानुनितम्बांसगण्डतालुशंखशिरःसु कपालानि।

दशनास्तु रुचकानि।

घ्राणकर्णग्रीवाक्षिकोषेषु तरुणानि।

पार्श्वपृष्ठोरःसु वलयानि।

शेषाणि नलकसंज्ञानि।। सु० शा० 5/22

ये अस्थियां पांच प्रकार की होती हैं तथा (1) कपालस्थियां (2) रुचक अस्थियां (3) तरुण अस्थियां (cartilage) (4) वलय अस्थियां तथा (5) नलक अस्थियां।

कपाल अस्थियां जानु, नितम्ब, अंस, गण्ड, तालु,, शंख तथा सिरा में होती हैं। कपाल अस्थियां चिपटी होती हैं। इनमें लम्बाई चौड़ाई अधिक तथा मोटाई कम होती है।

रुचक अस्थियां दांत हैं। ये अस्थियां सौवर्चल नमक के समान श्वेत तथा भंगुर होती हैं इसलिए इन्हें अस्थियां कहते हैं। वर्तमान वैज्ञानिक इन्हें अस्थियों में नहीं गिनते हैं।

तरुण अस्थियां घ्राण [नासिका], कर्ण, ग्रीवा तथा अक्षिकोष में होती हैं। ये दो प्रकार की होती हैं। [1] वे तरुण अस्थियां जो उचित आयु पर पूर्ण अस्थियां बन जाती है तथा [2] वे जो जीवन भर तरुण [cartilage] रहती हैं।

वलय अस्थियां पार्श्व, पृष्ठ तथा उर में होती हैं। ये विषम [irregular] तथा छोटी [short] अस्थियां हैं।

शेष अस्थियां नलक संज्ञक हैं। नलक लम्बी अस्थियों को कहते हैं। शेष अस्थियां लम्बी होती हैं, इसलिए नलक कहलाती हैं।

अस्थियों के कार्य–

जैसे वृक्ष अपने अन्दर सार [काष्ठ] के सहारे खड़ा है वैसे मनुष्य की देह, वास्तव में अस्थिसार के सहारे धारण की जा रही है। यही कारण है कि शरीर की त्वचा, मांस आदि के नष्ट होने से अस्थियां नष्ट नहीं होती हैं। क्योंकि अस्थियां [वृक्ष के काष्ठ के समान] शरीर का सार हैं। मांस भी सिरा तथा स्नायुओं द्वारा अस्थियों से बन्धा रहता है, इसलिए यह अस्त व्यस्त नहीं होता है और न ही गिरता है।

(सु० शा० 5/23-25)

कपाल, वलय तथा नलक अस्थियों की रचना में आधार पदार्थ [आधात्री matrix] तथा अस्थि कोशिकायें भाग लेती हैं। आधात्री में लगभग 40 प्रतिशत कोलेजन तन्तु [collagen fibres] तथा 60 प्रतिशत अकार्बनिक द्रव्य, विशेष रूप से कैल्शियम लवण होते हैं। अस्थि कोशिकायें तीन प्रकार की होती हैं।

(1) अस्थिकोशिका प्रसू (osteoblast) (2) अस्थिकोशिका (osteocyte) तथा अस्थि भंजक (अस्थि अवशोषी-osteoclast) कोशिका।

अस्थिकोशिका प्रसू द्वारा अस्थि की उत्पत्ति होती है। इन कोशिकाओं का स्राव आधात्री को जन्म देता है। जब ये क्रियाहीन हो जाती हैं तो आधात्री में अस्थि कोशिकाओं के रूप में स्थिर हो जाती हैं। अस्थिभंजक कोशिकायें अस्थियों को रूप प्रदान करने में सहायक होती हैं। अधिक बढ़े हुए भाग को पुनः शोषण कर नष्ट कर देती हैं जिस कारण अस्थि धातु अपनी मर्यादा में रहती है और उसकी शक्ल (shape) बनी रहती है।

अपनी कठोरता तथा घनत्व के कारण अस्थियों की रचना दो प्रकार की होती हैं। [1] संहत [compact] तथा [2] सुषिर [canellated अथवा spongy] प्रत्येक अस्थि का बाह्य भाग रचना में संहत होता है। इसके अतिरिक्त लम्बी अस्थियों के काण्ड [shaft], अस्थिवर्ध [diaphysis डायफिसिस] भाग में संहत होते हैं। सभी चपटी अस्थियों का भीतरी भाग, लम्बी अस्थियों के गोल सिरों का भाग तथा कशेरुकों [vertebra] का पिण्ड [body] भाग रचना दृष्टि से सुषिर होता है।

अस्थियों के कार्य—

[1] अस्थियां शरीर के रूप में [shape] को बनाये रखने में सहायक होती हैं, [2] शरीर के प्रमुख अवयवों तथा मस्तिष्क, हृदय, फुफ्फुस आदि को रक्षण प्रदान करती हैं। [3] ये खनिजों के संग्रह स्थल हैं, विशेष रूप से कैल्शियम फॉस्फोरस के [4] रक्त मज्जा, जो रक्त कोशिकाओं का उत्पत्ति स्थल है, अस्थियों के आश्रित रहती हैं। [5] जालिका–अन्तःकला–कोशिकाओं [reticular endothelial cells] के मिलने का अस्थियां प्रमुख स्थान हैं।

अस्थियों का संगठन—

इनमें 25 प्रतिशत जल तथा 75 प्रतिशत घन पदार्थ होते हैं। 75 प्रतिशत घन पदार्थों में 30 प्रतिशत कार्बनिक पदार्थ तथा घन 45 प्रतिशत अकार्बनिक पदार्थ होते हैं।

कार्बनिक पदार्थों में मुख्य तीन प्रोटीन हैं— [1] ओसीन [osein], [2] अस्थिश्लेष्माभ [osseomucoid] तथा [3] ऑसिओऐल्बूमिनोइड [osseoalbuminoid] जो कठोर कैराटिन [keratin] है।

अकार्बनिक पदार्थों में मुख्य— [1] कैल्शियम [2] फॉस्फोरस तथा [3] मैगनेशियम हैं। इनके अतिरिक्त [4] पोटाशियम, [5] सोडियम, [6] क्लोरीन, [7] लोह, [8] फ्लोरीन, [9] लिथियम तथा [10] स्ट्रोन्शियम भी सूक्ष्म मात्रा

में होते हैं। उपास्थि में कुछ अंश केल्शियम फ्लोराइड के रूप में मिलता है। मैगनेशियम मुख्य रूप में मैगनेशियम फॉस्फेट के रूप में होता है।

तरुण अस्थियां- इनको उपास्थि [cartilage] कहते हैं। इनकी रचना में भी अस्थियों के समान आधात्री [matrix] एवं कोशिकायें होती हैं परन्तु इनमें आधात्री [matrix] कम या अधिक पारभासी [transluscent] तथा प्रत्यास्थ [elastic] होती है।

आधात्री की रचना भेद से उपास्थि तीन प्रकार की होती हैं– [1] काचाभ उपास्थि [Hyaline cartilage], [2] तन्तूपास्थि [Fibro cartilage] तथा [3] प्रत्यास्थ उपास्थि [Elastic cartilage]।

काचाभ उपास्थि के आधात्री में किसी प्रकार के तन्तु नहीं होते हैं, अतः वह अच्छा पारभासी होता है परन्तु इसमें उपस्थित कोशिकायें [cartilage cells] होती हैं। इन उपास्थियों के चारों ओर एक घना चीमड [tough] सम्पुट होता है जिसे पर्युपास्थि [perickondrium] कहते हैं। ये उपास्थियां = [1] अस्थियों के अधिवर्ध [epiphysis] तथा अस्थिवर्ध [diaphysis] के मध्य संधायक सिरों पर [2] पर्शुकाओं के अग्र भाग [anterior] पर, [3] नासिका की उपास्थि, [4] कर्ण कुहर [meatus], [5] स्वरयन्त्र [larynx], [6] श्वास प्रणाली [trachea] तथा [7] श्वसनिका [bronchial tubes] में होती हैं।

तन्तूपास्थि– के आधात्री के श्वेत तन्तु प्रमुखता से होते हैं। अतः जहां पर लचीलेपन के साथ–साथ तनन सामर्थ्य [tensile strength] तथा दृढ़ता की आवश्यता होती है उन्हीं स्थानों पर ये उपास्थियां होती हैं यथा [1] अन्तरा कशेरुक चक्र [Inter vertebral disc] [2] जानुसन्धि के नवचक्र [meniscus of knee joints] [3] अधोहनुसन्धि [mandibular joint] स्थल [4] जघन संधानक [pubic symphysis] तथा [5] अस्थियों के कण्डरा खात [tendon grooves] के अस्तर [lining] में इस प्रकार की उपास्थियां होती हैं।

प्रत्यास्थ उपास्थि– जहां पर लचीलेपन [flexibility] की आवश्यकता होती है, प्रत्यास्थ उपास्थि होती है। इन उपास्थियों के आधात्री में पीत तन्तु [yellow fibres] अत्यधिक होते हैं। ये उपास्थियां बहिःकर्णपाली [extpinna], यूस्टेशियन नलिका [eustachian tube] गण्डच्छद [epiglottis] में होती हैं तथा स्वरयन्त्र की कुछ उपास्थियां भी इसी प्रकार की होती हैं।

रुचक अस्थियां– [Teeth]–आयुर्वेद में दांतों की गणना अस्थियों के अर्न्तगत होती है। रचना की दृष्टि से दांतों के चार भाग होते हैं– [1] दन्त

वल्क [enamel], [2] दन्तधातु [dentine], [3] संयोजी [cemenium], तथा [4] दन्तमज्जा [pulp]।

दन्तवल्क शरीर का सबसे कठोर भाग है। रासायनिक दृष्टि से इसमें अधिकांशतः कैल्शियम फॉस्फेट होता है। दांतों का जो भाग मसूढ़ों [gums] से बाहर होता है उस पर दन्तवल्क का पर्त चढ़ा रहता है। इसके नीचे दांतों का मुख्य भाग दन्त धातु होता है। इसकी रचना में अस्थियों के समान आधात्री कोलेजन तन्तु [collagen fibres] होते हैं। दन्त धातु के नीचे जड़ का भाग संयोजी से ढ़का रहता हैं। संयोजी की रचना अस्थियों के समान होती है। दन्तधातु के मध्य में खोखला भाग होता है। जिसमें संयोजक ऊतक [connective tissue] तथा रक्तवाहिकायें एवं तन्त्रिकातन्तु रहते हैं। इसे दन्तमज्जा [pulp] कहते हैं। दांतों द्वारा चीरने काटने, चबाने का कार्य होता है तथा शब्दों के सही उच्चारण में सहायता मिलती है।

अस्थिसार पुरुष के लक्षण–

*** पार्ष्णिगुल्फजान्वरत्निजत्रुचिबुकशिरःपर्वस्थूलाः स्थूलास्थिनखदन्ताश्चास्थिसाराः।**

ते महोत्साहाः क्रियावन्तः क्लेशसहाः सारस्थिरशरीरा भवन्त्यायुष्मन्तश्च।

अस्थिसार पुरुषों की एड़ी, गुल्फ (गट्टा), जानु, अरत्नि (मुष्टि), जत्रु, चिबुक, शिर और पर्व स्थूल होते हैं। अस्थियां, नख और दांत भी स्थूल होते हैं।

अस्थिसार पुरुष बड़े उत्साही, क्रियाशील, क्लेश को सहन करने वाले, सारमय, स्थिरशरीरयुक्त तथा दीर्घायु होते हैं।

*** महाशिरःस्कन्धं दृढ़दन्तहन्वस्थिनखमस्थिभिः।।** सु० सू० 35/18

अस्थिसार पुरुष का शिर तथा कन्धे बड़े होते हैं, दांत, हनु, अस्थियां तथा नख दृढ़ होते हैं।

अस्थिक्षय के लक्षण–

अस्थिक्षय में केश, रोम, नख, दाढ़ी, मूछ के बाल एवं दांत सब गिर (झड़) जाते हैं तथा थकावट शीघ्र हो जाया करती है। अस्थियों में पीड़ा एवं अस्थिसन्धियों में शिथिलता उत्पन्न हो जाती है।

केशलोमनखश्मश्रुद्विजप्रपतनं श्रमः।
ज्ञेयमस्थिक्षये रूपं सन्धिशैथिल्यमेव च। च० सू० 17/66

*** अस्थिक्षयेऽस्थिशूलं दन्तनखभङ्गो रौक्ष्यं च।।** सु० सू० 15/10

अस्थ्यस्थितोदः शदनं दन्तकेशनखादिषु।। अ० हृ० सू० 13/19

अस्थिवृद्धि के लक्षण–

अस्थियों की (सामान्य से अधिक) वृद्धि में अस्थियों में तथा दाँतों में अनैसर्गिक वृद्धि होती है।

अस्थ्यध्यस्थीन्यधिदन्तांश्च।। सु० सू० 11/15

अस्थ्यध्यस्थ्यधिदन्ताश्च।। अ. हृ. सू. 11/11

अस्थिवह स्त्रोतों के दूषित होने के कारण–

व्यायामादतिसंक्षोभादस्थ्नामतिविघट्टनात्।
अस्थिवाहीनि दुष्यन्ति वातलानां च सेवनात्।। च. वि. 5/22

अतिव्यायाम के कारण अत्यधिक संक्षोभ से (क्षत आदि से), अस्थियों को बहुत हिलाने से तथा वातवर्धक आहार–विहार से अस्थिवाही स्त्रोत दूषित हो जाते है।

अस्थिवह स्त्रोतों का मूल–

अस्थिवहानां स्त्रोतसां मेदो मूलं जघनं च। च. वि. 5/9

अस्थिवह स्त्रोतों का मूल मेद तथा जघन प्रदेश है।

अस्थियों की उत्पत्ति में कैल्शियम तथा फॉस्फोरस मुख्य घटक हैं। इनका अस्थियों के रूप में संयोग विटामिन डी के द्वारा होता है जो मेद में विलय होता है और मेद के साथ ही शरीर में संवहित होता रहता है। अतः यह कहना उचित है कि अस्थि की उत्पत्ति के स्त्रोत मेद से उदित होते हैं।

अस्थि-दोषज विकार–

अस्थि स्थित दोषों के प्रकोप से अध्यस्थि (अधिक अस्थि), अधिदन्त, दन्तभेद, दन्तशूल, अस्थिभेद, अस्थिशूल, विवर्णता तथा केश, रोम, नख, दाढ़ी, मूंछ के बालों में विकार उत्पन्न होते हैं।

अध्यस्थिदन्तदन्तास्थिभेदशूलं विवर्णता।
केशलोमनखश्मश्रुदोषाश्चास्थिप्रकोपजाः।। च. सू. 18/15

अध्यस्थ्यधिदन्तास्थितोदशूलकुनखप्रभृतयोऽस्थिदोषजाः।।

सु० सू० 24/23

अस्थियों में स्थित दोषों के विकार अध्यस्थि, अधिदन्त, अस्थितोद, अस्थिशूल, कुनख आदि हैं।

अस्थि के मल—

किट्टं केशलोमाऽस्थ्नोः। अस्थि के मल केश और लोम हैं।

च० चि० 15/18

स्यान्नखरोम च।। अस्थि के मल नख और रोम हैं। सु० सू० 46/529

ततः पच्यमानात् तस्मान्मलो निर्गच्छति। स च व्यानवायुना प्रेरितः सिरामार्गत्वादंगुलिषु नखास्तनौ लोमानि भवन्ति।।

भावप्रकाश पू० ख० 3/180

[अस्थ्यग्नि द्वारा] पाक के पश्चात् सारभाग से अस्थिधातु बनती है तथा मल भाग व्यान वायु से प्रेतिर होकर सिराओं के मार्ग से अंगुलियों में पहुंच नख के रूप में तथा शरीर में रोम के रूप में स्थित हो जाता है।

चरक संहिता में अस्थि के मल केश तथा रोम ही कहे गए हैं, नखों की अस्थि मल में गणना नहीं की गई है क्योंकि इस संहिता ने नखों को मल के स्थान पर अस्थि माना है।

केश, रोम तथा नख निरन्तर वृद्धि को प्राप्त होते रहते हैं तथा इनमें तंत्रिका तन्तुओं के अभाव के कारण स्पर्शज्ञान का भी अभाव रहता है। इनके बढ़ जाने पर इन्हें काटकर शरीर से पृथक् कर दिया जाता है एवं इस प्रकार पृथक् कर देने पर शरीर में कोई विकृति उत्पन्न नहीं होती है। अतः इन्हें मल संज्ञा प्रदान की गई है।

अस्थियों के समान ही केश, रोम तथा नखों में पृथिवी महाभूत की अधिकता होती है और जल का अंश बहुत कम होता है, इस कारण इनमें काठिन्य भाव अधिक होता है। अस्थियों से, इस समानता के कारण ही सम्भव है, इनकी उत्पत्ति अस्थि के किट्टांश से मानी गई है। केश, रोम तथा नखों में नाखून अपनी आकृति एवं कठोरता के कारण अस्थियों के अधिक समीप हैं अतः चरक ने इनकी अस्थियों में ही परिगणना, सम्भव है इसी कारण, की है।

★ ★ ★

7
मज्जा धातु

मज्जा की उत्पत्ति–

अस्थ्नो मज्जा.........प्रजायते।। च० चि० 15/16,अ० हृ० शा० 3/62

अस्थि से मज्जा की उत्पत्ति होती है।

ततो (अस्थ्नः) मज्जा............जायते। सु० सू० 14/11

अस्थि मज्जा को उत्पन्न करती है।

अस्थि में उपस्थित मज्जा सधर्मी अंश पर मज्जाग्नि की पाक क्रिया के प्रसादांश से मज्जा धातु की तथा किट्टांश से मज्जा के मलों की उत्पत्ति होती है।

करोति तत्र सौषिर्यमस्थ्नां मध्ये समीरणः।

मेदसस्तानि पूर्यन्ते स्नेहो मज्जा ततः स्मृतः।। च० चि० 15/30

वायु अस्थियों के मध्य खोखलापन करता है और वह खोखला भाग मेद (स्नेह fat) से भर जाता है। उस स्नेह को मज्जा कहते हैं।

महत्सु (अस्थिषु) च मज्जा भवति।

स्थूलस्थिषु विशेषेण मज्जा त्वभ्यन्तराश्रितः।। सु० शा० 4/11, 12

बड़ी अस्थियों में मज्जा होती है। बड़ी अस्थियों के मध्य को आश्रय लेकर विशेष रूप से मज्जा होती है।

इसे पीत मज्जा (Yellow marrow) कहते है। इसके संगठन में संयोजी ऊतक (Connective tissue), रक्तवाहिकायें, प्राक्कणिका–श्वेतकोशिकायें (myelocytes) तथा अधिकांशतः स्नेह (fat) कोशिकायें होती हैं। सरक्त मेद के समान इसमें भी लसिका का अभाव होता है।

आयुर्वेद मस्तिष्क को मज्जा निर्मित मानता है।

मस्तिष्कशिरस्थो मज्जा। मस्तिष्कः शिरोगतः स्नेहः। चक्रपाणिः

मस्तुलुंगो विलीनघृताकारो मस्तकमज्जा।। –डल्हण

मज्जा के कार्य–

मज्जा प्रीतिं स्नेहं बलं शुक्रपुष्टिं पूरणमस्थ्नां च करोति।

सु० सू० 15/6

मज्जा प्रसन्नता, स्निग्धता, बल, शुक्र की पुष्टि तथा अस्थियों (के सुषिर भाग) का पूरण करती है।

मज्जा का शरीर में परिमाण—

एको (अञ्जलिः) मज्जायाः।। च० शा० 7/15

शरीर में मज्जा की मात्रा एक अञ्जलि (लगभग 160-170 ग्राम) परिमाण में होती है।

मज्जासार पुरुष के लक्षण—

तन्वंगा बलवन्तः स्निग्धवर्णस्वराः स्थूलदीर्घवृत्तसन्धयश्च मज्जासाराः। ते दीर्घायुषो श्रुतविज्ञानवित्तापत्यसम्मानभाजश्च भवन्ति।

च० शा० 8/118

मज्जासार पुरुषों के अंग पतले होते हैं, वे बलवान् वर्ण और स्वर में स्निग्ध होते हैं। उनकी सन्धियां मोटी, लम्बी और गोलाकार होती हैं।

मज्जासार पुरुष दीर्घायु, बलवान्, श्रुत (शास्त्रों के ज्ञाता) विज्ञान, धन, सन्तान तथा सम्मानयुक्त होते हैं।

अकृशमुत्तमबलं स्निग्धगम्भीरस्वरं सौभाग्योपपन्नं महानेत्रं च मज्ज्ञाः।। सु० सू० 35/16

मज्जासार पुरुष कृशता रहित (अंग पतले होते हैं परन्तु कृश नहीं) उत्तम बलयुक्त स्निग्ध तथा गम्भीर स्वरयुक्त, सौभाग्यवान् तथा बड़े नेत्रवाले होते हैं।

मज्जाक्षय के लक्षण—

शरीर में मज्जा की कमी होने पर अस्थियां क्षीण, हल्की तथा दुर्बल हो जाती हैं, उत्तरधातु शुक्रधातु की अल्पता हो जाती है। संधियों में पीड़ा होती है। भ्रम (चक्कर) तथा नेत्रों के आगे अन्धेरा आने लगता है। मज्जा से क्षीण व्यक्ति वातरोगों से ग्रस्त रहता है।

शीर्यन्त इव चास्थीनि दुर्बलानि लघूनि च।
प्रततं वातरोगाश्च क्षीणे मज्जनि देहिनाम्।। सु० सू० 17/67

मज्जक्षयेऽल्पशुक्रता पर्वभेदोऽस्थिनिस्तोदोऽस्थिशून्यता च।।

सु० सू० 15/10

अस्थ्नां मज्जनि सौषिर्यं भ्रमस्तिमिरदर्शनम्।। अ० हृ० सू० 11/19

मज्जावृद्धि के लक्षण—

मज्जा की शरीर में अतिवृद्धि से समस्त शरीर में तथा नेत्रों में गौरव (भारीपन) आ जाता है।

मज्जा सर्वाङ्गनेत्रगौरवं च।। सु० सू० 15/15

मज्जा नेत्रांगगौरवम्।। अ० हृ० सू० 11/11

मज्जावह स्रोत–

मज्जावहानां स्रोतसामस्थीनि मूलं सन्धयश्च।। च० वि० 5/9

मज्जावह स्रोतों का मूल अस्थियां और सन्धियां हैं।

मज्जावह स्रोतों की दुष्टि का कारण–

उत्पेषादत्यभिष्यन्दादभिघातात् प्रपीडनात्।

मज्जवाहीनि दुष्यन्ति विरुद्धानां च सेवनात्।। च० वि० 5/18

कुचला जाने से, अत्यधिक अभिष्यन्द के कारण, अभिघात से, दबाव से तथा विरुद्ध आहार सेवन से मज्जावाही स्रोत दूषित हो जाते हैं (तथा मज्जा के विकारों को करते हैं)।

मज्जादोषज विकार–

मज्जा दोषज विकारों में शरीर के पर्वों [पोरों, ग्रन्थियों] में वेदना, भ्रम, मूर्च्छा, अन्धकार न होते हुए भी नेत्रों के आगे अन्धकार दिखाई देना तथा पर्वों पर स्थूल मूल वाली (deep rooted) पिडिकायें हो जाती हैं।

रुक् पर्वणां भ्रमो मूर्च्छा दर्शनं तमसोऽसतः।

अरुषां स्थूलमूलानां पर्वजानां च दर्शनम्।।

मज्जाप्रदोषात्।। च० सू०18/16

तमोदर्शनमूर्च्छाभ्रमपर्वस्थूलमूलारुर्जन्मनेत्राभिष्यन्दप्रभृतयो मज्जदोषजाः।। सु० सू० 24/9

पर्वसु स्थूलमूलानि कुर्यात्कृच्छ्राण्यरूंषि च।। अ० सू० हृ० 11/11

वसा, मेद तथा मज्जा में अन्तर

शरीर द्वारा स्नेह (fat) की प्राप्ति के लिए मुख्यतः चार पदार्थों का प्रयोग होता है। इनका संहिता ग्रन्थों में स्पष्ट वर्णन मिलता है।

घृत, तैल, वसा तथा मज्जा ये चार प्रकार के स्नेह हैं जिनका पान [मुख द्वारा लेना], अभ्यंग [मालिश द्वारा], वस्ति [गुदा द्वारा लेना] तथा नस्य [नाक द्वारा सूंघने] के रूप में प्रयोग किया जाता है।

सर्पिस्तैलं वसा मज्जा स्नेहो दृष्टश्चतुर्विधः।

पानाभ्यंजनवस्त्यर्थं नस्यर्थं चैव योगतः।। च० सू० 1/86

स्नेहश्चतुर्विधः प्रोक्तो घृतं तैलं वसा तथा मज्जा च।।

शा० उ० 1/1

इस प्रकार उपरोक्त वर्णित चारों प्रकार के स्नेहों में मनुष्य के शरीर में मिलने वाले केवल दो स्नेह द्रव्य हैं जिनका उपरोक्त विधि से प्रयोग किया जा सकता है। वे हैं वसा तथा मज्जा। आयुर्वेद में शरीरगत स्नेह के तीन रूपों का वर्णन आया है। इन दो के अतिरिकत तीसरा रूप मेद का है। चरक में मेद का स्नेह प्राप्ति के लिए सेवन का वर्णन नहीं है और न आजकल ही मेद का प्रयोग उपरोक्त कार्य में होता है। इन तीनों में वसा उपधातु है तथा मेंद एवं मज्जा धातुयें हैं। उपधातु होने के कारण वसा का कार्य केवल धारण करना है जबकि मेद एवं मज्जा का कार्य धारण के अतिरिक्त पोषण भी है। अतः सिद्ध होता है कि—

वसा— वसा के प्रसंग में कहा जा चुका है कि वसा शरीर में केवल संग्रहीत स्नेह है, जिसे उदासीन स्नेह [natural fat] कहा जा सकता है। यह जीवित अवस्था में शरीर में तरल रूप में तथा मृत्यु के पश्चात् घन रूप में रहता है। सामान्य बोलचाल में इसे चर्बी कहते हैं। [1] शरीर में धारण कार्य के कारण यह शरीर को आकार [shape] देता है, [2] ऊष्मा का कुचालक [bad conductor of heat] होने के कारण शरीर के तापमान को बनाये रहता है और साथ ही साथ [3] यह ऊर्जा का संग्रहकर्त्ता भी होता है। ये सब धारण कार्य हैं इनमें से एक भी कार्य पोषण के अन्तर्गत नहीं आता है। यह शुद्ध स्नेह है। इसका सेवन घी तथा तैल के स्थान पर आज भी किया जाता है। स्नेह के अन्य उपयोग तथा साबुन आदि बनाने में भी प्रयोग होता है।

मेद— मेद शरीर के स्नेह के उस रूप को कहते हैं जो शरीर में मूलरूप में न रहकर यौगिकों (compounds) के रूप में रहता है। जैसा मेद के प्रसंग में कहा जा चुका है कि यह प्रत्येक कोशिका (cells) की रचना में भाग लेता है तथा अन्य स्थानों पर भी यौगिकों के रूप में ही मिलता है। इसके सामान्य रूप फॉस्फोलाइपिड (Phospnolipids) तथा स्टेरॉल (sterol) हैं। कोशिका की रचना का अंग होने के कारण यह कोशिका से पृथक् नहीं हो सकता है। इसके कोशिका से पृथक् होने का तात्पर्य है कि कोशिका का नष्ट हो जाना, अर्थात् शरीर का ही नष्ट हो जाना। अतः शरीर में स्नेह की कितनी ही आवश्यकता क्यों न हो यह स्नेह उसे प्राप्त नहीं होता है। अतः इसका उपरोक्त कार्यों में प्रयोग असम्भव है किन्तु यह अत्यन्त आवश्यक धातु है।

मज्जा— मज्जा केवल अस्थियों में मिलती है। यहां पर यह स्नेह के मिश्रण (mixture) रूप में रहती है। मिश्रण में मूल द्रव्यों के स्वयं के गुण बने रहते हैं जबकि यौगिकों में ऐसा नहीं होता है। अतः मिश्रण में यद्यपि स्नेह के साथ अन्य शारीर द्रव्य भी होते हैं परन्तु स्नेह के अपने जो गुण हैं वे भी बने रहते हैं। मज्जा में स्नेह के इन मूल गुणों के कारण इसका सेवन किया जाता है। आज भी अस्थियों को उबालकर उसके मज्जा अंश को जल में इस प्रकार प्राप्त कर निर्बल व्यक्ति को सेवन कराया जाता है।

उपरोक्त वर्णन से तीनों का भेद स्पष्ट हो जाता है।

वसा में स्नेह मूल स्नेह के रूप में रहता है, मेद में स्नेह यौगिकों के रूप में रहता है जबकि मज्जा में स्नेह मिश्रण के रूप में रहता है। अतः वसा एवं मज्जा का ही सेवन किया जा सकता है मेद का सेवन सम्भव नहीं है।

वसा का कार्य तो केवल धारण करना है। पोषण से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। जबकि मज्जा एवं मेद धारण के साथ–साथ पोषण कर्म भी करते हैं।

मज्जा के मल—

मज्जा के मल नेत्र, पुरीष तथा त्वचा का स्नेह होता है।

किट्टं मज्ज्ञः स्नेहोक्षिविट्त्वचाम्।। च० चि० 15/18

नेत्रविट्त्वक्षु च स्नेहो।। सु० सू० 46/527

स्नेहोऽक्षित्वक्।। अ० ह्र० शा० 3/63

ततः पच्यमानात्तस्मान्मल निर्गच्छति। तच्च व्यानवायुना प्रेरितं सिरामार्गैर्नयनयोरागत्य नेत्रविट्त्वक्षु स्नेहश्च भवति।।

भाव प्रकाश पूर्व 3/181

(मज्जाग्नि) से पाक होने पर जो मल निकलता है वह व्यान वायु से प्रेरित हो सिराओं के मार्ग से आकर नेत्र का मल और त्वचा के ऊपर स्नेह के रूप में एकत्रित हो जाता है। इन स्थानों के मल स्नेह के समान होते (त्वग्वसा–sebum) हैं, अतः मज्जा के मलों में इनकी गणना होती है।

★ ★ ★

8

शुक्र धातु

शुक्र की उत्पत्ति–

अस्थ्नो मज्जा ततः शुक्रं प्रजायते।।

च० चि० 15/15, अ. हृ. शा. 3/62

मज्जा से शुक्र की उत्पत्ति होती है।

मज्जः शुक्रं तु जायते।। मज्जा से शुक्र उत्पन्न होता है।

सु० सू० 14/11

मज्जा में उपस्थित शुक्र सधर्मी अंश पर शुक्राग्नि की क्रिया से प्राप्त प्रसादांश से शुक्र धातु की उत्पत्ति होती है।

तस्मान्मज्ज्ञस्तु यः स्नेहः शुक्रं संजायते ततः।
वाय्वाकाशादिभिर्भावैः शौषिर्यं जायतेऽस्थिषु।
तेन स्रवति तच्छुक्रं नवात्कुम्भादिवोदकम्। च० चि० 15/31, 32

मज्जा के स्नेह से शुक्र की उत्पत्ति होती है। वायु तथा आकाश के द्वारा अस्थियां शुषिर (छिद्रमय) हो जाती हैं। छिद्रों द्वारा शुक्र की स्रुति होती है। जैसे मिट्टी के नये जल से भरे घड़े से (उसके सूक्ष्म) छिद्रों द्वारा जल निकलता है उसी प्रकार शुक्र की स्रुति होती है।

शुक्र का शरीर में स्थान–

शरीर में अन्य धातुओं की उत्पत्ति के साथ ही साथ शुक्र धातु की भी उत्पत्ति होती है। यद्यपि बाल्यावस्था में भी शुक्र समस्त शरीर में उपस्थित रहता है परन्तु उसका कार्य दृष्टिगोचर नहीं होता है।

यथा मुकुलपुष्पस्य सुगन्धो नोपलभ्यते।
लभ्यते तद्विकाशात्तु तथा शुक्रं हि देहिनाम्।। च० चि० 2(4)/38

जैसे पुष्प की कली से सुगन्ध नहीं आती है परन्तु जब वह कली खिल जाती है तो सुगन्ध आने लगती है इसी प्रकार शरीर में शुक्र की स्थिति है। कारण में कार्य सदा अव्यक्त रूप से रहता है। कली में भी सुगन्ध अव्यक्त रूप से रहती है परन्तु कली के परिपक्व होने पर पुष्प रूप में खिलने से वह सुगन्ध प्रकट हो जाती है। इसी प्रकार बालकों में भी शुक्र अव्यक्त रूप में रहता है और युवावस्था प्राप्त होने पर उसकी क्रियायें प्रकट होती हैं।

यथा पुष्प की कली के लिए यह नहीं कहा जा सकता कि उसमें गंध नहीं है वरन् उसमें गन्ध होती है क्योंकि वस्तुतः होने वाले पदार्थों का ही प्रादुर्भाव होता है। कली में गन्ध अत्यन्त सूक्ष्म रूप से होने के कारण व्यक्त नहीं होती है। कुछ काल व्यतीत हो जाने पर जब कली खिलती है तब गन्ध भी प्रकट होती है। इसी प्रकार बालक की अवस्था बढ़ने पर शुक्र और विशेष स्थानो पर रोमराजी आदि उत्पन्न हो जाते हैं एवं स्त्रियों में आर्तव का प्रादुर्भाव तथा शनैः शनैः स्तन, गर्भाशय, योनि आदि की वृद्धि होने लगती है। (सु० सू० 14/19)

चरक तथा सुश्रुत संहिताओं के शुक्र के सम्बन्ध में उपरोक्त वर्णन को दृष्टि में रखते हुए आधुनिक मत से शुक्रधातु को जनक प्रेरक हॉर्मोन 'gonodotropic harmatozoa' कह सकते हैं। (जनक प्रेरक हॉर्मोन के विषय में 'अभिनव शरीर क्रिया विज्ञान' की पुस्तकों में देखें) ये हॉर्मोन शरीर में यद्यपि बाल्यावस्था में भी उपस्थित रहते हैं परन्तु उनकी क्रियाशीलता यौवनावस्था आने पर ही (1) शुक्राणु [Spermatozoa} की उत्पत्ति, (2) स्थानविशेषों पर रोमराजी की उत्पत्ति, (3) स्वर में गम्भीरता, (4) डिम्ब की परिपक्वता तथा क्षरण, (5) आर्तव का प्रारम्भ, (6) गर्भाशय की पुष्टि, (7) स्त्रियों में स्तनों की वृद्धि, [8] समय पर स्तन्य की उत्पत्ति आदि के रूप में प्रकट होती है। वृद्धावस्था में इनकी क्रियाशीलता क्षीण होती चली जाती है। ये हॉर्मोन रक्त के साथ समस्त शरीर में संचरित होते रहते हैं।

रस इक्षौ यथा दध्नि सर्पिस्तैलं तिले यथा।

सर्वत्रानुगते देहं शुक्रं संस्पर्शने तथा।। च० चि० 2(4)/45

जिस प्रकार ईख में रस, दही में घृत, तिलों में तैल सर्वत्र व्याप्त होता है उसी प्रकार शरीर के स्पर्श ज्ञान युक्त समस्त भागों में शुक्र व्याप्त रहता है। स्पर्श ज्ञान रहित स्थल नखाग्र, केश, मल, मूत्र आदि में रक्तसंचार नहीं होता है। अतः शुक्र का भी अभाव रहता है।

सप्तमी शुक्रधरा नाम; या सर्वप्राणिनां सर्वशरीरव्यापिनी।।

यथा पयसि सर्पिस्तु गूढश्चेक्षौ रसो यथा।।

शरीरेषु तथा शुक्रं नृणां विद्याद्भिषग्वरः।।

सू० शा० 4/19, 20

सातवीं शुक्रधरा नामक कला होती है जो समस्त प्राणियों के समस्त शरीर में व्याप्त रहती है।

चिकित्सक को जानना चाहिए कि जिस प्रकार समस्त दूध में घी, ईख के

रस में गुड़ व्याप्त होता है उसी प्रकार मनुष्यों के समस्त शरीर में शुक्र व्याप्त रहता है।

शुक्र अन्तिम धातु–

शुक्र को सातों धातुओं में अन्तिम तथा श्रेष्ठ माना है। इसका एक कारण है कि प्रकृति अपनी रचना से इस सृष्टि को बनाये रखना चाहती है। इस नाशवान् जगत् में ऐसा उसी समय सम्भव है जबकि नाश के साथ ही साथ उत्पत्ति क्रम भी चलता रहे। अतः अन्य जीवधारियों एवं पादपों [plants] के समान मनुष्य भी इस उद्देश्य की पूर्ति में सहायक होता है। सन्तानोत्पत्ति की इच्छा एवं दक्षता वह प्रकृति से ही प्राप्त कर लेता है तथा इस उद्देश्य की पूर्ति केवल शुक्र धातु से होती है। इस अन्तिम उद्देश्य के पश्चात् अन्य कोई सांसारिक कार्य शेष नहीं रह जाता है इसलिए शुक्र को अन्तिम धातु तथा सर्वश्रेष्ठ धातु, जिसमें न तो कोई मल है और न किसी उपधातु की उत्पत्ति है, कहा गया है।

सन्तानोत्पत्ति का स्त्रियों में डिम्ब तथा पुरुषों में शुक्राणु साधन हैं। शुक्राणुओं को डिम्ब तक पहुचना पड़ता है इसके लिए काफी मार्ग तय करना होता है अतः उन्हें एक तरल माध्यम की आवश्यकता होती है, जिसकी पूर्ति वीर्य [semen] के तरलांश से हो जाती है। जैसा हम कह आये हैं डिम्ब तथा शुक्राणुओं की उत्पत्ति में जनन प्रेरक हॉर्मोन स्त्रियों एवं पुरुषों दोनों में होते हैं। अतः ये शुक्र धातु के रूप में स्त्री तथा पुरुष दोनों में उपस्थित रहकर न केवल डिम्ब एवं शुक्राणुओं की उत्पत्ति में कारण होते हैं वरन् समस्त शरीर में यौवनारम्भ के लक्षण भी उत्पन्न करते हैं। इसलिए शुक्र को समस्त शरीर में व्याप्त अन्तिम धातु कहा गया है।

शुक्र के कार्य–

शुक्र धातु धैर्य, च्युति, प्रीति, शरीर में बल, हर्ष तथा सन्तानोत्पत्ति के योग्य बीज (डिम्ब एवं शुक्राणुओं) की उत्पत्ति करता है। अतः शुक्र धातु गर्भ की उत्पत्ति करती है।

शुक्राद्गर्भः प्रजायते।। च० चि० 15/15, अ० हृ० शा० 3/62

शुक्रं धैर्यं च्यवनं प्रीतिं देहबलं हर्षं बीजार्थं च (करोति)।।

सु० सू० 15/6

शरीर में शुक्र का परिमाण–

शुक्रास्यार्धाञ्जलिः प्रमाणम्।। च० शा० 7/16

शरीर में शुक्र का परिमाण आधी अञ्जलि होता है।

शुक्रसार पुरुष के लक्षण–

सौम्या सौम्यप्रेक्षिणश्च क्षीरपूर्णलोचना इव प्रहर्षबहुलाः स्निग्धवृत्तसारसमसंहतशिखरिदशनाः प्रसन्नस्निग्धवर्णस्वरा भ्राजिष्णवो महास्फिचश्च शुक्रसाराः।

ते स्त्रीप्रियाः प्रियोपभोगा बलवन्तः सुखैश्वर्यारोग्यवित्तसम्मानापत्यभाजश्च भवन्ति।। च० वि० 8/119

शुक्रसार व्यक्ति सौम्य तथा सौम्यदृष्टि (कोमल दृष्टि) वाले होते हैं नेत्र दूध से भरे हुए (शुभ्र) होते हैं, सदा प्रसन्न मन वाले अथवा बहुत काम वेग वाले होते हैं। दांत स्निग्ध, गोल, दृढ़, परस्पर एक दूसरे से मिले हुए तथा उन्नत होते हैं। वर्ण और स्वर निर्मल तथा स्निग्ध होता है। ऐसे व्यक्ति कान्तिमान् एवं भारी नितम्बों वाले होते हैं।

शुक्रसार पुरुष स्त्रियों के प्रिय तथा स्त्रियां पुरुषों की प्रिय, सुख ऐश्वर्यवान्, आरोग्य, धन, सम्मान तथा सन्तानवान् होते हैं।

स्निग्धसंहतश्वेतास्थिदन्तनखबहलकामप्रजं शुक्रेण।।

सु० सू० 35/17

शुक्रसार व्यक्ति स्निग्ध, संहत (घनं) शरीर वाले, स्वेत अस्थि, दन्त और नख वाले तथा प्रबल कामशक्तियुक्त होते हैं।

शुक्र (Semen)

अब हम केवल पुरुषों में उपस्थित शुक्र (semen) का वर्णन करते हैं। शुक्राणुओं की कार्यशीलता एवं जीवन के लिए जिस माध्यम की आवश्यकता होती है उसे शुक्र, वीर्य या रेतस कहते हैं।

विशुद्ध शुक्र के लक्षण–

स्निग्ध घनं पिच्छिलं च मधुरं चाविदाहि च।

रेतः शुद्धं विजानीयाच्छ्वेतं स्फटिकसन्निभम्।। च० चि० 30/144

शुद्ध शुक्र स्निग्ध, घन, पिच्छिल, मधुर, अविदाही तथा स्फटिक के समान श्वेत होता है।

बहलं मधुरं स्निग्धमविस्त्रं गुरु पिच्छिलम्।

शुक्लं बहु च यच्छुक्रं फलवत्तदसंशयम्।। च० चि० 2(4)/49

फलवत् (सन्तानोत्पादक) शुक्र बहल (घना), मधुर, स्निग्ध, अविस्र, गुरु, पिच्छिल, श्वेत वर्ण का तथा मात्रा में अधिक आदि लक्षणों से युक्त होता है।

स्फटिकाभं द्रवं स्निग्धं मधुरं मधुगन्धि च।
शुक्रमिच्छन्ति केचित्तु तैलक्षौद्रनिभं तथा।। सु० शा० 2/11

विशुद्ध शुक्र स्फटिक के समान आभा वाला (श्वेत), स्निग्ध, मधुर, मधु के समान गन्ध वाला द्रव होता है तथा कुछ आचार्य तैल के समान पतले अथवा मधु के समान गाढ़े वर्ण वाले शुक्र को भी शुद्ध समझते हैं।

शुक्रं शुक्लं गुरु स्निग्धं मधुरं बहलं बहु।
घृतमाक्षिकतैलाभं सद्गर्भाय।। अ० हृ० शा० 1/17

विशुद्ध शुक्र श्वेत, गुरु, स्निग्ध, मधुर, बहल (गाढ़ा), मात्रा में अधिक, घृत, मधु अथवा तैल के वर्ण का होता है। ऐसा शुक्र गर्भ धारण करने वाला होता है।

मासेन रसः शुक्रीभवति स्त्रीणां चार्तवम्।। सु० सू० 14/15

एक मास में रस से पुरुषों में शुक्र की उत्पत्ति होती है तथा स्त्रियों में आर्तव की उत्पत्ति होती है। सुश्रुत के इस वचन पर टीका करते हुए चक्रपाणिदत्त ने कहा है कि– **स्त्रीणां शुक्रं न गर्भाय भवेद् गर्भाय चार्तवम्।।** अर्थात् स्त्रियों में शुक्र होता है परन्तु उसमें गर्भ की स्थापना नहीं होती है। गर्भोत्पत्ति तो आर्तव के द्वारा होती है। यह दृष्टिकोण आधुनिक विज्ञानसम्मत नहीं है। आर्तव गर्भ उत्पत्ति का कारण नहीं है। स्त्रियों में वीर्य (Semen) नहीं होता है। परन्तु शुक्र धातु होती है और गर्भ उत्पत्ति का कारण भी है। आर्तव का स्रवण गर्भ की स्थापना नहीं होने का सूचक होता है। आर्तव स्रवण से पूर्व गर्भाशय में गर्भ स्थापना हेतु परिवर्तन होता है, वह आर्तव स्रवण द्वारा समाप्त हो जाता है।

शुक्रक्षय के लक्षण–

शरीर में शुक्र की क्षीणता होने पर वृषणों एवं शिश्न में वेदना होने लगती है। शुक्र का देर से स्खलन होना, शुक्र के साथ रक्त तक का आ जाना, मैथुन में दुर्बलता होना, मुख का शुष्क होना, क्लीवता एवं अरक्तता आदि क्षीण शुक्र के लक्षण हैं।

दौर्बल्यं मुखशोषश्च पाण्डुत्वं सदनं श्रमः।
क्लैव्यं शुक्राविसर्गश्च क्षीणशुक्रस्य लक्षणम्।। च० सू० 17/68

शुक्रक्षये मेढ्रवृषणवेदनाऽशक्तिर्मैथुने चिराद्वा प्रसेकः प्रसेके चाल्परक्तशुक्रदर्शनम्।। सु० सू० 15/10

शुक्रं चिरात् प्रसिच्येत् शुक्रं शोणितमेव वा।
तोदोऽत्यर्थं वृषणयोर्मेढ्रं धूमायतीव च।। अ० हृ० सू० 11/20

शुक्रवृद्धि के लक्षण—

शुक्र की अतिवृद्धि पर स्त्री संग की अधिक इच्छा, शुक्र का अधिक मात्रा में स्खलन तथा शुक्राश्मरी की सम्भावना बढ़ जाती है।

शुक्रं शुक्रश्मरीमतिप्रादुर्भावं च। सु० सू० 15/15
अतिस्त्रीकामतां वृद्धं शुक्राश्मरीमपि।। अ० हृ० सू० 11/12

शुक्रवह स्रोत—

शुक्रवहानां स्रोतसां वृषणौ मूलं शेफश्च।। च० वि० 5/9

शुक्रवह स्रोतों का मूल वृषण तथा शेफ (मूत्रेन्द्रिय) हैं। शुक्रवाहिनियों का प्रारम्भ वृषण से तथा अन्त मूत्रेन्द्रिय में होता है।

शुक्रवहे द्वे, तयोर्मूलं स्तनौ वृषणौ च।
तत्र विद्धस्य क्लीवता चिरात् प्रसेको रक्तशुक्रता च।।

सु० शू० 9/21

शुक्रवह दो होते हैं उनका मूल दोनों स्तन तथा वृषण हैं। वहां पर बेध होने से क्लीवता शुक्र का देर से स्खलन तथा रक्तयुक्त शुक्र का स्खलन होता है।

शुक्रवह प्रणाली का स्तनों से कोई सस्बन्ध नहीं होता है। परन्तु जननग्रन्थि प्रेरक हार्मोनों (gonadotrophic hormones) में लूटीनप्रेरक हार्मोन (luteotropnic hormone) दुग्ध उत्पत्ति को प्रारम्भ करनेवाला है। शुक्र धातु के कार्यक्षेत्र में स्त्रियों में स्तन तथा डिम्बग्रंथि तथा पुरुषों में वृषण होते हैं।

शुक्रवह स्रोत की दुष्टि का कारण—

अकालयोनिगमनान्निग्रहादतिमैथुनात्।
शुक्रवाहीनि दुष्यन्ति शस्त्रक्षाराग्निभिस्तथा।। च० वि० 5/24

असमय मैथुन करने से अथवा अयोनि या निषिद्ध योनि आदि से मैथुन करने से, शुक्र के वेग को रोकने से, अत्यधिक मैथुन करने से, शल्य कर्म, क्षार कर्म अथवा अग्नि कर्म से शुक्रवाही स्रोत दुष्ट हो जाते हैं।

शुक्र दूषित होने के कारण–

अति मैथुन, अकाल मैथुन, अयोनि मैथुन, मैथुन में स्त्रियों को हर्ष प्राप्त न करा सकना, मैथुन के समय प्रणय अथवा विश्वास का अभाव होना, सर्वथा मैथुन त्याग, असमय शुक्रस्राव होना आदि शुक्र के दूषित होने के कारण हैं।

असात्म्य सेवन, रूक्ष, तिक्त, कषाय, अतिलवणयुक्त, अति उष्ण पदार्थों का अति सेवन शुक्र को दूषित करता है।

चिन्ता, शोक, क्रोध, भय आदि की अधिकता, शस्त्रकर्म, क्षार अथवा अग्नि कर्म का अनुचित प्रयोग करना। व्याधि के कारण कृशता, अतिसार, वेगावरोध (मल, मूत्र, शुक्र आदि वेगों को रोकना), क्षत होना एवं रसादि धातुओं का दूषित होना तथा वृद्धावस्था के कारण शुक्र दूषित हो जाता है।

उपरोक्त कारणों से वात, पित्त तथा कफ दोष पृथक्–पृथक् अथवा समस्त मिलकर शुक्रवहा सिराओं में पहुंच शुक्र को दूषित करते हैं।

च० चि० 30/133-37

दूषित शुक्र के लक्षण–

फेनिलं तनु रूक्षं च विवर्णं पूति पिच्छिलम्।

अन्यधातूपसंसृष्टमवसादि तथाष्टमम्।।

शुक्र में आठ दोष पाये जाते हैं– 1.फेनिल [झागदार], 2. तनु [पतला], 3. रूक्ष [अस्निग्ध], 4. विवर्ण [स्वाभाविक वर्ण का न रहना], 5. पूति [दुर्गन्धमय] 6. पिच्छिल [अधिक चिपचिपा हो जाना], 7. अन्य धातु संसृष्ट [अन्य धातुओं से मिश्रित हो जाना] तथा 8. अवसादी [स्खलन के समय अत्यन्त कष्ट का अनुभव करानेवाला अथवा जल के नीचे बैठ जानेवाला]।

सुश्रुत संहिता ने शुक्र के दोषों का वर्णन इस प्रकार किया है–

वातपित्तश्लेष्मशोणितकुणपग्रन्थिपूतिपूयक्षीणमूत्रपुरीषरेतसः प्रजोत्पादने न समर्था भवन्ति।। सु० शा० 2/2

1. वात के वर्ण तथा लक्षणों का, 2. पित्त के वर्ण तथा लक्षणों का, 3. कफ के वर्ण तथा लक्षणों का, 4. रक्त के वर्ण तथा लक्षणों का, 5. शवगन्धी, 6. कफ दूषित, 7. वात कफ दूषित, 8. गांठदार, 9. दुर्गन्धमय, 10. पूययुक्त, 11. क्षीण एवं 12. मूत्र और पुरीष की गन्धयुक्त होना। इस प्रकार के शुक्र वाला पुरुष सन्तान उत्पत्ति में असमर्थ होता है।

वातदूषित शुक्र के लक्षण–

फेनिलं तनु रूक्षं च कृच्छ्रेणाल्पं च मारुतात्।
भवत्युपहतं शुक्रं न तद्गर्भाय कल्पते।। च० चि० 30/139

वात से दूषित शुक्र 1. फेनिल, 2. तनु तथा 3. रूक्ष होता है। यह कष्ट से अल्प मात्रा में प्रवृत्त होता है। यह शुक्र गर्भोपादन में समर्थ नहीं होता है।

वातवर्णवेदनं वातेन (शुक्रं भवति)।। च० चि० 30/139

वात दूषित शुक्र वात के वर्ण तथा लक्षणों से युक्त होता है।

पित्तदूषित शुक्र के लक्षण–

सनीलमथवा पीतमत्युष्णं पूतिगन्धि च।
दहल्लिङ्गं विनिर्याति शुक्रं पित्तेन दूषितम्।। च० चि० 30/140

पित्त से दूषित शुक्र (4) नीले अथवा पीले वर्ण का अर्थात् विवर्ण तथा अत्यन्त उष्ण और (5) दुर्गन्धित होता है। प्रवृत्ति के समय यह मार्ग में दाह उत्पन्न करता है।

पित्तवर्णवेदनं पित्तेन (शुक्रं भवति)।। सु० शा० 2/3

पित्तदूषित शुक्र पित्त के वर्ण तथा लक्षणों ये युक्त होता है।

कफदूषित शुक्र के लक्षण–

श्लेष्मणा बद्धमार्गं तु भवत्यत्यर्थपिच्छिलम्।। च० चि० 30/141

कफ द्वारा शुक्र के मार्ग का अवरोध हो जाने के कारण कफ दूषित शुक्र अत्यधिक (6) पिच्छिल हो जाता है।

श्लेष्मवर्णवेदनं श्लेष्मणा (शुक्रं भवति)।। सु० शा० 2/3

कफदूषित शुक्र कफ के वर्ण तथा लक्षणों से युक्त होता है।

रक्तदूषित शुक्र के लक्षण–

स्त्रीणामत्यर्थं गमनादभिघातात्क्षतादपि।
शुक्रं प्रवर्तते जन्तोः प्रायेण रुधिरान्वयम्।। च० चि० 30/141

अत्यधिक मैथुन, अभिघात, क्षय आदि से प्राणियों में (7) रक्त मिश्रित (अन्य धातु से संसृष्ट) शुक्र की प्रवृत्ति होती है।

शोणितवर्णवेदनं कुणपगन्ध्यनल्पं च रक्तेन शुक्रं भवति।।

सु० शा० 2/3

रक्तदूषितशुक्र रक्त के वर्ण तथा लक्षणों का, शवगन्धी और मात्रा में अल्प होता है।

वातकफदूषित शुक्र के लक्षण—

वेगसन्धारणाच्छुक्रं वायुना विहतं पथि।
कृच्छ्रेण याति ग्रथितमवसादि तथाऽष्टमम्।।

च० चि० 30/143

स्खलन के वेग को रोकने से वात द्वारा मार्ग में रोका गया शुक्र गांठदार हो जाता है तथा बड़े कष्ट से निकलता है यह शुक्र (8) अवसादी होता है इस कारण प्रवृत्ति के समय कष्ट होता है।

ग्रन्थिभूतं श्लेष्मवाताभ्यां (शुक्रं भवति)।। सु० शा० 2/4

कफ तथा वात दोनों से दूषित शुक्र गांठदार होता है।

पित्तकफदूषित शुक्र के लक्षण—

पूतिपूयनिभं पित्तश्लेष्मभ्यां (शुक्रं भवति)।। सु. शा० 2/3

पित्त तथा कफ दोनों से दूषित शुक्र दुर्गन्ध तथा पूय से युक्त होता है।

वातपित्तदूषित शुक्र के लक्षण—

क्षीणं प्रागुक्तं पित्तमारुताभ्याम् (शुक्रं भवति)।। सु० शा० 2/3

पित्त तथा वात से दूषित शुक्र वात एवं पित्त के वर्ण तथा लक्षणों से युक्त होने के अतिरिक्त क्षीण (अल्प) होता है।

सन्निपातदूषित शुक्र के लक्षण—

मूत्रपूरीषगन्धि सन्निपातेन (शुक्रं भवति)। सु० शा० 2/3

सन्निपात (तीनों दोषों से) दूषित शुक्र मूत्र और पुरीष की गन्ध वाला होता है।

दूषित शुक्र की चिकित्सा—

तेषु कुणपग्रंथिपूतिपूयक्षीणरेतसः कृच्छ्रसाध्या मूत्रपुरीषरेतसस्त्व-साध्याः (साध्यमन्यच्च) इति।।

दूषित शुक्रवाले पुरुषों में शवगन्धी, गांठदार, दुर्गन्धित, पूयदार तथा क्षीण शुक्र के लक्षण कृच्छ्रसाध्य, मूत्रपुरीषगन्धी असाध्य तथा शेष साध्य होते हैं।

स्निग्धं वान्तं विरिक्तं च निरूढ़मनुवासितम्।

योजयेच्छुक्रदोषार्त्तं सम्यगुत्तरबस्तिना।। सु० शा० 2/10

स्नेह, वमन, विरेचन, निरूह वस्ति (आस्थापन वस्ति–रूक्षता लाने वाले पदार्थों के क्वाथ लवण, तैल आदि मिलाकर गुदा मार्ग से दी जाने वाली वस्ति) तथा अनुवासन वस्ति (स्निग्ध पदार्थों की गुदा मार्ग से दी जाने वाली वस्ति) से भलीभांति विशोधित कर शुक्र दोष पीड़ित व्यक्ति को उत्तरवस्ति (मूत्र मार्ग से प्रयोग की जानेवाली वस्ति) देकर चिकित्सा करनी चाहिए।

★ ★ ★

9

ओज

ओज शरीर का व्याधिक्षमत्व बल है। व्याधिक्षमत्व बल को प्रदान करने वाले 'ओज' संज्ञा वाले ये तत्व रक्त के साथ समस्त शरीर में परिसंचरित होते रहते हैं।

ओज की उत्पत्ति–

प्रथमं जायते ह्योजः शरीरेऽस्मिन् शरीरिणाम्।।

च० सू० 17/74 (1)

शरीरधारियों में सबसे पहिले ओज की उत्पत्ति होती है।

भ्रमरैः फलपुष्पेभ्यो यथा संह्रियते मधु।

तद्वदोजः शरीरेभ्यो गुणैः संभ्रियते नृणाम्।। च० सू० 17/74(2)

जिस प्रकार भौरे फल तथा पुष्पों के मधु–एकत्रित करते हैं उसी प्रकार ओज के समान शरीर में स्थित गुण अपने समान गुणों से, ओज एकत्रित करते हैं।

रसादीनां शुक्रान्तानां धातूनां यत् परं तेजस्तत् खल्वोजस्तदेव बलमित्युच्यते, स्वशास्त्रसिद्धान्तात्। सु० सू० 15/20

रस से शुक्र पर्यन्त सातों धातुओं के उत्कृष्ट सारभूत अंश को ओज कहते हैं और इसी ओज को हम अपने शास्त्र 'चिकित्सा शास्त्र' के सिद्धान्तानुसार बल भी कहते हैं।

ओजस्तु तेजो धातूनां शुक्रांतानां परं स्मृतम्। अ० हृ० सू० 11/17

रस के शुक्र पर्यन्त सातों धातुओं का परम शुद्ध तेज ओज होता है।

सर्वधातूनां स्नेहमोजः, क्षीरे घृतमिव तदेव बलमिति।

भा० प्र० 503/281

जिस प्रकार दूध का स्नेह घृत है उसी प्रकार समस्त धातुओं का स्नेह (उत्कृष्ट अंश) ओज है। वही ओज शरीर का बल है।

ओज का पोषण–

ओज का पोषण अन्य धातुओं के समान अन्नरस से होता है।

पुष्यन्ति त्वाहाररसात् रसरुधिरमांसमेदोस्थिमज्जशुक्रौजांसि।।

च० सू० 28/3

आहार के प्रसादांश रस से शुक्र पर्यन्त सातों धातुयें तथा ओज पुष्ट होता है अर्थात् ओज का पोषण एवं क्षयपूर्ति धातुओं के समान, अन्न रस से होती है।

ओज का स्थान तथा वर्ण–

तत् परस्यौजसः स्थानं तत्र चैतन्यसंग्रहः।
हृदयं महदर्थश्च तस्मादुक्तं चिकित्सकैः।।
तेन मूलेन महता महामूला मता दश।
ओजोवहा शरीरेऽस्मिन् विधम्यन्ते समन्ततः।। च० सू० 30/6,7

(जिस हृदय पर आयु आश्रित है) वह हृदय उत्कृष्ट ओज का भी स्थान है। वही हृदय चेतना का संग्रह स्थान भी है। ओज का स्थान होने के कारण, चिकित्सक हृदय को महत् और चेतना का आश्रय स्थान होने के कारण 'अर्थ' कहते हैं।

इसी कारण हृदय से प्रारम्भ होने वाली दस धमनियां महामूला (महत् है मूल जनिका) कहलाती हैं। ये धमनियां ओजोवहा हैं। इनके द्वारा शरीर में चारों ओर हृदय से ओज का धमन किया जाता रहता है, अर्थात् ओज रक्त द्वारा समस्त शरीर में संचरित होता रहता है।

हृदि तिष्ठति यत्शुद्धं रक्तमीषत्सपीतकम्।
ओजः शरीरे संख्यातं, तन्नाशान्ना विनश्यति।। च० सू० 17/73

कुछ लालिमा तथा पीलापन लिए हुए जो श्वेत पदार्थ हृदय में रहता है उसे ओज कहते हैं। इस ओज के नाश से शरीर का भी विनाश हो जाता है।

सर्पिवर्णं मधुरसं लाजगन्धि प्रजायते।। च० सू० 17/74(1)

ओज घृत के वर्ण का, मधुर रसयुक्त तथा लाजा के समान गन्धवाला होता है।

ओज के गुण–

चरक संहिता में ओज के दस गुणों का वर्णन करते हुए कहा है ओज के इन दस गुणों से विपरीत दस गुण मद्य में होते हैं। मद्य के सेवन से शरीर में मद्य के गुणों का बाहुल्य हो जाता है तथा ओज के गुणों का नाश हो जाता है। मद्य के द्वारा इस प्रकार ओज का नाश होने से ओज पर आश्रित सत्वसंज्ञक मन में क्षोभ होता है, जिससे उसे कर्त्तव्याकर्त्तव्य का ज्ञान नहीं रहता है। चरक संहिता के अनुसार ओज के गुण हैं–

गुरु शीतं मृदु श्लक्ष्णं बहलं मधुरं स्थिरम्।
प्रसन्नं पिच्छिलं स्निग्धमोजो दशगुणं स्मृतम्।। च० चि० 24/30

ओज दस गुणों से युक्त होता है— 1. गुरु, 2. शीत, 3. मृदु, 4. श्लक्ष्ण, 5. बहल (घना), 6. मधुर, 7. स्थिर, 8. प्रसन्न (निर्मल), 9. पिच्छिल एवं 10. स्निग्ध। सुश्रुतसंहिता में ओज के गुणों का वर्णन इस प्रकार है—

ओजः सोमात्मकं स्निग्धं शुक्लं शीतं स्थिरं सरम्।

विविक्तं मृदु मृत्स्नं च प्राणायतनमुत्तमम्।।

देहः सावयवस्तेन व्याप्तो भवति देहिनाम्।

तदभावाच्च शीर्यन्ते शरीराणि शरीरिणाम्।। सु० सू० 15/21,22

ओज गुणों में 1. सौम्य, 2. स्निग्ध, 3. श्वेत, 4. शीत (शीत वीर्य), 5. शरीर स्थैर्यकारक, 6. प्रसरणशील, 7. विविक्त (निर्मल आदि श्रेष्ठ गुणों से युक्त), 8. कोमल, 9. पिच्छिल तथा 10. प्राणों का श्रेष्ठ आधार है।

शरीर का प्रत्येक अवयव इस ओज से व्यापक रहता है तथा इसके अभाव में शरीर नष्ट हो जाता है।

ओज के कार्य—

ओज से तृप्त होकर ही तो समस्त जीव जीवित रहते हैं। इसके बिना प्राणियों का जीवन नहीं रह सकता। यह गर्भ रस से उत्पन्न होता है अतः गर्भ आदि सार है। शरीर में संचरित होने से पूर्व यह हृदय में प्रवेश करता है तथा यह (हृदय में) आश्रित हो जीवन को धारण करता है। इसके नष्ट होने से जीवन नष्ट हो जाता है अतः इसी में प्राण प्रतिष्ठित रहते हैं अर्थात् इसी से देह स्थिर रहती है तथा देह में आश्रित सम्पूर्ण भाव उत्पन्न होते हैं।

येनौजसा वर्तयन्ति प्रीणिताः सर्वजन्तवः।

यदृते सर्वभूतानां जीवितं नावतिष्ठते।।

यत् सारमादौ गर्भस्य यत् तद् गर्भरसाद्रसः।

संवर्त्तमानं हृदयं समाविशति यत् पुरा।

यस्य नाशात् तु नाशोऽस्ति धारि यद् हृदयाश्रितम्।

च० सू० 30/80

यः शरीररसस्नेहः प्राणा यत्र प्रतिष्ठिताः।

हृदयस्थमपि व्यापि देहस्थितिनिबन्धनम्।।

यन्नाशे नियतं नाशो यस्मिंस्तिष्ठति तिष्ठति।।

निष्पद्यन्ते यतो भावा विविधा देहसंश्रयाः।। अ० हृ० सू० 11/37,38

चिकित्सा शास्त्र में शरीर बल को देखकर ही ओज की कल्पना की जाती है।

क्योंकि ओज ही बल है ऐसा ऊपर हम वर्णन कर आये हैं ओज तथा बल यद्यपि एक नहीं है क्योंकि ओज से बल की उत्पत्ति होती है। अतः ओज कारण है और बल कार्य, तथापि कार्य और कारण में अभेद होने से ओज बल कहलाता है। शरीर में बल के द्वारा सम्पन्न होने वाले कार्यों का ओज ही कारण है। अतः बल द्वारा सम्पन्न कहे जाने वाले कार्य वास्तव में ओज द्वारा ही सम्पन्न होते हैं। यथा–

तत्र बलेन स्थिरोपचितमांसता सर्वचेष्टास्वप्रतिघातः स्वरवर्णप्रसादो बाह्यानामाभ्यन्तराणां च करणानामात्मकार्यप्रतिपत्तिर्भवति।

सु० सू० 15/21

1. बल से मांस की स्थिरता तथा पुष्टि होती है। 2. सब प्रकार की चेष्टाओं के लिए शक्ति प्राप्त होती है। 3. स्वर तथा वर्ण में प्रसन्नता आती है तथा 4. बल से ही बाह्य इन्द्रियां (कर्मेन्द्रियां) तथा आभ्यन्तर इन्द्रियां (ज्ञानेन्द्रियां) अपने–अपने कार्य में प्रवृत्त होती हैं।

ओज का व्याधिक्षमत्व कर्म–

बलं ह्यलं दोषहरं (निग्रहाय दोषाणाम्)।। च० चि० 3/161

बल ही दोषों के निग्रह (नष्ट करने) में समर्थ होता है अर्थात् ओज शरीर के विकारों **को रोकने तथा** नष्ट करने में समर्थ है। यह ओज का प्रधान कार्य है। इसके द्वारा शरीर की अपक्षय, व्यपजनन (degeneration) तथा उपसर्गों से रक्षा होती है।

ओजोशनानां रजनीचरणामाहारहेतोर्न शरीरमिष्टम्।।

च० शा० 2/9

ओज को खाने वाले रजनीचरों (जीवाणुओं) के आहार के लिए शरीर अभीष्ट नहीं है अर्थात् जीवाणुओं का आहार केवल ओज है। ओज के अतिरिक्त वे शरीर को नहीं खाते हैं।

उपरोक्त कथन के अनुसार शरीर को हानि पहुंचाने वाले जीवाणु आदि ओज को नष्ट करने की चेष्टा करते हैं। ओज तथा इन राक्षसों (हानिकारक जीवाणुओं) में संघर्ष होता है यदि जीवाणु प्रबल हैं तो शरीर में ओज का नाश होकर शरीर की व्याधिक्षमत्व शक्ति (power of immunity) नष्ट हो जाती है और शरीर में व्याधि प्रबल हो शरीर को नष्ट कर देती है। यह वर्णन आधुनिक विज्ञानसम्मत है। शरीर में प्रतिजन (antigen रजनीचर) तथा प्रतिकाय (antibody- ओज) में संघर्ष होता है। ओज (antibodies- प्रतिकाय) के इस

कार्य रूपी बल का नाम, व्याधिक्षमत्व' है। ओज शरीर को व्याधिक्षमत्वशक्ति प्रदान करता है। बल सब व्यक्तियों में एक समान नहीं होता है। अतः व्याधिक्षमत्वशक्ति भी एक समान नहीं होती है।

न च सर्वाणि शरीराणि व्याधिक्षमत्वे समर्थानि भवन्ति।।

च० सू० 25/5

सब व्यक्ति व्याधिक्षमत्व में एक समान सामर्थ्यवान् नहीं होते हैं।

कफ के प्रकरण में हम तीन प्रकार के बलों पर विचार कर आये हैं ये है (1) सहज बल, (2) कालज बल तथा (3) युक्तिकृत बल।

(1) सहज बल शरीर का स्वाभाविक शारीरिक तथा मानसिक बल (will power) है। यह प्रत्येक व्यक्ति में अपना होता है। (2) ऋतु काल तथा वय आदि के प्रभाव से शरीर को जो बल प्राप्त होता है वह कालज बल है। यह भी सब व्यक्तियों में एक जैसा नहीं होता है। (3) आहार विहार तथा चेष्टाओं द्वारा उपार्जित बल युक्तिकृत बल है। यह भी सब व्यक्तियों में एक समान नहीं होता है।

उपरोक्त कारणों से प्रत्येक व्यक्ति में व्याधिक्षमत्व सामर्थ्य (रोग प्रतिकार शक्ति) विभिन्न होती है। व्याधि क्षमता में सहज बल का प्रमुख भाग होता है। कालज बल सहज बल का सहायक होता है। जब कभी हानिकारक जीवाणु अथवा अन्य बाह्य हानिकारक पदार्थ शरीर में प्रेवश करते हैं उस दशा में शरीर में उपस्थित अथवा उत्पन्न प्रतिकाय उसे नष्ट करने में पुरा बल लगा देते हैं। शरीर में यह बल दो प्रकार से कार्य करता है– (1) बाह्य प्रकार से तथा (2) आन्तरिक प्रकार से। त्वचा तथा श्लैष्मिक कला (mucous membrane) बाह्य रक्षात्मक पंक्ति है।

त्वचा अपने ऊपर आने वाले जीवाणुओं को नष्ट कर देती हे। स्वेद तथा त्वक्स्नेह ग्रन्थियों (Sebaceous glands) का स्राव इन जीवाणुओं को बहा ले जाता है। स्वेद की अम्लता तथा स्नेह ग्रन्थियों के स्राव में उपस्थित स्नेह यौगिक (lipids) अनेक प्रकार के जीवाणुओं को नष्ट कर देते हैं। यदि त्वचा किसी स्थान पर नष्ट हो जाती है अथवा स्वेद ग्रन्थियां एवं त्वक्स्नेह ग्रन्थियां सम्यक् प्रकार से कार्य नहीं करती हैं तो इन मार्गों में जीवाणु शरीर में प्रवेश कर जाते हैं।

त्वचा के अवत्वक् भाग में उपस्थित तंत्रिकायें भी इस में प्रमुख भाग लेती हैं। यदि इन तंत्रिकाओं की कार्य शक्ति नष्ट हो जाती है अथवा कम हो जाती है

तब उसका प्रभाव त्वचा की पारगम्यता (permeability) पर पड़ता है। त्वचा की पारगम्यता में वृद्धि हो जाती है, परिणामस्वरूप रक्षात्मक क्रियायें क्षीण अथवा समाप्त हो जाती हैं और जीवाणुओं का त्वचा द्वारा प्रवेश सरल हो जाता है।

नेत्रश्लेष्मला (conjunctiva) आन्तर नासिक तथा ग्रसनी श्लेष्मला एवं श्वसनिका, अन्न प्रणाली एवं मूत्रमार्ग में स्थित श्लैष्मिककलाओं की पारगम्यता स्वभावतः बहुत कम होती है अतः अनका भेदन कर जीवाणु तथा अन्य हानिकर पदार्थ श्लेष्मिक कला का भेदन कर अन्दर प्रवेश नहीं कर सकते हैं इन कलाओं के बाह्य पृष्ठ पर खुलने वाली अनेक ग्रन्थियों के स्राव भी जीवाणुओं को नष्ट करने में सहायक होते हैं। श्वसनिका की कोशिकाओं में स्थित पक्ष्माभिका (cilia) भी इन जीवाणुओं को बाहर फैंकने में सहायक हैं। इसी प्रकार अश्रु, थूक तथा लार में लाइसोजाइम (lysozyme) आदि अनेक पदार्थ जीवाणुओं को नष्ट करने की शक्ति रखते हैं। जठर रस (gastric juice) में कॉमावेसिलाई नामक जीवाणु प्रवेश करते ही नष्ट हो जाते हैं तथा रोहिणी (diptheria) के विष का दुष्प्रभाव कम हो जाता है। आन्त्रभित्ति की श्लेष्मिक कला का स्राव भी उन बाइरसों (virus) को नष्ट कर देता है। यदि ये वाइरस शरीर में प्रवेश पा जायें तो तंत्रिकाओं पर आक्रमण कर देते हैं।

यदि जीवाणु इस रक्षा पंक्ति को पार कर किसी प्रकार शरीर में प्रवेश पा जाते हैं तो आभ्यन्तर रक्षा पंक्ति तुरन्त कार्यशील हो जाती है। उस स्थान पर शोथ उत्पन्न कर उसको बढ़ने से रोका जाता है। शोथ स्थान तथा स्वस्थ ऊतकों के मध्य भित्ति बन जाती है और रक्त की श्वेत कोशिकायें शोथयुक्त स्थानों पर एकत्रित हो जीवाणुओं को नष्ट करना प्रारम्भ कर देती हैं। जो जीवाणु ऊतकों में प्रवेश पा जाते हैं वे लसिका ग्रन्थियों में रोक लिए जाते हैं तथा जलीय अन्तः कला कोशिकाओं (reticulo endothelial cells) द्वारा नष्ट कर दिए जाते हैं। ये कोशिकायें लसिका ग्रन्थियों के अतिरिक्त प्लीहा, सरक्त मेद, यकृत् आदि स्थानों पर भी उपस्थित रहती हैं।

रक्त में जीवाणुओं का प्रवेश ही रक्त सीरम में इनके विरोध के लिए कुछ पदार्थ उत्पन्न होने लगते हैं। इन्हें प्रतिकाय [antibody] कहते हैं। इनके संगठन में मुख्य रूप से गामा ग्लोबुलिन नामक प्रोटीन होती है। ये प्रतिकाय जीवाणुओं को नष्ट करने का कार्य करते हैं।

शरीर इस प्रकार बाह्य जीवाणुओं तथा अन्य हानिकर पदार्थों से अपनी

रक्षा करता है। ये रक्षात्मक क्रियायें सहज बल पर आश्रित हैं अतः **इसे सहज व्याधि क्षमता (natural immunity)** कहते हैं।

आहार तथा विहार द्वारा, जिसमें औषध चिकित्सा का भी समावेश मान लें तथा चेष्टाओं द्वारा भी व्याधिक्षमता उत्पन्न की जा सकती है। इसे युक्तिकृत क्षमता अथवा अर्जितक्षमता (acquired immunity) कहते हैं।

चेचक के एक बार निकलने पर साधारणतया वह व्यक्ति सदैव के लिए चेचक के प्रति क्षम्य हो जाता है। उसके शरीर में चेचक के विष को नष्ट करने के लिए पर्याप्त चेचक विष विरोधी प्रतिकाय उत्पन्न हो जाते हैं व्याधियों के विभिन्न जीवाणुओं को पशुओं के, विशेष रूप से घोड़े के, रक्त में प्रवेश कर देते हैं इसके फलस्वरूप उन पशुओं के रक्त में उन जीवाणुओं को नष्ट करने के लिए प्रतिकाय उत्पन्न हो जाते हैं फिर पशुओं के इन प्रतिकाय युक्त रक्त सीरम को व्यक्तियों के शरीर में पहुंचाकर उन व्याधियों के प्रति क्षमत्वबल उत्पन्न करते हैं। यह युक्तिकृत बल है। ओज का प्रमुख कार्य शरीर की व्याधिक्षमत्वशक्ति बनाये रखना है।

ओज का शरीर में परिमाण–

अर्धाञ्जलिः श्लेष्मणश्चौजसः।। च० शा० 7/16

शरीर से श्लैष्मिक ओज का परिमाण अर्ध अञ्जलि होता है।

यह परिमाण श्लैष्मिक ओज का परिमाण अर्ध अञ्जलि होता है।

यह परिमाण श्लैष्मिक (अपर) ओज का है। चरक संहिता में हृदय में आश्रित ओज की संज्ञा 'पर ओज' दी है। (तत्परस्यौजसः च० सू० 30/6) चरक संहिता के टीकाकार चक्रपाणिदत्त ने तन्त्रान्तर मत उल्लेख करते हुए कहा है कि हृदय में प्रधान ओज रहता है। इसे 'पर ओज' कहते हैं। इसका शरीर में परिमाण केवल आठ बूंद है (**प्राणाश्रयस्यौजसोऽष्टौ बिन्दवो हृदयाश्रिता** इति)। तथा धमनियों में संचरित होने वाला अप्रधान ओज 'अपर ओज' है। इसका परिमाण अर्धाञ्जलि है। 'पर ओज' के नष्ट होने से जीवन नष्ट हो जाता है। वह जीवन का आधार है तथा 'अपर' ओज के क्षीण होने से ओज क्षय के लक्षण शरीर में प्रकट हो जाते हैं।

संहिता ग्रन्थों में ओज शब्द श्लेष्मा, रसधातु, रक्तधातु, शरीरोष्मा आदि के लिए भी प्रयुक्त हुआ है, क्योंकि ये सब शरीर को बल प्रदान करते हैं।

सुश्रुत संहिता के सूत्र, **रसादीनां सिद्धान्तात्**।। जिसका वर्णन पीछे किया जा चुका है, पर टीका करते हुए डल्हण ने कहा है कि–

तन्त्रान्तरे तु ओजःशब्देन रसोऽप्युच्यते, जीवशोणितमप्योजःशब्देनामनन्ति केचित्, उष्माणमप्योजःशब्दादपरे वदन्ति।

आयुर्वेद तन्त्र के अतिरिक्त अन्य तन्त्रों में विद्वान् रस को ओज कहते हैं, कुछ अन्य विद्वान् जीवशोणित (रक्त) को ओज कहते हैं तथा कुछ विद्वान् ऊष्मा को ओज कहते हैं।

प्राकृतस्तु बलः श्लेष्मा विकृतो मल उच्यते।
स चैवौजः स्मृतः काये स च पाप्मोपदिश्यते।। च० सू० 17/115

प्राकृत (सम) कफ बल कहाता है तथा विकृत हुआ कफ मल कहलाता है। प्राकृत कफ ही शरीर में ओज है तथा विकृत कफ को रोग कहते हैं।

उपरोक्त कथन में प्राकृत कफ को बल तथा ओज कहा है। श्लेष्मा के समस्त गुण (गुरुशीतमृदुस्निग्धमधुरस्थिरपिच्छिलाः) ओज में भी पाये जाते हैं। अतः इसका आशय है कि ओज कफ के समानधर्मी द्रव्य है। इनकी वृद्धि एक दूसरे को प्रभावित करती है।

तस्मिन्काले पचत्यग्निर्यदन्नं कोष्ठमाश्रितम्।
मलीभवति तत्प्रायः कल्पते किंचिदोजसे।। च० चि० 8/40

राजयक्ष्मा के प्रसंग में कहा गया है कि उस समय (जिस समय राजयक्ष्मा उत्पन्न हो जाता है) खाया पिया, अन्नपान जो कोष्ठ में रहता है और जिसको कोष्ठाग्नि पचाती है, प्राय मल बन जाता है तथा बहुत थोड़ा भाग ही ओज (रस धातु) में परिणत होता है।

इस कथन में ओज को अन्न रस के प्रसादांश के लिए प्रयुक्त किया है क्योंकि अन्न रस से ही समस्त धातुओं के साथ–साथ ओज की उत्पत्ति होती है।

ओजक्षय के कारण–

हृदय, महामूला (ओजवहा), तथा ओज की रक्षा चाहने वाले मनुष्य के मन को दुःख पहुंचाने वाले कारणों का, विशेष रूप से त्याग करना चाहिए क्योंकि मन को कष्ट पहुंचाने वाले कारण ओज का क्षय करते हैं।

वातश्लेष्मक्षये पित्तं देहौजः स्रंसयच्चरेत्।
ग्लानिमिन्द्रियदौर्बल्यं तृष्णां मूर्च्छां क्रियाक्षयम्।। च० सू० 17/60

वात और कफ की क्षीणावस्था में पित्त वृद्धि को प्राप्त होकर शरीर में संचार होता हुआ देह से ओज का क्षरण करता है तथा इस प्रकार ग्लानि, इन्द्रियों की दुर्बलता, तृष्णा, मूर्च्छा तथा क्रियाक्षय (चेष्टा नाश) का कारण होता है अर्थात् पित्तवर्धक आहार–विहार के अतिसेवन से ओज की उत्पत्ति पर विपरीत प्रभाव पड़ता है और इसका क्षय हो जाता है।

अभिघातात्क्षयात्कोपाच्छोकाद् ध्यानाच्छ्रमात् क्षुधः।
ओजः संक्षीयते ह्येभ्यो धातुग्रहणनिःसृतम्।।
तेजः समीरितं तस्माद्विस्रंसयति देहिनः।। सु० सू० 15/24

ओजः क्षीयेत कोपक्षुद्ध्यानशोकश्रमादिभिः।। अ० हृ० सू० 11/39

(1) अभिघात, (2) धातुक्षय, (3) क्रोध, (4) शोक, (5) चिन्ता, (6) सीमा से अधिक परिश्रम तथा (7) अनशन से ओज का क्षय होता है। [इन अवस्थाओं में] हृदय से प्रेरित हुआ ओज धातुवाही स्रोतों द्वारा शरीर से क्षरित हो जाता है तथा मनुष्यों को अपने स्वाभाविक कर्मों से वंचित करता है।

ओज क्षय के लक्षण–

ओज के क्षीण होने से मनुष्य [1] शरीर से दुर्बल एवं कृश हो जाता है, [2] अकारण ही डरता रहता है [भयातुर], [3] निरन्तर चिन्तायुक्त रहता है, [4] इन्द्रियों में कष्ट होता है अर्थात् इन्द्रियों से अपने स्वाभाविक कर्म करने में कठिनाई होती है, [5] शरीर की कान्ति घट जाजी है, [6] मन दुर्बल हो जाता है, सोचने विचारने की क्रियायें ठीक प्रकार से नहीं होती हैं अर्थात् मनःशक्ति [will power] कम हो जाती है, [7] शरीर रूक्ष एवं कृश तथा [8] क्षामस्वरवाला हो जाता है।

बिभेति दुर्बलोऽभीक्ष्णं ध्यायति व्यथितेन्द्रियः।
दुश्छायो दुर्मना रूक्षः क्षामश्चैवौजसः क्षये।। च० सू० 17/72

तस्य विस्रंसो व्यापत् क्षय इति लिंगानि व्यापन्नस्य भवन्ति।
त्रयो दोषा बलस्योक्ता व्यापद्विस्रंसनक्षयाः।। सू० सू० 15/25,26

क्षय प्राप्त ओज के [1] विस्रंसन [2] व्यापत् तथा [3] क्षय, ये तीन लिंग [लक्षण अर्थात् अवस्थायें–stage] अर्थात् दोष होते हैं।

विस्रंसन के लक्षण–

सन्धिविश्लेषो गात्राणां सदनं दोषच्यवनं क्रियाऽसन्निरोधश्च विस्रंसे।।

विश्लेषसादौ गात्राणां दोषविस्रंसनं श्रमः।

अप्राचुर्यं क्रियाणां च बलविस्रंसलक्षणम्।। सु० सू० 15/25, 26

विस्रंसन में [1] सन्धियों में ढीलापन, [2] अंगों में थकान, [3] दोषों [वात आदि दोषों] का अपने–अपने स्थान से भ्रष्ट हो जाना, [4] शारीरिक, मानसिक तथा वाचिक क्रियाओं का ठीक प्रकार से न होना तथा [5] थोड़े परिश्रम से ही थक जाना आदि लक्षण होते हैं।

व्यापत् के लक्षण–

स्तब्धगुरुगात्रता वातशोफो वर्णभेदो ग्लानिस्तन्द्रा निद्रा च व्यापन्ने।

गुरुत्वं स्तब्धताऽङ्गेषु ग्लानिर्वर्णस्य भेदनम्।

तन्द्रा निद्रा वातशोफो बलव्यापदि लक्षणम्।। सु० सू० 15/25,27

व्यापद् में [1] शरीर के अंग में गुरुता [भारीपन] तथा [2] स्तब्धता, [3] वातिक शोफ, [4] वर्ण का अन्यथा भाव हो जाना, [5] ग्लानि, [6] तन्द्रा, [7] निद्रा का अति आना–ये लक्षण होते हैं।

क्षय के लक्षण–

मूर्च्छा मांसक्षयो मोहः प्रलापो मरणमिति च क्षये।

सु० सू० 15/25

मूर्च्छा मांसक्षयो मोहः प्रलापोऽज्ञानमेव च।

पूर्वोक्तानि च लिंगानि मरणं च बलक्षये।। सु० सू० 15/28

क्षय में [1] मूर्च्छा [2] मांस आदि धातुओं का क्षय [3] मोह [4] प्रलाप [5] अज्ञान [क्रियाओं का ज्ञान न होना] [6] विस्रंस तथा व्यापद् के लक्षणों का भी होना तथा [7] मृत्यु– ये लक्षण होते हैं।

ओजक्षय अथवा बलक्षय की उपरोक्त तीन अवस्थायें होती हैं। प्रारम्भ में विस्रंस के लक्षण शरीर में प्रकट होते हैं यदि उस समय उपचार नहीं किया तो व्यापद् के लक्षण तथा इसमें भी ध्यान नहीं दिया गया तो क्षय के लक्षण प्रकट हो जाते हैं तथा रोग साध्य से असाध्य की ओर बढ़ जाता है।

क्षीणओज की चिकित्सा–

तत्र विस्रंसे व्यापन्ने च क्रियाविशेषैरविरुद्धैर्बलमाप्याययेत्, इतरं तु मूढसंज्ञं वर्जयेत्। सु० सू०. 15/19

विस्रंस तथा व्यापद् की अवस्था में ओजोनुकूल विशेष क्रियाओं द्वारा बल को बढ़ाना चाहिए तथा क्षयावस्था के मूढसंज्ञलक्षण वाले व्यक्ति को असाध्य समझकर छोड़ देना चाहिए।

दोषधातुमलक्षीणो बलक्षीणोऽपि वा नरः।
स्वयोनिवर्धनं यत्तदन्नपानं प्रकांक्षति।।
यद्यदाहारजातं तु क्षीणः प्रार्थयते नरः।
तस्य तस्य स लाभे तु तं तं क्षयमपोहति।। सु० सू०15/30, 31

दोषक्षीण धातुक्षीण, मलक्षीण तथा बल (ओज) क्षीण व्यक्ति स्वयोनिवर्धन (उनको बढ़ाने वाले) अन्नपान की इच्छा किया करता है।

ऐसा व्यक्ति जिस आहारादि की इच्छा करता है उसके सेवन से लाभ होता है तथा क्षय का नाश हो जाता है।

हृद्यं यत् स्याद्यदौजस्यं स्त्रोतसां यत् प्रसादनम्।
तत्तत् सेव्यं प्रयत्नेन प्रशमो ज्ञानमेव च।। च० सू० 30/13

हृदय के लिए हितकर, ओजवर्धक तथा स्त्रोतों (ओजोवहों) को प्रसन्न करने वाले आहार–विहार का सेवन तथा शांति और ज्ञान का उपयोग करना चाहिए।

जीवनीयौषधक्षीररसाद्यास्तत्र भेषजम्।
ओजोविवृद्धौ देहस्य तुष्टिपुष्टिबलोदयः।। अ० हृ० सू० 11/41

ओज की क्षीणता में जीवनीयगण औषधों से सिद्ध किये दूध, घृत का सेवन करना चाहिए।

ओज की वृद्धि से मन में प्रसन्नता, देह की पुष्टि, इन्द्रियों में बल तथा पराक्रम आदि गुणों की वृद्धि होती है।

ओज की वृद्धि को क्षीण नहीं करना चाहिए वरन् वृद्धि के लिए सदैव प्रयत्नवान् रहना चाहिए।

★ ★ ★

10
मल

दोष तथा धातुओं के समान मल भी शरीर को बनाये रखने में आवश्यक होते हैं।

दोषधातुमलमूलं हि शरीरम्।। सु० सू० 15/3

·दोष, धातु तथा मल इस शरीर के मूल द्रव्य हैं।

शरीर में अग्नि कर्म (चयापचय क्रियायें जैवरासायनिक क्रियायें) निरन्तर होता रहता है। इन क्रियाओं के फलस्वरूप शरीरोपयोगी द्रव्यों तथा मलों की उत्पत्ति भी निरन्तर होती रहती है। मलों की उत्पत्ति का होना चयापयच क्रिया का स्वाभाविक भाग है।

प्रसादकिट्टे धातूनां पाकादेवंविधर्च्छतः।।

धातुओं का प्रसाद और किट्ट रूप में दो प्रकार से पाक होता है।

परस्परोपसंस्तम्भाद्धातुसाम्यपरम्परा।। च० चि० 15/19

शरीर में प्रसाद (शरीरोपयोगी भाग) तथा मलों के परस्पर एक दूसरे को धारण करने के कारण ही धातु समता की परम्परा चली आती है अर्थात् यदि धातु पाक क्रिया में प्रसादांश की उत्पत्ति के साथ ही मलांश की उत्पत्ति नहीं होगी तो धातु पाक क्रिया में विकृति आ जाएगी जिसके कारण शरीर में धातु समता नहीं रहेगी। धातु पाक द्वारा प्रसादांश एवं मलांश की उत्पत्ति स्वाभाविक है।

इस प्रकार मल, धातुओं के समान ही, शरीर के धारण करने में आवश्यक घटक है। इनको भी धातु संज्ञा से सम्बोधित किया जा सकता है। परन्तु धातु कहने से इनका जो विशेष कार्य 'मलिन करना' है उसका बोध नहीं होता है। इसलिए इन्हें मल संज्ञा से ज्ञात करते हैं। यद्यपि इनकी उत्पत्ति जीवन के लिए आवश्यक है, परन्तु इनका शरीर से निष्कासन भी जीवन के लिए उतना ही आवश्यक है। शरीर में रुककर ये शरीर को मलिन कर देते हैं, जिससे शरीर में नाना प्रकार की व्याधियां उत्पन्न हो जाती हैं।

मलिनीकरणान्मलाः।। जो शरीर को मलिन करें वे मल हैं।

विकृतावस्था में दोष भी शरीर को मलिन [व्याधिग्रस्त] करते हैं। अतः उन्हें भी इस गुण के कारण मल संज्ञा दी जा सकती थी परन्तु मलों के समान दोष शरीर के त्याज्य द्रव्य नही हैं अतः उनको 'मल' संज्ञा से नहीं पुकारते हैं। मलों के समान शरीर को मलिन करना, उनका विशेष गुण नहीं है। उनका

विशिष्ट गुण धातुओं को 'दूषित करना' है जिनके कारण वात–पित्त की संज्ञा दोष है।

इन त्याज्य द्रव्यों के लिए दो शब्दों का प्रयोग होता है– [1] मल तथा [2] किट्ट। इन दोनों शब्दों का प्रयोग सामान्यतः एक ही अर्थ में होता है। इन शब्दों को उन द्रव्यों के लिए प्रयुक्त करते हैं जो शरीर की प्राकृतिक क्रियाओं के फलस्वरूप उत्पन्न होते हैं तथा त्याज्य हैं। किट्ट शब्द की निष्पत्ति 'किट गतौ' धातु से है, इसका अर्थ है गति अथवा गमन अर्थात् जो रुके नहीं अथवा जिसका रुकना श्रेयस्कर न हो। आयुर्वेद में किट्ट को मल के अर्थ में ही व्यवहार में लाते हैं।

शारीर मल एवं उत्पत्ति–

पुरीष एवं मूत्र की उत्पत्ति अन्न से होती है अतः अन्न के मल पुरीष एवं मूत्र हैं। कफ [mucous] की उत्पत्ति रस से होती है अतः रस धातु का मल कफ है। पित्त [bile pignents] की उत्पत्ति रक्त [RBC] से होती है अतः रक्त धातु का मल पित्त है। कान, नाक, मुख आदि छिद्र स्थानों के मलों की उत्पत्ति मांस से होती है अतः मांस धातु के मल कान, नाक, मुख आदि छिद्र के मल हैं। स्वेद की उत्पत्ति मेद से होती है अतः मेद धातु का मल स्वेद है। नख, रोम [लोम] की उत्पत्ति अस्थि से होती है अतः अस्थि धातु के मल नख एवं रोम हैं। [चरक संहिता में नखों की गणना अस्थियों में की है मल में नहीं] नेत्रों से निकलने वाले मल तथा त्वचा के स्नेहांश की उत्पत्ति मज्जा से होती है। यद्यपि अष्टांग हृदय संहिता में ओज को शुक्र का मल कहा है जिसका खण्डन अष्टांग संग्रह में कर दिया गया है।

किट्टमन्नस्य विण्मूत्रं रसस्य तु कफोऽसृजः।
पित्तं मांसस्य खमलो मलः स्वेदस्तु मेदसः।।
स्यात्किट्टं केशलोमाऽस्थ्नो मज्ज्ञः स्नेहोक्षिविट्त्वचाम्।।

च० चि० 15/17,18

विण्मूत्रमाहारमलः।। सु० सू० 46/526

कफः पित्तं मलः खेषु स्वेदः स्यान्नखरोम च।
नेत्रविट्त्वक्षु च स्नेहो धातूनां क्रमशो मलाः।। सु० सू० 46/527

कफः पित्तं मलाः खेषु प्रस्वेदो नखरोम च।
स्नेहोऽक्षित्वग्विशामोजो धातूनां क्रमशो मलाः।।

अ० हृ० शा० 3/63

चरक संहिता में नख की अस्थियों में परिगणना की है। अतः इनकी गणना अस्थि के मलों में नहीं की गई है। वाग्भट्ट ने आष्टांग हृदय में शुक्र का मल ओज कहा है परन्तु अन्य संहिता ग्रन्थों का यह मत नहीं है। अष्टांग संग्रह में शुक्र धातु को अत्यन्त शुद्ध मानते हुए उसमें मल का अभाव कहा है तथा ओज को शुक्र का सार कहा है।

शुक्रस्य सारमोजः अत्यन्तशुद्धतयास्य मलाभावः।

भवप्रकाश में कहा गया है कि–

मुनियों ने कहा है कि अपनी–अपनी अग्नियों से पकते हुए रस से मज्जा तक 6 धातुओं में मल निकलता है परन्तु जिस प्रका हजार बार तपाये हुए सुवर्ण में मल नहीं रहता है उसी प्रकार बार–बार परिपक्व होने से जब रस शुक्रत्व को प्राप्त होता है उसमें मल नहीं रहता है। [भा० प्र० पू० 3/179-180]

शाङ्र्गधर की धातुओं के मलों के सम्बन्ध में अपनी एक विशेष मान्यता है। उनके अनुसार जिह्वा का जल [मुख में उत्पन्न स्राव], नेत्रों का जल [अश्रु] तथा कपोलों का जल [भौतिक स्वेद हो सकता है] रस धातु के मल हैं। रंजक पित्त रक्त धातु का मल है। कानों में उत्पन्न चिकना मैल मांस धातु का मल है। जिह्वा का मल, दांतों का मल, कक्ष [बगल] का मल तथा शिश्न, अण्डकोषादि पर आने वाला मल मेद धातु के मल हैं। नख अस्थि धातु का मल है। नेत्र तथा मुह [चेहरे] की चिकनाई मज्जा धातु के मल हैं। युवावस्था में उत्पन्न मुख पिण्डिकायें [मुहांसे] शुक्र धातु के मल हैं इस क्रम में सातों धातुओं के मल उत्पन्न होते हैं। [शा० पू० 5.13, 14]

श्री शाङ्र्गधाराचार्य ने स्वेद को मेद की उपधातु कहा है मल नहीं, तथा रंजकपित्त से यहां उनका तात्पर्य पित्त वर्णकों [bile pigments] से प्रतीत होता है।

पुरीष

आहार के पाचन के फलस्वरूप उत्पन्न सार अंश का आन्त्र भित्ति द्वारा प्रचूषण हो जाता है तथा शेष भाग वृहत् अन्त्र [पक्वाशय] में पहुंच जाता है। वृहदन्त्र में अधिकांश जल का प्रचूषण हो जाने पर शेष अंश पिण्ड रूप धारण कर लेता है। वृहदन्त्र में जीवाणु रहते हैं जो वहां किण्वन [fermentation] क्रिया में सहायक होते हैं। इन जीवाणुओं द्वारा शेष अंश के द्रव्यों से विटामिन 'के' फौलिक अम्ल' तथा 'इन्डोल' नामक द्रव्य तथा कुछ अन्य द्रव्य उत्पन्न होते हैं। इन द्रव्यों का आन्त्रभित्ति द्वारा प्रचूषण हो जाता है। पुरीष, जिसे विट् या केवल

मल भी कहते हैं ये आधे के लगभग अंश वृहदन्त्र में पाये जाने वाले मृतक तथा जीवित जीवाणुओं का होता है एवं शेष आहार का किट्टांश तथा वह अंश होता है जिस पर पाचक रसों की क्रिया नहीं होती है यथा सल्यूलोज आदि। इन क्रियाओं का वर्णन संहिताग्रन्थों में निम्न शब्दों में किया गया है–

पक्वाशयं तु प्राप्तस्य शोष्यमाणस्य वह्निना।
परिपिण्डितपक्वस्य वायुः स्यात्कटुभावतः।। च० चि० 15/10

जब वायु द्वारा फेंका जाकर [पुरःसरण गति-peristaltic movements द्वारा] आहार अंश पक्वाशय में पहुंचता है तब वह अग्नि द्वारा शुष्क होकर पिण्ड रूप में परिणत हो जाता है इस प्रक्रिया से कटु वायु की वृद्धि होती है। श्री चक्रपाणिदत्त ने इस सूत्र की टीका में कहा है कि 'परिपिण्डितपक्वस्य' का आशय है कि मलोत्पत्ति की इस प्रक्रिया में अवशेष आहार, जो अब निस्सार अंश है, पिण्ड रूप में परिवर्तित हो जाता है तथा '**वायुः स्यात् कटुभावतः**' का अर्थ है कि पिण्ड निर्माण के समय [किण्वन क्रिया के कारण] कटुवायु की उत्पत्ति होती है।

आम (अपक्व) तथा पक्व पुरीष के लक्षण–

अपक्व [आम] पुरीष में [1] अधिकांश भाग बिना पचे आहार का होता है, [2] वातादि दोषयुक्त होता है, [3] अत्यन्त दुर्गन्धयुक्त होता है, [4] थोड़ा–थोड़ा आता है तथा [5] जल में डूब जाता है इसके विपरीत पक्व पुरीष [1] वातादि दोषरहित होता है, [2] दुर्गन्धरहित एवं बंधा हुआ होता है, [3] शौचनिवृत्ति के पश्चात् व्यक्ति अपने को हल्का अनुभव करता है, [4] बिना पचा भाग नहीं होता है तथा [5] जल में तैरता है।

यदि पुरीष पतला है, अधिक कठोर है अथवा श्लेष्मा से दूषित है तब जल में डूबने, तैरने की परीक्षा सही नहीं होती है।

मज्जत्यामा गुरुत्वाद्विट् पक्वा तूत्प्लवते जले।
विनाऽतिद्रवसंघातशैत्यश्लेष्मप्रदूषणात्।। च० चि० 15/93
संसृष्टमेभिर्दोषैस्तु न्यस्तमप्स्ववसीदति।
पुरीषं भृशदुर्गन्धि विछिन्नं चामसंज्ञकम्।।
एतान्येव तु लिंगानि विपरीतानि यस्य तु।
लाघवं च मनुष्यस्य तस्य पक्वं विनिर्दिशेत्।।
सु० उ० 40/17, 18

पुरीष का धातु कर्म–

पुरीषमुपस्तम्भं वाय्वग्निधारणञ्च।। सु० सू० 15/7

पुरीष उपस्तम्भ है अर्थात् शरीर को धारण करता है, साथ ही साथ शरीर की वायु और अग्नि को भी धारण करता है।

अवष्टम्भः पुरीषस्य।। सु० सू० 11/5

पुरीष शरीर का अवष्टम्भ है अर्थात् देह की धारणशक्ति को बनाये रखना इसका कर्म है।

पुरीषवेग को रोकने से हानि–

पक्वाशयशिरःशूलं वातवर्चोनिरोधनम्।

पिण्डिकोद्वेष्टनाध्मानं पुरीषे स्याद्विधारिते।। च० सू० 7/7

पुरीष वेग को रोकने से (1) पक्वाशय में पीड़ा (2) सिर में पीड़ा (3) मल तथा वायु का न निकलना (4) शौच क्रिया न होना (5) पिण्डिकोद्वेष्टन (जंघा की पिण्डिलियों में खिंचाव) तथा (6) आध्मान [अफारा होना] ये लक्षण होते हैं।

पुरीषावरोध का प्रतिकार–

स्वेदाभ्यङ्गावगाहाश्च वर्तयो बस्तिकर्म च।

हितं प्रतिहते वर्चस्यन्नपानं प्रमाथि च।। च० सू० 7/8

पुरीषावरोध में स्वेदन, अभ्यंग [तेल आदि स्नेह की मालिश], अवगाहन, वर्ति प्रयोग [गुदा द्वारा–Suppositories], वस्ति कर्म [enaema] तथा आन्त्र पुरःसरण गति [peristaltic movements] को सम्यक् रखने वाले अन्न एवं पेय व्यवहार में लाने चाहिएं।

पुरीषक्षय के लक्षण–

पुरीष के क्षीण होने पर रूक्षता बढ़ जाती है तथा पीड़ित करता हुआ वायु कुक्षि को फुला देता है ओर तिर्यक् [पार्श्वों में] तथा ऊपर की ओर शब्द करता हुआ जाता है जिससे आन्त्र में मरोड़ तथा हृदय एवं पार्श्वों में पीड़ा होती है।

क्षीणे शकृति चान्त्राणि पीडयन्निव मारुतः।

रूक्षस्योन्नमयन् कुक्षिं तिर्यगूर्ध्वं च गच्छति।। च० सू० 17/69

पुरीषक्षये हृदयपार्श्वपीडा सशब्दस्य च वायोरूर्ध्वगमनं कुक्षौ संचरणं च। सु० सू० 15/11

पुरीषे वायुरंत्राणि सशब्दो वेष्टयन्निव।
कुक्षौ भ्रमति यात्यूर्ध्वं हृत्पार्श्वे पीडयन्भृशम्।। अ० हृ० सू० 11/21

पुरीषक्षय का प्रतिकार–

पुरीषक्षये कुल्माषमाषकुष्कुण्डाजमध्ययवशाकधान्याम्लानाम्।
च० शा० 6/11

पुरीष क्षय में कुल्माष [कुलत्थ] माष [उड़द] कुष्कुण्ड [छत्रशाक] बकरे के मध्य भाग का मांस, जौ, शाक, धान्याम्ल आदि पुरीषवर्धक द्रव्यों का सेवन करना चाहिए।

स्वयोनिवर्धनद्रव्याणि प्रतिकारः।। सु० सू० 15/11

क्षय में अपनी योनि [जाति] को बढ़ाने वाले द्रव्यों का सेवन क्षय का प्रतिकार है। अतः पुरीष क्षय में पुरीष को बढ़ाने वाले पदार्थों का सेवन ही पुरीष क्षय का प्रतिकार है।

पुरीषवृद्धि के लक्षण

पुरीष की वृद्धि में आटोप, आध्मान, [उदर में वायु का संचालन] तथा कुक्षी में भारीपन एवं वेदना होती है।

पुरीषमाटोपं कुक्षौ शूलं च। सु० सू० 15/16
कुक्षावाध्मानमाटोपं गौरवं वेदनां शकृत्।। अ० हृ० शा० 11/13

पुरीषवह स्रोत –

पुरीषवहानां स्रोतसां पक्वाशयो मूलं स्थूलगुदञ्च।।
च० चि० 5/11

पुरीषवह स्रोतों का मूल पक्वाशय [वृहदन्त्र] का उण्डुक भाग तथा स्थूल में गुदा [rectal ampulla] है।

पुरीषवहे द्वे, तयोर्मूलं पक्वाशयो गुदं च।। सु० सू० 9/20

पुरीषवह दो होते हैं– इसका आशय यह है कि पुरीषवह के दो सिरे होते हैं। उसका एक सिरा पक्वाशय में तथा दूसरा सिरा गुदा में होता है।

पुरीषधरा–

पञ्चमी [कला] पुरीषधरा नाम। याऽन्तःकोष्ठे मलमभिविभजते पक्वाशयस्था।। सु० शा० 4/15

पांचवीं कला का नाम पुरीषधरा है। यह कोष्ठ [अन्न प्रणालि] के अन्दर पक्वाशय [वृहदन्त्र] में स्थित हुई मल को पृथक् करती है।

यकृत्समन्तात् कोष्ठं च तथाऽन्त्राणि समाश्रिता।
उण्डुकस्थं विभजते मलं मलधरा कला।। सु० शा० 4/16

यह पुरीषधरा कला यकृत् तथा कोष्ठ के समीपवर्ती वृहदन्त्र में आश्रित होकर उण्डुक स्थित मल को पृथक् करती है। अर्थात् वृहदन्त्र में द्रव भाग का अवशोषण हो जाता है जिस कारण वृहदन्त्र स्थित भोजन का निःस्सार अंश घन रूप धारण करता है तथा वृहदन्त्र में स्थित जीवाणुओं की क्रिया से वह पुरीष रूप में परिवर्तित हो जाता है।

पुरीषवह स्रोतों की दुष्टि के कारण

विधारणादत्यशनादजीर्णाध्यशनात्तथा।
वर्चोवाहीनि दुष्यन्ति दुर्बलाग्नेः कृशस्य च।। च० वि० 5/26

[1] पुरीष वेग को रोकने से, [2] अत्यधिक भोजन करने से, [3] अजीर्ण से, [4] अध्यशन– भोजन के पाक से पूर्व पुनः भोजन करने से, [5] मन्दाग्नि से तथा [6] कृशता से पुरीषवह स्रोत दूषित हो जाते हैं।

पुरीषवह स्रोतों की दुष्टि के लक्षण–

प्रदुष्टानां खल्वेषामिदं विशेषविज्ञानं भवति। तद्यथा-कृच्छ्रेणाल्पाल्पं सशूलमतिद्रवं कुपितमतिग्रथितमतिबहु चोपविशन्तं दृष्ट्वा पुरीषवहाण्यस्य स्रोतांसि प्रदुष्टानीति विद्यात्।। च० वि० 5/11

पुरीषवह स्रोतों के दुष्ट होने पर पुरीष कष्ट से, अल्प मात्रा में, शूल के साथ, अत्यन्त पतला, दुर्गन्धित अथवा गांठदार बार–बार होता है। इन लक्षणों को देखकर पुरीषवह स्रोतों की दुष्टि समझ लेनी चाहिए।

पुरीषवह स्रोतों की दुष्टि का प्रतिकार–

विट् चिकित्सा आतिसारिकी कार्या।।

दुष्ट पुरीषवह स्रोतों की चिकित्सा अतिसार की चिकित्सा के समान करें।

पुरीष वृद्धि से उत्पन्न विकारों में भी अतिसार रोग की चिकित्सा के समान चिकित्सा करनी चाहिए।

मूत्र

पुरीष के साथ मूत्र भी आहार का मल है।

मूत्रोत्पत्ति–

आहारस्य रसः सारः सारहीनो मलद्रवः।
शिराभिस्तज्जलं नीतं वस्तौ मूत्रत्वमाप्नुयात्।। शा० पू० 6/6

आहार का सार भाग रस कहलाता है तथा सार रहित घन अंश मल तथा द्रव अंश मूत्र होता है।

मल का जलीयांश शिराओं [मूत्रवाहिनियों] द्वारा वस्ति को प्राप्त हो मूत्र बन जाता है।

मूत्राशयो मलाधारः प्राणायतनमुत्तमम्।
पक्वाशयगतास्तत्र नाड्यो मूत्रवहास्तु याः।।

तर्पयन्ति सदा मूत्रं सरितः सागरं यथा।
सूक्ष्मत्वान्नोपलभ्यन्ते मुखान्यासां सहस्रशः।।

नाडीभिरुपनीतस्य मूत्रस्यामाशयान्तरात्।
जाग्रतः स्वपतश्चैव स निःस्यन्देन पूर्यते।।

आमुखान्सलिले न्यस्तः पार्श्वेभ्यः पूर्यते नवः।
घटो यथा तथा विद्धि वस्तिर्मूत्रेण पूर्यते।। सु० नि० 3/20, 23

मूत्राशय [nephrons- वृक्काणु] मल का आधार तथा प्राणों का श्रेष्ठ स्थान है। जैसे सरितायें समुद्र में सदा जल डालती रहती हैं, इसी प्रकार पक्वाशय वृक्क [medulla of kindney- वृक्क अन्तःस्थ] में उपस्थित मूत्रवह नाड़ियों [calyses major and minors- वृहत् तथा लघु आलवाल] द्वारा मूत्र वस्ति [renal pelvis- गोणिका] में सदा आता रहता है।

इन नाड़ियों के हजारों मुख होते हैं जो अति सूक्ष्म होने के कारण दिखाई नहीं देते हैं परन्तु आमाशय [cortex of kindney वृक्क प्रान्तस्था] के अन्दर से इन नाड़ियों द्वारा लाये गए मूत्र के निस्यन्द से वस्ति [renal pelvis] मूत्र से भर जाती है।

उपरोक्त वर्णन में मूत्र निर्माण के इस प्रसंग में मूत्राशय शब्द वृक्काणु [नेफ्रॉन-nephrons] के लिए पक्वाशय शब्द वृक्क अन्तःस्थ [renal medulla] के लिए तथा बस्ति शब्द वृक्क गोणिका [renal pelvis] के अर्थ में आयुर्वेद शास्त्र चर्चा परिषद् ने अपने तृतीय अधिवेशन में स्वीकार किया है। इस प्रकार सुश्रुत वर्णित मूत्र निर्माण क्रिया आधुनिक विज्ञान सम्मत हो जाती है। मूत्राघात, मूत्रकृच्छ्र, प्रमेह आदि रोगों के प्रकरण में वस्ति शब्द का प्रयोग समस्त मूत्रवह तंत्र के लिए आचार्यों ने भी किया है यथा—

मारुते प्रगुणे वस्तौ मूत्रं सम्यक् प्रवर्तते।
विकारा विविधाश्चापि प्रतिलोमे भवन्ति हि।।

सु० नि० 3/27

वायु के अनुकूल होने पर वस्ति (मूत्रवह तन्त्र urinary system) में मूत्र की सम्यक् प्रकार से प्रवृत्ति होती रहती है तथा प्रतिकूल होने पर विविध विकार उत्पन्न हो जाते हैं।

मूत्र का शरीर में धातु कर्म—

वस्तिपूरणविक्लेदकृन्मूत्रम्।। सु० सू० 15/7

मूत्र वस्ति (वृक्क गोणिका renal pelvis) का पूरण करता है तथा शरीर की त्याज्य क्लेदता को दूर करता है।

मूत्रवेग रोकने से हानि—

वस्तिमेहनयोः शूलं मूत्रकृच्छ्रं शिरोरुजा।
विनामो वङ्क्षणानाहः स्याल्लिङ्गं मूत्रनिग्रहे।। च० सू० 7/5

मूत्र के वेग को रोगने से वस्ति (urinary bladder) तथा मेहन (मूत्रेन्द्रिय) में वेदना, मूत्रकृच्छ्र, (मूत्र का कष्ट से आना), सिर में पीड़ा, विनाम (दर्द के कारण झुक जाना), वङ्क्षण प्रदेश में वस्ति मूत्र से भरी होने के कारण आनाह (बन्धनवत् पीड़ा) आदि लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं।

मूत्रावरोध का प्रतिकार—

स्वेदावगाहनाभ्याङ्गान् सर्पिषश्चावपीडकम्।
मूत्रे प्रतिहते कुर्यात्त्रिविधं वस्तिकर्म च।। च० सू० 7/6

मूत्रावरोध पर स्वेदन, अवगाहन (site bath वाष्प–स्नान), अभ्यंग (तेल आदि की मालिश), घृत का अवपीडक रूप से प्रयोग तथा तीनों प्रकार के वस्ति कर्म (आस्थापन, अनुवासन तथा उत्तर वस्तियों का प्रयोग) करने से मूत्रावरोध समाप्त हो जाता है और मूत्र त्याग हो जाता है।

मूत्रक्षय के लक्षण—

मूत्र के क्षीण होने पर (1) मूत्र कष्ट से आता है, (2) उसका प्राकृत वर्ण परिवर्तन हो जाता है, (3) वस्ति प्रदेश में वेदना होती है, (4) रक्तयुक्त हो सकता है। (5) मात्रा में कम हो जाता है। (6) प्यास अत्यधिक लगती है तथा (7) मुख सूख जाता है आदि लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं।

मूत्रक्षये मूत्रकृच्छ्रं मूत्रवैवर्ण्यमेव च।
पिपासा बाधते चास्य मुखं च परिशुष्यति।। च० सू० 17/70
मूत्रक्षये वस्तितोदोऽल्पमूत्रता च। सु० सू० 15/11
मूत्रेऽल्पं मूत्रयेत्कृच्छ्राद्विवर्णं सास्रमेव वा। अ० हृ० सू० 11/12

मूत्रक्षय का प्रतिकार–

मूत्रक्षये पुनरिक्षुरसवारुणीमण्डद्रवमधुराम्ललवणोपक्लेदिनाम्।।

च. शा० 6/10

मूत्रक्षय में गन्ने का रस, वारुणी (मदिरा), (माण्ड) तथा मधुर, अम्ल, लवण और उपक्लेदी (शरीर में जल को रोकनेवाले) मण्ड द्रव्यों का सेवन करना चाहिए।

मूत्रवृद्धि के लक्षण–

1. मूत्रवृद्धि में (1) मूत्र प्रचुर मात्रा में बार–बार आता है, (2) वस्ति प्रदेश में पीड़ा होती है तथा (3) आध्मान (उदर में वात का निरोध होकर फूलना) होता है तथा (4) मूत्र त्याग के पश्चात् भी मूत्र त्याग की इच्छा बनी रहती है।

मूत्रं मूत्रवृद्धिं मुहुर्मुहुः प्रवृत्तिं वस्तितोदमाध्मानं च।

सु० सू० 15/16

मूत्रं तु वस्तिनिस्तोदं कृतेऽप्यकृतसंज्ञताम्।। अ० हृ० सू० 11/33

मूत्रवृद्धि का प्रतिकार–

मूत्रवृद्धिक्षयोत्थांश्च मेहकृच्छ्रचिकित्सया।। अ० हृ० सू० 11/33

मूत्रवृद्धि में प्रमेह रोग के समान चिकित्सा करनी चाहिए तथा मूत्रक्षय में मूत्रकृच्छ्र की चिकित्सा करनी चाहिए।

मूत्रवह स्रोत–.

मूत्रवहानां स्रोतसां वस्तिर्मूलं वंक्षणौ (वृक्कौ) च। च० वि० 5/11

मूत्रवह स्रोतों का मूल वस्ति तथा वंक्षण है।

आचार्य यादव जी त्रिविक्रम जी से 'वंक्षणौ' के स्थान पर 'वृक्कौ' का भेद स्वीकार किया है। इसमें आधुनिक विज्ञानसम्मत आधार मिल जाता है। संशोधित अर्थ है कि 'मूत्रवह स्रोतों (गवीनियों ureters) का एक मूल (सिरा) बस्ति (urinary bladder) में तथा दूसरा सिरा वृक्क है।

मूत्रवहे द्वे तयोर्मूलं वस्तिमेढ्रं च।

मूत्रवह (गवीनियां) दो होती हैं तथा उनका मूल वस्ति (renal pelvis) तथा मेढ्र है। यहां मेढ्र को शिश्न का वाची न मानकर जहां मेढ्र का उद्गम होता है अर्थात् मूत्राशय (urinary bladder) का वाची मानने से उपरोक्त सूत्र का अर्थ भी विज्ञान सम्मत हो जाता है।

मूत्रवह स्त्रोतों की दुष्टि के कारण–

मूत्रतोदकभक्ष्यस्त्रीसेवनान्मूत्रनिग्रहात्।

मूत्रवाहीनि दुष्यन्ति क्षीणस्याथ कृशस्य च।। च० वि० 5/10

मूत्र के वेग के समय जल पीने, भोजन करने अथवा मैथुन करने से तथा मूत्र वेग को बार–बार रोकने से मूत्रवह स्त्रोत दूषित हो जाते हैं तथा मूत्र विकार उत्पन्न हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त क्षीण तथा कृश व्यक्ति के मूत्रवाही स्त्रोत उपरोक्त कारण न होते हुए भी दुष्ट हो जाते हैं।

मूत्रवह स्त्रोतों की दुष्टि के लक्षण–

प्रदुष्टानां तु खल्वेषामिदं विशेषविज्ञानं भवति। तद्यथा अतिसृष्टमतिबद्धं कुपितमल्पाल्पमभीक्ष्णं वा बहलं सशूलं मूत्रयन्तं दृष्ट्वा मूत्रवहान्यस्य स्त्रोतांसि प्रदुष्टानीति विद्यात्। च० वि० 5/10

मूत्रवह स्त्रोतों के दुष्ट होने पर ये विशेष लक्षण उत्पन्न होते हैं– (1) मूत्र का अत्यधिक आना अथवा नहीं आना, (2) कुपित होकर थोड़ा–थोड़ा आना अथवा बार–बार आना (3) गाढ़ा आना तथा (4) वेदना के साथ आना।

इन लक्षणों को देखकर मूत्रवह स्त्रोत दुष्ट हैं यह समझ लेना चाहिए।

मूत्र की परीक्षा–

वातेन पाण्डुरं मूत्रं रक्तं नीलञ्च पित्ततः।

रक्तमेव भवेद्रक्ताद्धवलं फेनिलं कफात्।। भा० पू० 7/10

वात की अधिकता से मूत्र पाण्डुर [श्वेत मिश्रित पीला] वर्ण का होता है [तथा परिमाण में अल्प होता है] पित्त की अधिकता से मूत्र लाल तथा नीले वर्ण का होता है। रक्त के प्रकुपित होने से रक्त के वर्ण का होता है तथा कफ की अधिकता से फेनयुक्त श्वेत वर्ण का होता है [पित परिमाण में अधिक होता है]।

निशान्त्ययामे घटिकाचतुष्टये उत्थाप्य वैद्यः किल रोगिणं च। मूत्रं धृतं काचमये च पात्रे सूर्योदये तत् सततं परीक्षेत्। तस्याद्यधारां परिहृत्य मध्यधारोद्भवं तत् परिधारयित्वा। तृणेन दापयेत्तैलबिन्दुं तत्रातिलाघवात्। विकासितं तैलमथाशु मूत्रे साध्यः स रोगी नैव विकसितं चेत्। स्यात् कष्टसाध्यस्तलगे त्वसाध्यो नागार्जुनेनैव कृता परीक्षा। • योगरत्नाकर

सूर्योदय से पूर्व रोगी को जगाकर स्वच्छ कांच पात्र में मूत्र करावे। आदि और अन्त की धार छोड़कर मध्य का मूत्र ले। कांच पात्र को ढककर सूर्योदय तक रख छोड़े। सूर्योदय के पश्चात् कांच पात्र को स्थिर रखकर घास की

एक सींक तिल तैल में डुबोकर एक बूंद तैल की मूत्र में छोड़े। यदि तैल बूंद मूत्र पर चारों ओर फैल जाये तो रोग साध्य है, यदि एक स्थान पर स्थिर रहे तो कष्टसाध्य तथा यदि तली पर बैठ जाए तो रोग असाध्य है ऐसा समझें।

अन्य मल

अन्य मलों के क्षय के लक्षण–

मलायनानि चान्यानि शून्यानि च लघूनि च।
विशुष्काणि च लक्ष्यन्ते यथास्वं मलसंक्षये।। च० सू० 17/71

पुरीष तथा मूत्र के अतिरिक्त अन्य मलों के क्षीण होने पर उन–उन मलों के मार्ग अपने–अपने मलों से रहित [शून्य] हल्के [लघु] तथा शुष्क दिखाई देते हैं।

मलानामतिसूक्ष्माणां दुर्लक्ष्यं लक्षयेत् क्षयम्।
स्वमलायनसंशोषतोदशून्यत्वलाघवैः।। अ० हृ० सू० 11/23

अतिसूक्ष्म [अर्थात् पुरीष मूत्र आदि अधिक उत्पन्न होनेवाले मलों की अपेक्षा कम उत्पन्न होनेवाले] मलों के दुर्लक्ष्य क्षय को उन्हीं के दुर्लक्षणों से जान लेना चाहिए। इन मलों के क्षय में मल विशेष के स्थान पर शोष, वेदना, शून्यता तथा लघुता उत्पन्न हो जाती है।

अन्य मलों की क्षय और वृद्धि के लक्षण–

वृद्धिं मलानां संगाच्च क्षये चातिविसर्गतः।
मलोचितत्वाद्देहस्य क्षयो वृद्धेस्तु पीडनः।। अ० हृ० सू० 11/25

यदि उन मलों का बार–बार निस्सरण होता है तो उनकी वृद्धि समझनी चाहिए।

यद्यपि मलों की वृद्धि तथा क्षय दोनों ही हानिकारक हैं परन्तु मलों का क्षय विशेष रूप से हानिकारक है। जीवित व्यक्तियों में मलों का क्षय नहीं होना चाहिए।

स्वस्थ व्यक्ति के लक्षण–

शरीर के मूल [दोष, धातु तथा मलों] के सम्बन्ध में जानने योग्य सभी तथ्य संक्षेप में दिए गए हैं। इन सबके कार्यों के ज्ञान से शरीर में होने वाला क्रियाओं का ज्ञान प्राप्त होता है जिससे स्वास्थ्य को बनाये रखने तथा रोग की अवस्था में रोग निवारण में सहायता मिलती है।

वैलक्षण्याच्छरीराणामस्थायित्वात्तथैव च।
दोषधातुमलानां तु परिमाणं न विद्यते।। सु० सू० 15/40

जीवधारियों के शरीर में विलक्षणता तथा अंस्थिरता होने के कारण दोष, धातु तथा मलों का कोई निश्चित परिमाण नहीं होता है।

मनुष्यों का शरीर न तो एक समान होता है और न ही स्थिर रहता है। शारीरिक क्रियाओं के कारण शरीर में प्रतिक्षण क्षय तथा वृद्धि होती रहती है। वय, ऊंचाई, भार आदि की दृष्टि से तथा सहनशक्ति आदि बल के परिमाणों की दृष्टि से प्रत्येक मनुष्य में भिन्नता रहती है। वातादि प्रकृति, रक्तादि सार तथा बनावट की दृष्टि से भी भिन्नता होती है अतः शरीर में दोष, धातु तथा मल का कोई निश्चित परिमाण नहीं होता है।

एषां समत्वं यच्चापि भिषग्भिरवधार्यते।
न तत् स्वास्थ्यादृते शक्यं वक्तुमन्येन हेतुना।। सु० सू० 15/41

यद्यपि चिकित्सक दोषादि की समता को अच्छे स्वास्थ्य का लक्षण मानते हैं परन्तु उनके पास समता मापन के लिए स्वास्थ्य को देखकर कहने के अतिरिक्त (साम्यावस्था जानने के लिए) अन्य कोई उपाय नहीं है अतः

दोषादीनां त्वसमतामनुमानेन लक्षयेत्।
अप्रसन्नेन्द्रियं वीक्ष्य पुरुषं कुशलो भिषक्।। सु० सू० 15/41

अप्रसन्न (दुःखी) इन्द्रियों वाले मनुष्य को देखकर कुशल चिकित्सक को दोषादि की असमता अनुमान से जान लेनी चाहिए। तथा—

समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमना स्वस्थ इत्यभिधीयते।। सु० सू० 15/45

जिस मनुष्य में वातादि दोषों की क्रियायें सम होती हैं, जठराग्नि आदि समस्त अग्नियों की क्रियायें सम होती हैं, धातु और मलों की क्रियायें सम्यक् प्रकार से होती रहती हैं तथा जिसकी आत्मा, इन्द्रियां और मन प्रसन्न रहते हैं वह मनुष्य स्वस्थ कहलाता है। ऐसा जानना चाहिए।

दोष, धातु और मलों को शरीर के घटक पहले ही कहा जा चुका है। **(दोषधातुमलमूलं हि शरीरम्)**। ये तीनों शरीर के स्थूल घटक हैं इनके अपने निश्चित प्राकृत तथा वैकृत गुण और कर्म होते हैं जिनसे इनकी प्राकृत अथवा वैकृत क्रियायें जानी जाती हैं। इनका भी वर्णन पिछले पृष्ठों में किया जा चुका है। उपरोक्त श्लोक की प्रथम पंक्ति में इनके प्राकृत गुण और कर्मों की ओर इंगित किया गया है।

द्वितीय पंक्ति में आत्मा, इन्द्रिय और मन की प्रसन्नता को स्वास्थ्य का

लक्षण कहा गया है। आत्मा, इन्द्रियां और मन भी शरीर के घटक हैं। इसके कार्य ही जीवन के लक्षण के रूप में प्रकट होते हैं **(शरीरेन्द्रियसत्त्वात्मसंयोग आयुरुच्यते)** अतः ये शरीर के सूक्ष्म घटक हैं। इनके प्राकृत अथवा वैकृत गुण प्रसन्नता (सुख) अथवा अप्रसन्नता (दुःख) के रूप में प्रकट होते हैं। इससे इनकी प्राकृत अथवा वैकृत अवस्था का ज्ञान होता है। चरक संहिता में इन्हीं भावों को निम्नलिखित श्लोक में वर्णित किया है।

विकारो धातुवैषम्यं, साम्यं प्रकृतिरुच्यते।
सुखसंज्ञकमारोग्यं विकारो दुःखमेव च।।

त्रिधातु (त्रिदोष) तथा सप्त धातु (रसादि) की विषमता को रोग कहते हैं और इनकी समता का नाम प्रकृति है। आरोग्य को ही सुख कहते हैं तथा विकार (विषमता) का नाम दुःख है।

इनमें सबसे प्रमुख दोषों का सम रहना है, वात पित्त और कफ की सम्यक् क्रियाओं के द्वारा शारीरिक अग्नियों की क्रियायें सम्यक् प्रकार से सम्पन्न होती हैं जिसके परिणामस्वरूप धातु और मलों की उत्पत्ति तथा कर्म सम्यक् प्रकार से होते रहते हैं। अतः सबसे प्रथम दोषों को कहा गया है उसके उपरांत अग्नि, धातु तथा मल इस क्रम से कहे गये हैं।

ऐसे शारीरिक स्वस्थ वातावरण में आत्मा, इन्द्रियां और मन भी प्रसन्न रहते हैं। आत्मा, मन और इन्द्रियों का संयोग जब शरीर से होता है तब ही शरीर में जीवन के लक्षण प्रकट होते हैं। इसलिए शरीर, आत्मा, मन और इन्द्रियों के संयोग को जीवन [आयु] कहा गया है। इन्द्रियों, इन्द्रियों के विषय, मन और आत्मा के संयोग से ज्ञान की उत्पत्ति होती है।

शारीरिक तथा मानसिक दृष्टि से स्वस्थ मनुष्य अपने समान सृष्टि की उत्पत्ति कर अपने उच्चतम लक्ष्य– मोक्ष की ओर प्रगति करता है। शारीरिक तथा मानसिक स्वस्थता में ही सुख और अन्तिम अभिलाषा की पूर्ति निहित है।

★ ★ ★

भाग—4

मनोविज्ञान

1

मन

मनोविज्ञान–

जिस शास्त्र में मन का स्वरूप, लक्षण, गुण, विषय तथा कार्य वर्णित हैं उसे मनोविज्ञान (Psychology) कहते हैं।

शरीर ओर मन का घनिष्ठ सम्बन्ध है। एक की विकृति दूसरे पर भी अनिष्ट प्रभाव डालती है इसलिए शरीर की वृत्तियों के साथ मन की वृत्तियों का जानना आवश्यक है।

तत्व–ज्ञान शास्त्री मन को आत्मा का करण (साधन) मानते हैं। पाश्चात्य मनीषी मन को साइकी (Psyche) कहते हैं। मस्तिष्क की तंत्रिका कोशिकाओं (nerve cells) की सहायता से मन अपनी क्रियायें करता है। अतः मस्तिष्क को मन नहीं कह सकते हैं। मस्तिष्क मन का उसी प्रकार का साधन है जिस प्रकार आत्मा के लिए मन है। साधन की उत्तमता कार्य पर प्रभाव डालती है। इसलिए जितना स्वस्थ मस्तिष्क होगा उतनी ही उत्तम मन की क्रियायें होंगी। मन के स्वास्थ्य का सम्बन्ध शरीर के साथ जुड़ा हुआ है अतएव मानसिक तथा शारीरिक क्रियायें एक दूसरे को प्रभावित करती हैं। सामान्य अनुभव की बात है कि दुःख (जो एक मानसिक स्थिति है) में नेत्रों में आँसू (जो एक शारीरिक क्रिया है) निकल पड़ते हैं, शोक के कारण भूख रखते हुए भी भोजन के प्रति अनिच्छा हो जाती है।

शारीरिक क्रियाओं के लिए जिस प्रकार वात की क्रिया प्रधान है उसी प्रकार मानसिक क्रियाओं का भी वात ही प्रवर्तक है। इसी प्रकार शरीर की समस्त शारीरिक तथा मानसिक क्रियायें वात से ही क्रियावान् रहती हैं।

यतो मारुतस्ततो मनः प्रवर्तते। जहां वायु है वहीं मन की प्रवृत्ति होती है।

नियन्ता प्रणेता च मनसः।। च० सू० 12/7

वात मन का नियामक तथा प्रणेता है।

शरीर जड़ पदार्थ है। इसका सम्बन्ध मन के माध्यम द्वारा जब आत्मा से होता है तब जीवन के लक्षण प्रकट होते हैं। इसलिए शरीर निर्माण की धातुओं (**खादयश्चेतनाषष्ठा धातवः पुरुषः स्मृतः।।** च० शा० 1, 14) में आत्मा को ही प्रमुख माना गया है। क्योंकि–

शरीरं हि गते तस्मिन् शून्यागारमचेतनम्।
पञ्चभूतावशेषत्वात् पंचत्वं गतमुच्यते।। च० शा० 1/73

शरीर से आत्मा के चले जाने पर यह शरीर गृहपतिविहीन गृह के समान शून्य और जड़ रह जाता है। शेष पांचों भूतों के रहने पर भी पञ्चत्व को प्राप्त हुआ अर्थात् मृत्यु को प्राप्त हुआ, ऐसा कहते हैं।

आत्मा की जो कुछ क्रिया हम शरीर में मानते हैं वह मन के माध्यम से होती है। आत्मा का मन से, मन का इन्द्रियों से और इन्द्रियों का अपने विषय से जब संयोग होकर यह शृंखला पूर्ण होती है तब ज्ञान की अभिव्यक्ति होती है तथा शारीरिक एवं मानसिक क्रियायें सम्पन्न होती हैं अतः जीवन के लक्षण आत्मा, मन और शरीर के संयोग पर आश्रित हैं।

शरीरेन्द्रियसत्त्वात्मसंयोगो धारि जीवितम्।
नित्यगश्चानुबन्धश्च पर्यायैरायुरुच्यते।। च० सू० 1/41

शरीर, इद्रिय, मन और आत्मा के संयोग को आयु कहते हैं। इन चारों को परस्पर धारण करने के कारण धारी, जीवन के लक्षणों के कारण–जीवित, नित्य प्रतिक्षण वृद्धि को प्राप्त होते रहने के कारण–नित्यग तथा पर (सूक्ष्म) शरीर का अपर (स्थूल) शरीर में सम्बन्ध कराने के कारण आयु को अनुबन्ध भी कहते हैं।

सत्त्वमात्मा शरीरं च त्रयमेतत् त्रिदण्डवत्।
लोकस्तिष्ठति संयोगात्तत्र सर्वं प्रतिष्ठितम्।। च० सू० 1/45

मन, आत्मा और शरीर ये तीनों त्रिदण्ड (तिपाई के तीन पावों) के समान जीवन के आधार स्तम्भ हैं इन तीनों के संयोग से इस लोक (चेतन प्राणियों) की स्थिति है और इसलोक में ही सब कुछ प्रतिष्ठित है।

आत्मा–

पंचभूतात्मक इस शरीर के विषय में इस पुस्तक के पिछले अध्यायों में पढ़ आए हैं। मन के विषय में विस्तार से पढ़ने से पूर्व आत्मा के विषय में भी जानना आवश्यक है क्योंकि जब मन का आत्मा से सान्निध्य होता है तभी ज्ञान की प्राप्ति होती है और मानसिक एवं शारीरिक (ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों के) कार्य होते हैं।

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः।। श्री० म० गी० 3/42

इन्द्रियों को पर (श्रेष्ठ एवं सूक्ष्म) कहते हैं, इन्द्रियों से पर मन है और मन से पर बुद्धि है और जो बुद्धि से भी अत्यन्त पर है वह आत्मा है।

आत्मा का अस्तित्व निर्विवाद है। इस विषय में सब दर्शन एकमत हैं, परन्तु आत्मा के स्वरूप के विषय में विभिन्न मत हैं। चार्वाक स्थूल शरीर को आत्मा मानता है। बौद्ध आत्मा को विज्ञान का प्रवाह मात्र मानते हैं। न्याय, वैशेषिक, मीमांसक आत्मा को अचेतन मानते हुए कहते हैं विशेष अवस्थाओं में यह चैतन्य का आधार हो जाता है। सांख्य के अनुसार शरीर, इन्द्रिय और मन से आत्मा भिन्न है। वह सांसारिक विषय नहीं है। आत्मा स्वयं शुद्ध चैतन्यस्वरूप है और सर्वदा ज्ञाता के रूप में रहता है। सांख्य अद्वैत के समान आत्मा को सच्चिदानन्द (आनन्दस्वरूप) नहीं मानता। चैतन्य और आनन्द दो विभिन्न वस्तुएं हैं।

आत्मा केवल द्रष्टा है। वह निष्क्रिय, विकारी, स्वयंभू, नित्य और सर्वव्यापी सत्ता है। वह राग द्वेष से रहित है। जितने कर्मों के परिणाम हैं, जितने सुख दुःख हैं वे प्रकृति के (मन, शरीर और बुद्धि के) विकार हैं। प्रत्येक जीव की पृथक्–पृथक् आत्मा है क्योंकि भिन्न–भिन्न व्यक्तियों में जन्म, मरण, ज्ञान और कर्मों में अन्तर मिलता है। एक ही आत्मा सब में होती तो ऐसा नहीं होता। एक में किसी क्रिया के होने से सब में वही क्रिया परिलक्षित होती। एक सोता है, दूसरा जागता है, एक सुखी है, दूसरा दुःखी है, यह आत्मा का विभिन्न होना सिद्ध करते हैं। स्त्री, पुरुष, पशु, पक्षी आदि में एक आत्मा होने से यह विभिन्नता नहीं होती। आयुर्वेद की आत्मा के सम्बन्ध में मान्यता बहुत कुछ सांख्य के अनुरूप है।

आत्मा के लक्षण–

आत्मा चैतन्य का कारण है अतः शरीर में चैतन्य (जीवन) के लक्षण आत्मा के लक्षण माने जाते हैं और इसी से 'आत्मा है' यह सिद्ध होता है।

प्राणापानौ निमेषाद्या जीवनं मनसो गतिः।
इन्द्रियान्तरसंचारः प्रेरणं धारणं च यत्।।
देशान्तरगतिः स्वप्ने पञ्चत्वग्रहणं तथा।
दृष्टस्य दक्षिणेनाक्ष्णा सव्येनावगमस्तथा।।
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं प्रयत्नश्चेतना धृतिः।
बुद्धिः स्मृतिरहंकारो लिंगानि परमात्मनः।।
यस्मात्समुपलभ्यन्ते लिंगान्येतानि जीवतः।
न मृतस्यात्मलिंगानि तस्मादाहुमहर्षयः।। च. शा. 1/68-72

प्राण (श्वास लेना, वायु का ग्रहण करना), अपान (शरीर से अनावश्यक पदार्थों का निष्कासन), निमेष, उन्मेष, मन की गति, मन का एक इन्द्रिय के बाद दूसरी इन्द्रिय से संयोग करना, प्रेरणा प्रदान करना, धारण करना, स्वप्न में अन्य देशों में पहुंच जाना, स्वप्न में मृत्यु को प्राप्त होना, एक नेत्र से देखी वस्तु को दूसरे नेत्र से देखकर पहचान लेना, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, प्रयत्न, चेतना, धृति, बुद्धि, स्मृति तथा अहंकार (अहंभाव) ये सब सूक्ष्म आत्मा के लक्षण हैं।

तस्य सुखदुःखे इच्छाद्वेषौ प्रयत्नः प्राणापानावुन्मेषनिमेषौ बुद्धिर्मनः संकल्पो विचारणा स्मृतिर्विज्ञानमध्यवसायो विषयोपलब्धिश्च गुणाः। सु० शा० 1/18

सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, अपान, उन्मेष, निमेष, बुद्धि, मन द्वारा संकल्प, विचारणा, स्मृति, विज्ञान, अध्यवसाय (यही कार्य करना है ऐसा निश्चय) और विषयोपलब्धि (इन्द्रियों द्वारा विषय का ज्ञान) ये आत्मा के गुण हैं।

जिस समय एक व्यक्ति जीवित रहता है अर्थात् आत्मा का सम्बन्ध शरीर और इन्द्रियों से रहता है, ये लक्षण उसमें मिलते हैं, मृत्यु होने पर (आत्मा का सम्बन्ध समाप्त होने पर) ये नष्ट हो जाते हैं। अतः ये गुण एवं लक्षण आत्मा के कहे जाते हैं और इनसे ही अदृश्य चेतनस्वरूप आत्मा है ऐसा ज्ञान होता है।

आत्मा का स्वरूप—

निर्विकारः परस्त्वात्मा सत्वभूतगुणेन्द्रियः।
चैतन्ये कारणं नित्यो द्रष्टा पश्यति हि क्रिया। च० सू० 1/55

आत्मा स्वयं विकाररहित, सूक्ष्म और उत्कृष्ट है। यह आत्मा मन, भूतगण (शब्द, स्पर्शादि) तथा इन्द्रियों से संयोग कर चेतना का कारण है। आत्मा नित्य (विनाश एवं उत्पत्ति धर्मरहित) है तथा देखने वाले (साक्षी) के रूप में समस्त क्रियाओं को देखता है।

जिस प्रकार योगी पुरुष परम शान्त भाव से साक्षी रूप से संसार की क्रियाओं को देखता हुआ भी उनमें लिप्त नहीं होता। उसी प्रकार आत्मा समस्त प्राणियों के समस्त भावों में, जो उनके द्वारा होता है, केवल साक्षी रूप में देखता रहता है।

ज्ञः साक्षीत्युच्यते नाज्ञः साक्षी ह्यात्मा ह्यतः स्मृतः।
सर्वे भावा हि सर्वेषां भूतानामात्मसाक्षिकाः।। च० शा० 1/82

ज्ञ (ज्ञानवान्, चेतन) ही साक्षी हो सकता है। अज्ञ (अज्ञानी, अचेतन) साक्षी नहीं हो सकता है। आत्मा ज्ञानवान् है, चेतन है, अतः समस्त प्राणियों के समस्त भावों का साक्षी है।

आत्मा चेतन होते हुए भी निष्क्रिय है। निष्क्रिय में क्रियायें किस प्रकार सम्भव हैं ? इसका उत्तर है—

अचेतनं क्रियावच्च मनश्चेतयिता परः।
युक्तस्य मनसा तस्य निर्दिश्यन्ते विभोः क्रियाः।।
चेतनावान् यतश्चात्मा ततः कर्त्ता निरुच्यते।
अचेतनत्वाच्च मनः क्रियावदपि नोच्यते।।

मन अचेतन और क्रियावाला है तथा आत्मा चेतना प्रदान करनेवाला है। आत्मा और मन के संयुक्त होने पर ही आत्मा की क्रिया होती है। आत्मा चेतनायुक्त है इसलिए कर्त्ता कहलाता है। यद्यपि मन क्रिया करता है परन्तु स्वयं जड़ (अचेतन) होने के कारण कर्त्ता नहीं हो सकता है।

समझने के लिए एक उदाहरण दिया जाता है कि जैसे कुल्हाड़ी लकड़ी को काटती है। काटने की क्रिया कुल्हाड़ी में है। परन्तु कुल्हाड़ी स्वयं लकड़ी को नहीं काट सकती है। इस कार्य के लिए लकड़ी काटनेवाले व्यक्ति की

सहायता चाहिए। परन्तु बिना कुल्हाड़ी के वह व्यक्ति भी लकड़ी काटने का कार्य नहीं कर सकता है। यही स्थिति आत्मा और मन की है। मन कुल्हाड़ी के समान जड़ एवं क्रियावाला है तथा आत्मा काटनेवाले के समान चेतन और निष्क्रिय है। काटने की क्रिया में काटने वाला तथा कुल्हाड़ी दोनों का योग होना आवश्यक है। काटने की क्रिया में जिस प्रकार कुल्हाड़ी कर्त्ता नहीं कही जा सकती उसी प्रकार मानसिक तथा शारीरिक क्रियाओं में मन कर्त्ता नहीं कहा जा सकता। कर्त्ता आत्मा ही है परन्तु मन के बिना आत्मा निष्क्रिय है।

आत्मा के करण (साधन)–

अत्मा ज्ञः करणैर्योगाज्ज्ञानं त्वस्य प्रवर्तते।
करणानामवैमल्यादयोगाद्वा न वर्तते।।
पश्यतोऽपि यथाऽऽदर्शे संक्लृप्ते नास्ति दर्शनम्।
तत्त्वं जले वा कलुषे चेतस्युपहते तथा।। च० शा० 1/53, 54

मन और ज्ञानेन्द्रिय आदि कारणों के संयोग से आत्मा को ज्ञान की प्रवृत्ति होती है। यदि ये करण निर्मल न हों अथवा इनका अयोग हो अर्थात् आत्मा का मन से, मन का इन्द्रियों से तथा इन्द्रियों का अपने–अपने विषयों से संयोग न हो तो ज्ञान नहीं होता है।

नेत्र (इन्द्रिय) होते हुए भी यदि दर्पण मलिन है तो व्यक्ति को उसमें रूप स्पष्ट नहीं दिखाई देता है अथवा गदले जल में पड़ी हुई वस्तु स्पष्ट दिखाई नहीं देती है। इसी प्रकार मन का विघात होने से ज्ञान नहीं होता है।

करणानि मनो बुद्धिर्बुद्धिकर्मेन्द्रियाणि च।
कर्तुः संयोगजः कर्म वेदना बुद्धिरेव च।। च. शा. 1/55

मन, बुद्धि, ज्ञानेन्द्रियां तथा कर्मेन्द्रियां, ये आत्मा के करण (साधन) हैं। कर्त्ता (आत्मा) का इन करणों के साथ संयोग होने पर ही (चेष्टा आदि) कर्म होते हैं तथा वेदना आदि का अनुभव होता है।

मन का अस्तित्व–

मनीषियों ने पूर्व काल में भी आत्मा और मन की विभिन्नता के प्रति शंकायें उठायी थीं और उनका युक्तिपूर्वक समाधान भी किया था। यथा न्यायदर्शन ने पूर्व पक्ष उपस्थित करते हुए कहा है–

नात्मप्रतिपत्तिहेतूनां मनसि सम्भवात्।। न्या. सू. 3/1/15

आत्मा के प्रतिपादित कारण मन में सम्भावित होते हैं। अतः मन से पृथक् आत्मा को मानने की क्या अवश्यकता है अथवा इस प्रकार कहे कि मन को ही आत्मा क्यों न माना जाए ?

इसका समाधानकारक उत्तरपक्ष उपस्थित करते हुए कहते हैं कि—

ज्ञातुर्ज्ञानसाधनोपपत्तेः संज्ञाभेदमात्रम्। न्या. सू. 3/1/16

क्यों कि कर्त्ता (साधक) को ज्ञान के साधनों की आवश्यकता होती है अतः कर्त्ता (साधक अर्थात् आत्मा) और करण (साधन अर्थात् मन) दोनों की संज्ञायें एक नहीं हो सकती हैं। इसलिए आत्मा और मन पृथक्–पृथक् हैं।

जिस प्रकार देखने वाले को नेत्र रूप साधन की, सूंघने वाले को नासिका रूप साधन की, स्पर्श ग्रहण करने को त्वचा रूप साधन की आवश्यकता होती है जिसकी सहायता से विषय का ज्ञान हो सके और वह साधन मन है। इसके लिए ज्ञाता को चाहे आत्मा संज्ञा दें अथवा अन्य, वह कर्त्ता ही रहेगा और मन करण। इसमें किसी प्रकार का परिवर्तन सम्भव नहीं है।

यदि हम यह कहें कि कर्त्ता को साधन की आवश्यकता नहीं है तो फिर देखने वाले को नेत्र की, सूंघने वाले को नासिका की तथा स्पर्श करने वाले को त्वचा की भी आवश्यकता नहीं होगी। इस प्रकार यदि इन इन्द्रियों में करणत्व नहीं मानते हैं तब फिर इन इन्द्रियों की आवश्यकता ही क्या है। इनके लोप का प्रश्न उठता है।

यदि यह कहा जाए कि शब्द, रूप, स्पर्श, रस, गन्ध को ग्रहण करने के लिए तो साधनभूत इन्द्रियों की आवश्यकता है परन्तु चिन्तन, विचार आदि विषयों के ज्ञान के लिए किसी भी अनुमान का आधार नहीं है अतः मानने योग्य नहीं है। चिन्तन, विचार आदि के लिए साधनभूत मन की आवश्यकता है।

इस प्रकार मन का अस्तित्व अनुमानग्राह्य है।

मन की अनुपस्थिति में आत्मा, इन्द्रिय और इन्द्रियार्थों के रहते हुए भी ज्ञान नहीं होता है। यह सामान्य अनुभव की बात है कि यदि हमारा मन कहीं और होता है तो पास में हो रही शब्द की ध्वनि अथवा रूप का ग्रहण नहीं होता है। इससे मन के अस्तित्व की पुष्टि होती है। ज्ञान के लिए आत्मा, इन्द्रिय और इन्द्रियों का विषयों से सम्बन्ध कराने के लिए मन की आवश्यकता होती है। ज्ञान के बिना मानसिक तथा शारीरिक क्रियायें असम्भव हैं।

इन कारणों को दो भागों में विभाजित किया जाता है— (1) अन्तःकरण, इसमें 1. मन और 2. बुद्धि का समावेश है तथा (2) बाह्यकरण— 1. ज्ञानेन्द्रियां तथा 2. कर्मेन्द्रियों को कहते हैं। बाह्यकरण द्वारा वर्तमान काल का ही ज्ञान होता है तथा अन्तःकरण द्वारा तीनों काल (भूत, वर्तमान एवं भविष्यत्) का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

मन की उत्पत्ति

भारतीय दर्शन के अनुसार सृष्टि की उत्पत्ति के समय राजस अहंकार की सहायता से सात्विक अहंकार से मन की उत्पत्ति हुई।

सृष्टि की उत्पत्ति का आदि कारण स्वयं कारण रहित सत्व, रज तथा तम गुणों से युक्त अव्यक्त है। अव्यक्त से त्रिगुणात्मक जगत् की उत्पत्ति हुई। महत् का अर्थ महान् है जब हम महान् कहते हैं तो एक तुलनात्मक निश्चित हमारा मत होता है कि अमुक से अमुक महान् है। निश्चयात्मक स्थिति के कर्त्ता को बुद्धि कहते हैं, इसलिए महत् को बुद्धितत्व भी कहते हैं। तुलनात्मक भाव अर्थात् छोटे–बड़े या अच्छे बुरे का भाव अहंकाराधीन है। अतः महत् से त्रिगुणात्मक अहंकार की उत्पत्ति होती है। गुणों के अनुसार अहंकार तीन प्रकार का होता है। (1) वैकारिक (सात्विक–जिसमें सत्व गुण प्रधान है), (2) तैजस (राजस–जिसमें रजोगुण प्रधान है) तथा (3) भूतादि (तामस–जिसमें तमोगुण प्रधान है)। तैजस (राजस) अहंकार की सहायता से वैकारिक (सात्विक) अहंकार से ग्यारह इन्द्रियां उत्पन्न होती है। ये हैं– पांच ज्ञानेन्द्रियां (1) श्रोत्र, (2) त्वक्, (3) चक्षु, (4) जिह्वा तथा (5) घ्राण तथा पांच कर्मेन्द्रियां (1) वाणी, (2) हस्त, (3) उपस्थ, (4) गुदा तथा (5) पाद और ग्यारहवां मन, जो अतीन्द्रिय कहलाता है। जिसका ज्ञान उपरोक्त दसों इन्द्रियों द्वारा ग्राही नहीं हो उसे अतीन्द्रिय कहते हैं। तेजस (राजस) अहंकार की सहायता से भूतादि (तामस) अहंकार से पांच तन्मात्रायें (सूक्ष्म अव्यक्त भूत) उत्पन्न होती हैं।

ये ग्यारह इन्द्रियां आत्मा के चेतन भावों को प्रकट करने का आधार हैं किन्तु चेतन भाव किसी जड़ वस्तु के आश्रित ही प्रकट हो सकते हैं। इसके लिए पञ्च तन्मात्राओं से पञ्च महाभूतों की उत्पत्ति होती है, जिसके परस्पर मिलन से जड़ शरीर की उत्पत्ति होती है। जड़ शरीर में आत्मा को मन प्रवृत्त करता है जिससे जड़ शरीर में जीवन के लक्षणों के रूप में आत्मा के लक्षण प्रकट होते हैं। जैसा प्रारम्भ में बताया है इस कार्य की सिद्धि के लिए राजस अहंकार की सहायता से सात्विक अहंकार से मन की उत्पत्ति हुई है ऐसी मान्यता है।

गर्भ से आत्मा एवं मन का सम्बन्ध–

गर्भ की उत्पत्ति में मातृज (डिम्ब), पितृज (शुक्राणु), आत्मज (आत्मा), सात्म्यज, रसज तथा मन, ये छः भाव भाग लेते हैं। (च० शा० 3/3)। इन छः भावों के समुदाय से नवीन गर्भ की उत्पत्ति होती है। (च० शा० 3/11)।

मातृज (डिम्ब) एवं पितृज (शुक्राणु) भावों से गर्भ की स्थापना होती है तथा उनके साथ सात्म्यज एवं रसज भाव उसके विकास में सहायक होते हैं। आत्मा एवं मन द्वारा गर्भ शरीर में प्राणों का संचार होता है। मन आत्मा को

गर्भ शरीर से सम्बन्ध में प्रवृत्त करता है।

सत्वं जीवस्पृक् शरीरेणाभिसम्बध्नातीति।। च. शा. 3/22

गर्भ पिण्ड से मन और आत्मा का सम्बन्ध कब होता है, इसका समाधान इस प्रकार है कि डिम्ब एवं शुक्राणु का संयोग होते ही गर्भ का विकास प्रारम्भ हो जाता है। गर्भ के विकास काल में यह सम्बन्ध नहीं होता है क्योंकि एक शरीर में एक समय में एक से अधिक मन एवं आत्मा का निवास नहीं हो सकता है। गर्भ शरीर माता से पोषण प्राप्त करता हुआ अपना नियमित विकास करता है। गर्भ पिण्ड में प्रत्येक धातु का विकास एक साथ होता रहता है। रस एवं रक्त धातुओं की उत्पत्ति से गर्भ का अपना रक्तसंवहनतंत्र दिनोंदिन विकास की पूर्णता को प्राप्त करता जाता है। गर्भ के चतुर्थ मास में उसकी अस्थियों में रक्त मज्जा (red bone marrow) उत्पन्न हो जाती है अतः उसके द्वारा लोहित कोशिकाओं (R.B.C.) का निर्माण होने लगता है। परिणामस्वरूप गर्भ हृदय अपना क्षेपण कार्य करने लगता है परन्तु फुफ्फुसों के क्रियाशील न होने के कारण रक्त परिशुद्धि माता की रक्त संवहन प्रणाली द्वारा होती है। गर्भ हृदय के कार्य प्रारम्भ करते ही उसकी हृद्ध्वनि पृथक् से सुनाई देने लगती है। अब उस गर्भवती स्त्री को 'दौहृदनी' कहने लगते हैं। द्विहृदया कहने का अर्थ है कि अभी तक हम गर्भ हृदय को माता का ही अंग समझते हैं। गर्भ शरीर के स्वतन्त्र अस्तित्व को अब तक स्वीकारा नहीं गया है। अतः गर्भ के मन एवं आत्मा को माता के मन एवं आत्मा से पृथक् मानने का प्रश्न उत्पन्न नहीं होता है।

चरक संहिता में कहा गया है कि—

तृतीये मासि सर्वेन्द्रियाणि सर्वाङ्गावयवाश्च यौगपद्येनाभिनिर्वतन्ते। च. शा. 4/11

गर्भ के तीसरे मास में समस्त इन्द्रियां, अङ्ग एवं अवयव बन जाते हैं।

तथा सुश्रुत संहिता में इस प्रसंग में कहा गया है कि—

चतुर्थे सर्वाङ्गविभागः प्रव्यक्ततरो भवति। गर्भहृदयप्रव्यक्तिभावाच्चेतनाधातुरभिव्यक्तो भवति। कस्मात् ? तत्स्थानत्वात्। तस्माद् गर्भः चतुर्थे मास्यभिप्रायमिन्द्रियार्थेषु करोति। द्विहृदयां च नारीं दौहृदिनीमाचक्षते।।

च. शा. 3/21

चौथे मास में गर्भ शरीर में सम्पूर्ण अङ्ग प्रत्यङ्गों के विभाग अधिक स्पष्ट हो जाते हैं। गर्भ शरीर में हृदयगति होने लगती है। इस प्रकार चेतना धातु (आत्मा) की भी अभिव्यक्ति हो जाती है क्योंकि हृदय उसका स्थान है, इसी कारण चौथे मास में गर्भ शरीर की इन्द्रियां अपने विषयों में अपनी इच्छा प्रकट करने लगती हैं तथा दो हृदय युक्त उस स्त्री को दोहृदिनी कहते हैं।

उपरोक्त कथन से स्पष्ट है कि गर्भ शरीर में चौथे मास में आत्मा के प्रवेश की कल्पना इसलिए की गई कि गर्भ हृदयगति करने लगा और उसकी

ध्वनि पृथक् से सुनाई देने लगी। यह कल्पना कर ली गई है कि गर्भ में हृदयगति उस समय ही सम्भव है कि जब उसमें चेतना धातु का प्रवेश होगा। अन्य कोई कारण इस कल्पना का प्रतीत नहीं होता है। परन्तु जैसा कि हम ऊपर कह आए हैं कि गर्भ शरीर गर्भाशय में रहता हुआ माता के तन्त्रों पर पूर्ण निर्भर रहता है और अपने विकास की ओर अग्रसर होता चला जाता है। उस पर माता के स्वयं के मन एवं आत्मा द्वारा ही नियंत्रण रहता है। इस समय तक उसका अपना स्वयं का न तो मन होता है और न चेतना धातु अन्यथा चतुर्थ मास अथवा पञ्चम मास में गर्भाशय से बाहर वह जीवित रहना चाहिए था जहां उसमें आत्मा के लक्षण जीवन के लक्षणों के रूप में परिलक्षित होने चाहियें। परन्तु ऐसा सम्भव नहीं है। वास्तविकता यह है कि जब गर्भ का विकास पूर्ण हो जाता है एवं वह प्रत्येक प्रकार से अपना स्वतन्त्र अस्तित्व बनाये रखने में समर्थ हो जाता है उस समय पूर्व जन्म के कर्मों के अनुरूप पञ्चभूतात्मक (लिङ्ग) शरीर पर आसीन मन और उस पर आधारित चेतना धातु (आत्मा) उस गर्भ शरीर में प्रवेश करते हैं। आत्मा का गर्भ शरीर से सम्बन्ध स्थापित होते ही उसमें प्राणो का संचार हो जाता है एवं वह अपने स्वतन्त्र अस्तित्व के लिए संसार में प्रवेश के लिए आतुर हो जाता है। अतः माता को प्रसववेदना प्रारम्भ हो जाती है।

पूर्व जन्म के कर्मों में जो गुण (सत्व, रज, तम) उत्कृष्ट थे मन की प्रवृत्ति उसी प्रकार की रहती है और वह आत्मा को उसी प्रकार के गर्भ शरीर में प्रवृत्त कराता है अर्थात् यदि पूर्व जन्म में मन की प्रवृत्ति नीच कर्मों की ओर थी तो वह आत्मा को नवीन जन्म में नीच योनि के गर्भ में प्रविष्ट करायेगा। इसके विपरीत यदि मन की प्रवृत्ति शुभ कर्मों की ओर थी तो उस दशा में वह आत्मा का संयोग उच्च योनि के गर्भ से कराएगा। मन की इस प्रवृत्ति में आत्मा का नियंत्रण ही हेतु होता है। नवीन कर्म में प्रवेश कर आत्मा उसी प्रकार के सात्विक, राजस अथवा तामस गुणों को ग्रहण करने में मन को आकर्षित करता है।

तत्र पूर्वं चेतनाधातुः सत्त्वकरणो गुणग्रहणाय प्रवर्तते।।

च. शा. **4/7**

मन रूपी साधन के द्वारा आत्मा सात्विक, राजस अथवा तामस गुणों को ग्रहण के लिए प्रवृत होता है।

मन शब्द की व्युत्पत्ति—

'मन ज्ञाने' धातु से **मन्यते-ज्ञायते** इस विग्रह से मन शब्द बना है। इसका भाव है जिसके द्वारा ज्ञान की प्राप्ति हो वह मन है।

मनः (**मन्यते बुध्यते अनेन इति मनः**)। शब्दकल्पद्रुम— जिसके द्वारा ज्ञान की उत्पत्ति हो उसे मन कहते हैं या मन्यते ज्ञायते अनेन इति मनः।

मन के पर्याय—

चित्तम्, चेतः, हृदयम्, हृत्, मानसम्। अमर कोश

चित्त, चेंतः, हृदय, हृत् तथा मानस ये मन के पर्याय हैं।

अतीन्द्रियं पुनर्मनः सत्त्वसंज्ञकं चेत इत्याहुरेके।। च. सू. 8/21

मन अतीन्द्रिय है तथा सत्त्व एवं चेत भी इसकी संज्ञा हैं। जिसका ज्ञान इन्द्रियग्राही न हो उसे अतीन्द्रिय कहते हैं।

मन का स्वरूप—

गुण और कर्म जिसके आश्रित रहते हैं तथा जो गुण और कर्म का समवायी कारण है आयुर्वेद में उसे द्रव्य कहते हैं। (**यत्राश्रिताः कर्मगुणाः कारणं समवायि यत्। तद् द्रव्यम्।।** च. सू. 1/50)। इस परिभाषा के द्वारा नौ द्रव्य होते हैं। आकाश, वायु, तेज, जल, पृथिवी, आत्मा, मन, काल एवं दिशा (**खादीन्यात्मा मनः कालोदिशश्च द्रव्यसंग्रहः।** च. सू. 1/47)। ये द्रव्य अव्यक्त (alsiract) हैं। अतः स्वरूप में मन भी अव्यक्त है, इसका ज्ञान लक्षण द्वारा ही ग्राह्य है। (**अतोऽन्यत्पुनरव्यक्तलिङ्गग्राह्यमतीन्द्रियम्।** च. शा. 1/61)। इसी कारण मन की गणना अध्यात्मद्रव्यों में की जाती है।

मनो मनोर्थो बुद्धिरात्मा चेत्यध्यात्मद्रव्यगुणसंग्रहः शुभाशुभप्रवृत्तिनिवृत्तिहेतुश्च।। च. सू. 8/12

मन, मन के विषय (चिन्त्य, संकल्प आदि) बुद्धि (चक्षुर्बुद्धि, श्रोत्र बुद्धि, घ्राण बुद्धि, रसन बुद्धि, स्पर्शन बुद्धि तथा मनो बुद्धि) और आत्मा के अध्यात्मद्रव्य और गुण हैं। मन और आत्मा अध्यात्मद्रव्य है यथा मन के विषय तथा बुद्धि, ये अध्यात्म गुण हैं। ये शुभ और अशुभ की प्रवृत्ति एवं निवृत्ति में कारण हैं अर्थात् यदि इनके द्वारा प्राप्त ज्ञान सम्यक् है तो ये शुभ की प्रवृत्ति और अशुभ की निवृत्ति कराते हैं और यदि ज्ञान सम्यक् नहीं है तो ये शुभ की निवृत्ति तथा अशुभ की प्रवृत्ति के कारण होते हैं। इसलिए कहा है कि मन अतीन्द्रिय है। अतीन्द्रिय के दो अर्थ हैं, (1) इन्द्रियों के स्वरूप को अतिक्रान्त कर जाने वाला, (2) ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय दोनों से अतिरिक्त इन्द्रियत्व वाला। ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय दोनों भौतिक द्रव्य हैं जबकि मन अध्यात्म द्रव्य है। अतः अतीन्द्रिय कहलाता है। इसके स्वरूप आदि का ज्ञान इसके लक्षणों से अनुमान द्वारा जाना जाता है।

मन का स्थान–

आचार्य चरक ने मन का स्थान हृदय कहा है वे कहते हैं कि शरीर के छःओं अंग, विज्ञान (बुद्धि), इन्द्रियां (ज्ञानेन्द्रियां) और इनके पांचों के विषय, आत्मा, मन एवं मन के विषय, ये सब हृदय के आश्रित हैं।

षडंगमंगविज्ञानमिन्द्रियाण्यर्थपञ्चकम्।
आत्मा च सगुणश्चेतश्चिन्त्यं च हृदि संश्रितम्।। च. सू. 20/3

उन्माद तथा अपस्मार के प्रसंग में भी आचार्य कहते हैं कि दोष प्रकुपित होकर हृदय में पहुंचते हैं और वहां मनोवह स्रोतों को आच्छादित कर उन्माद उत्पन्न करते हैं (च. नि. 7/3) एवं रज तथा तम से अभिभूत मन वाले व्यक्तियों में आत्मा के श्रेष्ठ स्थान हृदय में जाकर प्रकुपित दोष स्थित हो जाते हैं ताकि अपस्मार को उत्पन्न करते हैं (च. नि. 8/3)। इस प्रकार आचार्य मन का स्थान हृदय कहते हैं। आचार्य सुश्रुत का भी ऐसा ही कथन है कि हृदय चेतना [आत्मा] का स्थान है और आत्मा एवं मन का नित्य का सम्बन्ध है। अतः जो स्थान चेतना का है वही स्थान (हृदय) मन का है। सु० शा. 4/31)।

आचार्य चरक ने यह भी कहा है कि जिस अवयव में प्राण एवं सम्पूर्ण इन्द्रियां आश्रित हैं वह सब अंगों में श्रेष्ठ शिर (मस्तिष्क) है। मस्तिष्क प्राणवायु का स्थान भी है। भेल संहिता चरक संहिता के समकालीन है। उसमें आचार्य भेल ने तो और भी स्पष्ट कह दिया है कि शिर एवं तालु के अन्तर्गत अर्थात् मस्तिष्क में, इन्द्रियों में श्रेष्ठ इन्द्रिय मन स्थित है एवं यहां पर स्थित मन इन्द्रियों के विषयों को निकटता से जानता है।

प्राणाः प्राणभृतां यत्राश्रिताः सर्वेन्द्रियाणि च।
यदुत्तमाङ्गमङ्गानां शिरस्तदभिधीयते।। च. सू. 7/11

प्राणोऽत्र मूर्धगः।
उरःकण्ठचरो बुद्धिहृदयेन्द्रियचित्तधृक्।। अ. हृ. सू. 12/4

शिरस्ताल्वन्तरगतं सर्वेन्द्रियपरं मनः।
तत्रस्थं तद्धि विषयानिन्द्रियाणां रसादिकान्।।
समीपस्थान्विजानाति।। भे. चि. 8.3

उपरोक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि मस्तिष्क शरीर का सबसे उत्तम अंग है तथा समस्त इन्द्रियों का अधिष्ठान है। मन तथा अन्य इन्द्रियों की क्रियाओं के नियामक प्राणवायु का भी यही स्थान है। वास्तविकता है कि मस्तिष्क में

आघात होने की दशा में इन्द्रियों के कार्यों में विकृति के साथ ही साथ मन के कार्यों में भी विकृति आ जाती है। मस्तिष्क (शिरोगत हृदय) पर तीव्र आघात से चेतना का विनाश हो जाता है और व्यक्ति चेतनाहीन हो जाता है। परन्तु हृदय (हार्ट) (उरोगत हृदय) उस समय भी सामान्य रूप से अपना कार्य करता रहता है। बालक के उत्पन्न होते समय उसके मस्तिष्क की कोशिकायें (cells) पूर्ण विकसित नहीं होती हैं और उसी के अनुरूप मन के कार्य भी पूर्ण विकसित नहीं होते हैं। मस्तिष्क कोशिकाओं के विकास का मानसिक प्रवृत्तियों से सीधा सम्बन्ध है। हृदय में आयु के साथ–साथ इस प्रकार का कोई परिवर्तन नहीं होता है। एक ही मनुष्य का मन बाल्यवस्था, किशोरावस्था, युवावस्था, प्रौढ़ावस्था तथा वृद्धावस्था में एक समान नहीं रहता है क्योंकि मन के साधन मस्तिष्क में आयु के साथ–साथ परिवर्तन होता रहता है। मन के कार्यरत रहने के समय मस्तिष्क कोशिकाओं के वैद्युत विभव में परिवर्तन हो जाता है। जबकि हृदयकोशिकाओं में इस प्रकार का कोई परिवर्तन नहीं होता है। आधुनिक शरीर शास्त्रवेत्ता इस निष्कर्ष पर पहुंच चुके हैं कि मस्तिष्कीय क्षेत्रों में अविकृत रहने पर ही मन का व्यापार यथावत् चलता रहता है और हृदय का इस व्यापार पर सीधा कोई प्रभाव नहीं है।

परन्तु जीवन की क्रियाओं के साथ हृदयगति का सीधा सम्बन्ध है। शरीर में होने वाली जीवन क्रियाओं का जब प्रत्यक्ष नहीं हो रहा होता है तब भी हृदय गति प्रत्यक्ष है। अतः चेतना के लक्षणों के साथ हृदय का सम्बन्ध जोड़ देना चिकित्सा की दृष्टि से ठीक है।

मन का कार्यक्षेत्र–

जीवन के लक्षण समस्त शरीरव्यापी होते हैं। अतः मन की क्रियायें भी समस्त शरीर में प्रकट होती हैं।

वातपित्तश्लेष्मणां पुनः सर्वशरीरचराणां सर्वस्रोतांस्ययनभूतानीति, तद्वदतीन्द्रियाणां पुनः सत्त्वादीनां केवलं चेतनावच्छरीरमयनभूतमधिष्ठानभूतं च।। च. वि. 5/5

सम्पूर्ण शरीर में विचरण करने वाले वात, पित्त, तथा श्लेष्मा के सब स्रोत मार्ग हैं उसी प्रकार अतीन्द्रिय मन आदि का समस्त चेतनावान् शरीर मार्गभूत तथा आश्रयभूत है अर्थात् सम्पूर्ण चेतनावान् शरीर मन की क्रियाओं का क्षेत्र है।

शरीरं नाम चेतनाधिष्ठानभूतं। च. शा. 6/3

समस्त चेतना की आश्रयभूत है। अतः मन की क्रियाओं का भी क्षेत्र है।

मन के लक्षण एवं गुण—

लक्षणं मनसो ज्ञानस्याभावो भाव एव च।
सति ह्यात्मेन्द्रियार्थानां सन्निकर्षे न वर्तते।।
वैवृत्यान्मनसो ज्ञानं सान्निध्यात्तच्च वर्तते।
अणुत्वमथ चैकत्वं द्वौ गुणौ मनसः स्मृतौ।। च. शा. 1/17, 18

लक्षण— एक साथ ज्ञान का अभाव (न होना) तथा भाव (होना) यह मन का लक्षण है अर्थात् एक काल में एक ही ज्ञान की उत्पत्ति होना (एक समय में एक ही इन्द्रिय से संयोग करना) मन का लक्षण है। आत्मा, इन्द्रिय और इन्द्रिय विषय के सन्निकर्ष को जब मन प्राप्त होता है उस समय ज्ञान की उत्पत्ति होती है। आत्मा, इन्द्रिय तथा इन्द्रिय विषय के संयुक्त होने पर भी यदि मन की वृत्ति (mode of mind) इनके साथ नहीं है तब ज्ञान नहीं होता है।

न्याय सूत्रकार ने मन के लक्षण अत्यन्त संक्षेप में कहे हैं कि एक साथ अनेक ज्ञानों की अनुत्पत्ति अभाव मन का लक्षण है।

युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिंगम्।। न्या. सू. 1/1, 16

विभिन्न इन्द्रियों द्वारा ग्रहण किए विभिन्न विषयों का ज्ञान मन को एक ही समय में नहीं होता है। जिस प्रकार सिनेमा के पर्दे पर एक के बाद दूसरा चित्र इतनी शीघ्रता से चलता है कि उसके मध्य का अन्तर नहीं जाना जा सकता है। इसी प्रकार मन इतना चंचल है कि वह विभिन्न विषयों से इतनी शीघ्रता से संयोग एवं वियोग करता है कि अन्तर का बोध नहीं होता है।

गुण— (1) अणुत्व और (2) एकत्व मन के ये दो गुण हैं। मन अणु (अत्यन्त सूक्ष्म) है और एक है। यदि प्रत्येक शरीर में एक से अधिक मनों की कल्पना करें अथवा उसे महत्परिमाण वाला (अणुत्व के विपरीत) मानें तो एक साथ अनेक ज्ञानों की सम्भावना होती परन्तु ऐसा नहीं होता है। अतः मन अणु तथा एक है।

स्वार्थेन्द्रियार्थसङ्कल्पव्यभिचरणाच्चानेकमेकस्मिन् पुरुषे सत्त्वं रजस्तमः सत्त्वगुणयोगाच्च; न च अनेकत्वं, नाण्वेकं ह्येककालमनेकेषु प्रवर्तते तस्मान्नैककाला सर्वेन्द्रियप्रवृत्तिः।। च. सू. 8/4

चिन्त्य, संकल्प आदि मन के अपने स्वयं के विषयों की विभिन्नता के कारण एवं इन्द्रियों के विषयों (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध) के भिन्न–भिन्न होने के कारण तथा सत्त्व, रज और तम इन तीनों गुणों के विभिन्न अनुपात में संयोग के कारण एक पुरुष के मन में एक होने पर भी अनेक प्रकार का दीखता है। वस्तुतः मन एक ही है अनेक नहीं, क्योंकि एक मन एक समय में अनेक विषयों मे नहीं जा सकता। अतः सब इन्द्रियों की एक साथ प्रवृत्ति नहीं होती है। मन के एक से अधिक होने पर एक समय में एक से अधिक इन्द्रिय विषयों का ज्ञान सम्भव होता।

यदि एक मनुष्य में एक से अधिक मन होते तो एक साथ विभिन्न इन्द्रियों से संयोग कर एक काल में अनेक ज्ञानों का प्रादुर्भाव होता परन्तु ऐसा नहीं होता।

है। इसी प्रकार यदि मन को अणु परिमाण के स्थान पर महत् परिमाण वाला माना जाता उस दशा में भी उसका संयोग अपने महत् परिमाण के कारण एक साथ विभिन्न इन्द्रियों से होना सम्भव होता और परिणामस्वरूप उसका संयोग एक ही काल में एक से अधिक इन्द्रियों तथा उनके विषयों से होता जिससे विभिन्न ज्ञानों की एक साथ उत्पत्ति सम्भव होती। परनतु ऐसा नहीं होता है। अतः एक मनुष्य में मन एक ही है और अुण रूप है तथा एक से अधिक इन्द्रियविषयों का एक समय में ज्ञान न होना इसका लक्षण है।

मन के विषय—

चिन्त्यं विचार्यमूह्यं च ध्येयं संकल्प्यमेव च।
यत्किंचिन्मनसो ज्ञेयं तत् सर्वं ह्यर्थसंज्ञकम्। च. शा. 1/19

चिन्त्य, विचार्य, ऊह्य, ध्येय, संकल्प्य तथा अन्य जो कुछ भी मन द्वारा ज्ञेय है, वे सब मन के विषय हैं।

चिन्त्य— मन के द्वारा जो कुछ भी चिन्तन किया जाता है वह चिन्त्य कहलाता है। चिन्ता का विषय ही चिन्त्य है। सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, स्मृति आदि विषय चिन्तन किए जाने के कारण मन के विषय हैं।

विचार्य— गुण दोषों की दृष्टि से जो कुछ विचारा जाता है वह विचार्य है।

ऊह्य— युक्ति द्वारा जिस पर तर्क किया जाए वह ऊह्य है। तर्क स्वयं यथार्थ ज्ञान नहीं है यदि यथार्थ रूप से न जानी हुई वस्तु के तत्त्व को समझाने के लिए प्रमाण पूर्वक विचार करें तो ऊह्य है। अतः युक्ति पूर्वक किया गया तर्क ऊह्य कहलाता है। जो यथार्थ ज्ञान का साधक होता है।

ध्येय— जिसका ध्यान किया जाये वह ध्येय है। हमारे मन में विभिन्न प्रकार के संस्कार उत्पन्न होते हैं तथा मन विभिन्न वृत्तियों से गुजरता है। इस सबकी परवाह न करके मन किसी एक ध्येयविशेष पर केन्द्रित हो जाता है। इसे ध्यान कहते हैं।

संकल्प्य— कर्त्तव्याकर्त्तव्य की कल्पना द्वारा जो कुछ निश्चय किया जाता है वह संकल्प्य है।

चिन्तन करना, विचार करना, ऊह्य, ध्यान, संकल्प आदि मन के इन्द्रिय निरपेक्ष व्यापार हैं। इसके लिए किसी बाह्य इन्द्रिय की (ज्ञानेन्द्रियों या कर्मेन्द्रियों) की सहायता की आवश्यकता नहीं होती है अतः ये मन के विषय कहलाते हैं।

मन की वृत्तियां

मनोवृत्ति एक मानसिक अनुभव है। यह स्थिति उस समय उत्पन्न होती है जब बाह्य उत्तेजनायें समाप्त हो जाती हैं और उनका प्रभाव शेष रह जाता है।

इस समय मनुष्य जो मानसिक चेष्टा करता है उसे मनोवृत्ति अथवा चित्तवृत्ति कहते हैं।

शरीर की क्रियाओं में वात, पित्त और कफ का जो स्थान है मन के कार्यों में वही स्थान त्रिगुण– सत्त्व, रज और तम का है। इन तीनों गुणों के न्यूनाधिक्य में जिस गुण का बाहुल्य होता है मन की वृत्ति उसी के अनुसार होती है।

यद्गुणं चाभीक्ष्णं पुरुषमनुवर्तते सत्त्वं, तत्सत्त्वमेवोपदिशन्ति ऋषयो बाहुल्यानुशयात्।। च. सू. 8/6

चंचलता के कारण मन जिस गुण का अनुवर्तन करता है, उस मनुष्य के मन को उसी गुण वाला कहा जाता है।

जब मन पर सात्विक गुण का बाहुल्य होता है तब सात्विक मन होता है यह सात्विक मनोवृत्ति का परिचायक है। रजोगुण के बाहुल्य पर राजस मन राजसमनोवृत्ति वाला तथा तमोगुण के बाहुल्य पर तामस मन तमोमनोवृत्ति वाला होता है।

सत्वं सुखे सञ्जयति रजः कर्मणि भारत।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत।। श्री. म. गी. 14/9

सत्वगुण मन को सुख में लगाता है, रजोगुण कर्म में लगाता है तथा तमोगुण ज्ञान को आच्छादित करके प्रमाद (आलस्य) में लगाता है।

मनोवृत्ति के प्रकार–

मनोवृत्ति दो प्रकार की होती है– (1) परिदृष्ट (प्रत्यक्ष) मनोवृत्ति तथा (2) अपरिदृष्ट (परोक्ष) मनोवृत्ति।

परिदृष्ट मनोवृत्ति–

परिदृष्ट तथा प्रत्यक्ष मनोवृत्ति के पांच कारण होते हैं।

वृत्तयः पंचतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः। प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रा-स्मृतयः।। यो. सू. 1/5

1. प्रमाण (सत्य ज्ञान), 2. विपर्यय (मिथ्या ज्ञान), 3. विकल्प (कल्पना), 4. निद्रा तथा 5. स्मृति।

1. **प्रमाण** – किसी विषय की सिद्धि के लिए अथवा रोग के ज्ञान के लिए तीन प्रकार हैं। (1) प्रत्यक्ष, (2) अनुमान तथा (3) आप्तोपदेश (आगम)।

(1) **प्रत्यक्ष**– जो ज्ञान मन और इन्द्रियों द्वारा प्राप्त किया जाता है उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। (**प्रत्यक्षं तु खलु तत् यत्स्वयमिन्द्रियैर्मनसा चोपलभ्यते।।**
च. वि. 4/5

निम्न वर्णित आठ कारणों से नेत्रों के सामने आने पर भी वस्तु का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त नहीं होता है।

(1) अति सन्निकर्ष (वस्तु का नेत्र के अति समीप होना), 2. अति

विप्रकर्ष (वस्तु का नेत्र से अति दूर होना), (3) आवरण (वस्तु के चारों ओर किसी प्रकार का आवरण होना), (4) इन्द्रियों की दुर्बलता, (5) मन का कहीं और होना, (6) समानाभिहार (समान आकृतियों की वस्तुओं का परस्पर मिल जाना), (7) अभिभव (पराभव— यथा सूर्य के प्रकाश में तारे दिखाई नहीं देते हैं) तथा (8) सूक्ष्म होने के कारण दिखाई नहीं देना। च० स० 11/8

(2) अनुमान— युक्ति की अपेक्षा करने वाले तर्क को अनुमान कहते हैं।

अनुमानं खलु तर्को युक्त्यपेक्षः।। च० वि० 4/5

(3) आप्तोपदेश— आप्त पुरुषों के वचनों को आप्तोपदेश कहते हैं।

आप्तोदेशो नाम आप्तवचनम्।। च० वि० 4/3

II. विपर्यय— किसी वस्तु के सम्बन्ध में होने वाले मिथ्या ज्ञान को विपर्यय कहते हैं (**विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्**। यो० सू० 1/8)। इसी को भ्रम भी कहते हैं। कभी—कभी सादृश्य वस्तु को देखकर भ्रम (मिथ्या ज्ञान) हो जाता है।

III. विकल्प— कल्पना मनोवृत्ति का नाम विकल्प है। इस स्थिति में वास्तविक जगत् के साथ एक प्रकार से सम्बन्ध नहीं रहता है। कल्पना में हम ऐसी वस्तुओं का निर्माण करते हैं जिनका हमने अनुभव भी नहीं किया होता है क्योंकि अनुभव की हुई वस्तुओं की कल्पना स्मृति कहलाती है। हमने स्वर्ग नहीं देखा है उसकी कल्पना करते हैं। देवताओं को भी नहीं देखा है परन्तु उनकी मूर्तियों की कल्पना करते हैं। इस प्रकार की मनोवृत्ति का कारण यह विकल्प स्थिति है।

IV. निद्रा— वह मनोवृत्ति है जिसमें तमोगुण का प्राधान्य रहता है। इसलिए इस स्थिति में जाग्रत तथा स्वप्नावस्था के अनुभव विलीन हो जाते हैं। निद्रावस्था में भी मन अपना कार्य करता रहता है परन्तु इस स्थिति में ज्ञानेन्द्रियों के विषय को ग्रहण नहीं कर सकता है। विषय का अभाव ही इस वृत्ति का आलम्बन है इसलिए निद्रा को **अभावप्रत्ययालम्बना वृत्ति** भी कहते हैं।

V. स्मृति— भूतकाल के संस्कारों को स्मरण करना स्मृति कहलाती है। किसी स्मृति (पुनः याद आने) के आठ कारण होते हैं।

1. निमित्त ग्रहण— कारक को देखकर कार्य का स्मरण होना निमित्त ग्रहण है यथा पुत्र को देखकर पिता का स्मरण होना।

2. रूप ग्रहण— आकृति, लिंग आदि देखकर उसी आकार, लिंग आदि की अन्य वस्तु का स्मरण होना।

3. सादृश्य— समानता के कारण अन्य वस्तु का स्मरण हो जाना। यथा समान आकृति के कारण पुत्र को देखकर पिता का स्मरण होना।

4. **सविपर्यय–** असमानता को देखकर उसके विपरीत गुण वाली वस्तु का स्मरण होना। यथा कुरूप को देखकर सुन्दर वस्तु का स्मरण होना।

5. **अभ्यास–** किसी बात का बार–बार अभ्यास करने से उसके संस्कार दृढ़ता से मन पर पड़ जाते हैं। अतः वह बात स्मरण रहती है।

6. **सत्त्वानुबन्ध–** मन को एकाग्र कर स्मरण करने से इच्छित वस्तु का स्मरण होना।

7. **ज्ञानयोग–** जब किसी वस्तुका सत्य ज्ञान हो जाता है। वह स्मरण रहती है।

8. **पुनःश्रुति–** भूली हुई वस्तु के सम्बन्ध में पुनः श्रवण कर पूर्व की स्मृति जाग्रत हो जाती है।

अपरिदृष्ट मनोवृत्ति–

जिन वस्तुओं का प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सके परन्तु वस्तु के अस्तित्व मात्र का ज्ञान आगम (आप्तोपदेश अथवा अनुमान) द्वारा जाना जा सके, ऐसा होना अपरिदृष्ट मनोवृत्ति के कारण है। अपरिदृष्ट मनोवृत्ति सात प्रकार की होती है।

निरोधधर्मसंस्काराः परिणामोऽथ जीवनम्।

चेष्टा शक्तिश्च चित्तस्य धर्मा दर्शनवर्जिताः।। यो० स० 3/15

निरोध, धर्म, संस्कार, परिणाम, जीवन, चेष्टा और शक्ति ये सात चित्त के ऐसे धर्म हैं जिनका प्रत्यक्ष नहीं होता है।

[1] **निरोध–** निरोध का अर्थ है मन पर नियन्त्रण होना। यह मन की वह अवस्था है जिससे संस्कार समाप्त हो जाते हैं अतः मनोवृत्ति उत्पन्न ही नहीं होती है। सामान्यतः हमारी मनोवृत्ति इस उच्च स्तर पर नहीं होती है।

[2] **धर्म–** मन पर करने के योग्य (पुण्य) तथा अयोग्य (पाप) कर्मों का प्रभाव पड़ता है जो आगम और अनुमान द्वारा सुख और दुःख की अनुभूति के रूप में जाना जाता है। धार्मधर्म के निश्चय के अनुसार ही हमारी मनोवृत्ति बन जाती है।

[3] **संस्कार–** जो कुछ करते हैं उसका संस्कारों के रूप में मन पर प्रभाव पड़ता है। संस्कारों से ही स्मृति का निर्माण होता है तथा स्मृति से संस्कारों की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार यह क्रम चलता रहता है। बिना संस्कार के स्मृति का विकास नहीं होता है। संस्कारों के अनुसार ही मनोवृत्ति बनती है।

[4] **परिणाम–** मन त्रिगुणात्मक है। कभी किसी गुण की प्रधानता हो जाती है और कभी किसी दूसरे गुण की। इस प्रकार सत्त्व, रज और तम का प्रभाव मन पर पड़ता रहता है तथा उसी के अनुरूप हमारी मनोवृत्ति भी बदलती रहती है।

[5] जीवन– जीवित शरीर में हृदय गति, श्वासोच्छ्वास आदि क्रियायें निरन्तर होती रहती हैं। इनके द्वारा भी मनोदशा का ज्ञान होता है, यथा आवेश आदि के समय हृदय तथा श्वासोच्छ्वास गति बढ़ जाती है तथा विषाद के समय इसके विपरीत प्रभाव पड़ता है। श्वास–प्रश्वास पर ही नहीं वाणी, भोजन–पाचन, मल–मूत्र त्याग आदि पर भी मनोवृत्ति का प्रभाव पड़ता है। अतः केवल प्राण वायु ही नहीं उदान, व्यान, समान और अपान वायु का भी मन पर प्रभाव पड़ता है।

[6] चेष्टा– प्रयत्न का नाम चेष्टा है। मानसिक रूप से जो प्रयत्न किये जाते हैं उनको अनुमान द्वारा ही जाना जा सकता है, यथा विना मन के प्रयत्न के इन्द्रियां विषयों को ग्रहण करने में असमर्थ हैं।

[7] शक्ति– प्रत्येक व्यक्ति में शारीरिक शक्ति के समान ही मानसिक शक्ति भी पृथक्–पृथक् होती है। शारीरिक शक्ति के रूप में निर्बल व्यक्ति भी मानसिक शक्ति में सबल हो सकते हैं। मानसिक शक्ति को इच्छाशक्ति, मनोबल (will power) कहते हैं। सबल इच्छाशक्ति उत्तम मानसिक कर्मों का द्योतक है।

मन के कर्म–

इन्द्रियाभिग्रहः कर्म मनसस्त्वस्य निग्रहः।

ऊहो विचारश्च ततः परं बुद्धिः प्रवर्तते।।

मन के कर्म हैं– [1] इन्द्रियाभिग्रह– इन्द्रियों में अधिष्ठित होना तथा उन्हें नियन्त्रण में रखना, [2] स्वनिग्रह– स्वयं अपने ऊपर नियंत्रण रखना, [3] ऊह तथा [4] विचार करना। मन के इन कर्मों के पश्चात् बुद्धि [निश्चयात्मक निर्णय] प्रवृत्त होती है।

[1] इन्द्रियाभिग्रह– ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों पर मन अपना अधिकार चलाता है और उन्हें अपने नियन्त्रण में रखता है। ज्ञानेन्द्रियां बाह्य उत्तेजनाओं से प्रभावित होती हैं। इस प्रकार मन ज्ञानेन्द्रियों द्वारा बाह्य जगत् के सम्पर्क में आकर विविध प्रकार के ज्ञान, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धादि का सम्पादन करता है। इन्द्रियां संवेदी तंत्रिकाओं [sensory nerves] द्वारा इन उत्तेजनाओं से प्राप्त संवेदनाओं को मस्तिष्क में स्थित अपने–अपने केन्द्रों तथा सहायक केन्द्रों पर ले जाकर उन्हें प्रभावित करती हैं। यह प्रभाव किस मात्रा में ग्रहण किया जाए तथा किस मात्रा में छोड़ दिया जाए इसका सम्पादन तथा नियन्त्रण मन करता है।

कर्मेन्द्रियों द्वारा विभिन्न प्रकार की शारीरिक चेष्टाओं का सम्पादन तथा नियन्त्रण भी मन करता है। कर्मेन्द्रियों का सम्बन्ध प्रेरक तंत्रिकाओं [motor

nerves] द्वारा मस्तिष्क से रहता है जहां से मन द्वारा उन्हें कार्य के लिए निर्देशन प्राप्त होते रहते हैं।

इस प्रकार शरीर में होने वाली प्रत्येक संवेदी तथा प्रेरक क्रिया पर मन का सीधा नियन्त्रण रहता है।

[2] **स्वनिग्रह–** मन स्वयं पर भी नियन्त्रयण रखता है। अपने किस विषय से किस समय संयोग करे और किससे न करे यह निर्णय वह स्वयं करता है। मन का अपने पर पूर्ण नियन्त्रण रखना यद्यपि बड़ा दुष्कर है परन्तु असम्भव नहीं। यद्यपि मन अत्यन्त चंचल और गतिमान् है, फिर भी जितना मनोबल सबल होता है उतना ही मन की एकाग्रता का कार्य सरल हो जाता है।

[3] **ऊह तथा विचार–** युक्तियुक्त तर्क [ऊह] द्वारा चिन्तन के विषय [चिन्त्य] तथा ध्यान के विषय [ध्येय] पर विचार कर निश्चय के लिए बुद्धि को प्रदान करना मन का इन्द्रिय निरपेक्ष व्यापार है। इसके परिणामस्वरूप ही ज्ञान की प्राप्ति होती है।

मन के इन उपरोक्त वर्णित कर्मों को तीन विभागों में रखा जा सकता है।

1. संज्ञात्मक कर्म [cognitive function बुद्धिप्रधान कर्म]
2. भावात्मक कर्म [affective function भावनाप्रधान कर्म] तथा
3. चेष्टात्मक कर्म [conative function शारीरिक चेष्टाप्रधान कर्म]

संज्ञानात्मक कर्म

यह मन का बुद्धिप्रधान कर्म है। पांचों ज्ञानेन्द्रियां अपने–अपने विषय को ग्रहण कर उनका मन से सान्निध्य कराती हैं। मन उन पर संकल्प विकल्प कर बुद्धि को सौंप देता है। बुद्धि विचार तथा संकल्पों का विवेचन कर निश्चयात्मक निर्णय लेती है। इन निर्णयों से ही संस्कारों की उत्पत्ति होती है तथा संस्कारों से स्मृति बनती है। इस प्रकार समस्त ज्ञान व्यापार बुद्धि के अधीन रहता है। बुद्धि को, इसिलए ज्ञान के अर्थ में भी प्रस्तुत करते हैं। समस्त व्यवहारों का कारण जो ज्ञान है, वह बुद्धि है, **[सर्वव्यवहारहेतुर्ज्ञानं बुद्धिः।।]** अथवा शरीर में अर्थ [विषयों] का ज्ञान बुद्धि है **[अर्थप्रकाशो वा बुद्धिः।।]**

मन से युक्त इन्द्रियां अपने विषय को ग्रहण करती हैं [इससे जो ज्ञान होता है वह निर्विकल्पक होता है] तदनन्तर मन के द्वारा उसके गुण, दोष की कल्पना की जाती है। अर्थात् मन, उसके गुण–दोष के अनुसार विचार करता है। इस प्रकार विचार के पश्चात् उस विषय में निश्चयात्मक बुद्धि उत्पन्न होती है उसके द्वारा व्यक्ति बुद्धिपूर्वक कहने अथवा करने का निश्चय करता है।

इन्द्रियेणेन्द्रियार्थो हि समनस्केन गृह्यते।
कल्प्यते मनसाऽप्यूर्ध्वं गुणतो दोषतो यथा।।

जायते विषये तत्र या बुद्धिर्निश्चयात्मिका।
व्यवस्यति तथा वक्तुं कर्तुं वा बुद्धिपूर्वकम्।।च० शा० 1/21, 22

आचार्य चरक ने अन्तःकरण की गणना में चित्त तथा अंहकार को छोड़ते हुए केवल मन और बुद्धि का ही समावेश किया है। अतः उपरोक्त वर्णन में केवल मन और बुद्धि का ही वर्णन किया गया है। बुद्धि जब निश्चय करने पर उद्यत होती है कि अमुक ग्रहण करना है तथा अमुक छोड़ना है ऐसा वह अहंकाराधीन ही करती है। अतः बुद्धि के इस व्यापार में अहंकार का भी ग्रहण हो जाता है। वास्तव में मन के विभिन्न कार्यों के लिए ही ये विभिन्न संज्ञायें प्रदान की गई हैं। जब किसी बात पर संकल्प विकल्प की स्थिति होती है तो मन का कार्य होता है, जब निश्चयात्मक स्थिति होती है तो कर्त्ता को बुद्धि कहते हैं। स्मरणात्मक स्थिति को चित्त द्वारा किया हुआ कहते हैं तथा ममत्वभाव को अहंकार द्वारा किया हुआ मानते हैं।

रजोगुण के कारण ही बुद्धि कार्य में प्रवृत्त होती है। उस समय यदि रजोगुण के साथ सत्व गुण प्रधान होता है तो सात्विक बुद्धि कहलाती है। सात्विक बुद्धि धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा ऐश्वर्य का ज्ञान कराती है। यदि तमोगुण प्रधान है तामसिक बुद्धि अधर्म, अज्ञान तथा अनैश्वर्य ज्ञान का कारण होती है। अतः बुद्धि ही समस्त संस्कारों का अधिष्ठान है। बुद्धि के इस जन्म में सात्विक होने पर भी वह पूर्व जन्म के संस्कारों के कारण राजसिक अथवा तामसिक भी हो सकती है।

बुद्धि द्वारा उत्पन्न ज्ञान दो प्रकार का होता है। [1] संस्कारजन्य ज्ञान स्मृति है तथा [2] इससे भिन्न ज्ञान अनुभव कहलाता है।

अनुभव भी दो प्रकार का होता है– 1. यथार्थ, [true] तथा 2. अयथार्थ [false] यथार्थ अनुभव को प्रमा अथवा विद्या कहते हैं। प्रमा प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आप्तोपदेश द्वारा उत्पन्न होती है। बुद्धि द्वारा पदार्थ ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती है तब अयथार्थ ज्ञान [अज्ञान] की उत्पत्ति होती है अथवा विषय रूप में कर्मों में प्रवृत्त होती है। इसे आयुर्वेद प्रज्ञापराध मानता है। प्रज्ञापराध को मन की दशा द्वारा जान सकते हैं।

बुद्ध्या विषमविज्ञानं विषमं च प्रवर्तनम्।
प्रज्ञापराधं जानीयान्मनसो गोचरं हि तत्।। च. शा. 1/108

मनो अधिष्ठित इन्द्रियां अपने–अपने विषय के अतियोग, अयोग अथवा मिथ्या योग से विकृत हुई अपनी–अपनी बुद्धि (श्रोत्रबुद्धि, स्पर्शनबुद्धि, चक्षुर्बुद्धि,

रसनबुद्धि, घ्राणबुद्धि) का संहार करती हैं जिससे अयथार्थ ज्ञान उत्पन्न होता है। इसे विपरीत प्राकृतावस्था में रहती हुई ये इन्द्रियां अपनी–अपनी बुद्धि का सन्तर्पण करती हैं उससे यथार्थ ज्ञान की उत्पत्ति होती है।

तदर्थातियोगायोगमिथ्यायोगात् समनस्कमिन्द्रियं विकृतिमापद्यमानं यथास्वं बुद्ध्युपघाताय सम्पद्यते, समयोगात् पुनः प्रकृतिमापद्यमानं यथास्वं बुद्धिमाप्याययति।

च० सू० 8/15

पाश्चात्य तत्त्वज्ञानशास्त्री बुद्धि की परिभाषा अनेक प्रकार से करते हैं। यथा (1) बिने (Binet) तथा साइमन की परिभाषा– निर्णय (Judgement) विवेक (good sense), उपक्रम (initiative), समझने की योग्यता (ability to *comprehend*), युक्तियुक्त तर्क (*to reason*) और परिस्थितियों के अनुकूल अपने को व्यवस्थित रखने की मानसिक शक्ति (will to a adopt one's self to circumstances) ही बुद्धि (intelligence) है।

(2) **टरमैन की परिभाषा**– अव्यक्त अमूर्त–abstract) वस्तुओं के विषय में सोचने की योग्यता बुद्धि है।

(3) **वाकिंघम की परिभाषा**– सोचने की शक्ति बुद्धि है।

(4) **थार्स्टोन के अनुसार** बुद्धि नौ प्रारम्भिक मानसिक योग्यताओं से उत्पन्न होती है। ये योग्यतायें इस प्रकार हैं। [1] चाक्षुष अथवा दैशिक योग्यता [visual spatial ability], [2] प्रत्यक्ष ज्ञान योग्यता [preceptual ability] [3] सांख्यिक योग्यता [numerical ability], [4] तर्क संगीत अथवा शाब्दिक योग्यता (logical or verbal ability) [5] शब्दों के प्रयोग में धारा–प्रवाहिता [fluency with words], [6] स्मृति [memory], [7] आगमनात्मक योग्यता [inductive ability], [8] समस्या के हल पर नियन्त्रण की योग्यता [ability to restrict the solution of a problem]।

थार्स्टोन का मत है कि किसी कार्य को करने के लिए इन नौ योग्यताओं के संयोजन की आवश्यकता पड़ती है। इनमें कुछ ऐसी योग्यतायें भी हैं जिनकी किसी विशेष कार्य में अन्य की अपेक्षा अधिक आवश्यकता होती है तथा गणित के अध्ययन में संख्यात्मक, आगमनात्मक तथा निगमनात्मक योग्यताओं की अन्य की अपेक्षा अधिक आवश्यकता होती है।

[5] थॉर्न डाइक के अनुसार बुद्धि तीन प्रकार की होती है।

1. अमूर्त बुद्धि [abstract intelligence], 2. सामाजिक बुद्धि [social intelligence] तथा 3. यान्त्रिक बुद्धि [mechanical intelligence]।

अमूर्त बुद्धि– पुस्तकों के पढ़ने से जो ज्ञान प्राप्त होता है उसे व्यवस्थित रखने की योग्यता अमूर्त बुद्धि है। जिस छात्र में इस प्रकार की बुद्धि प्रबल होती है वह विद्यालयों के ज्ञानोपार्जन के वातावरण में अधिक सफल होता है। कोई व्यक्ति अमूर्त बुद्धि से किस मात्रा में युक्त है वह निम्न प्रकार से ज्ञात हो सकता है।

1. बौद्धिक कार्यों में आने वाली कठिनाइयों के प्रति वह किस स्तर तक सफल हो सकता है।

2. समान कठिनाई के विविध बौद्धिक कार्यों की संख्या, जिन्हें वह करता है।

3. वेग तथा गति, जिससे वह उन कार्यों को करता है।

इस प्रकार अमूर्त बुद्धि त्रिमुखी होती है– स्तर क्षेत्र तथा गति उसकी तीन विभिन्न विधा (demensions) हैं।

यदि अमूर्त बुद्धि में किसी प्रकार की न्यूनता है तो इसका तात्पर्य यह नहीं है कि अन्य दोनों प्रकार की बुद्धियां भी निम्न स्तर पर होंगी। अमूर्त बुद्धि का स्तर व्यक्ति विशेष के अनुभव करने, समझने तथा स्मृति में रखने की योग्यता पर आधारित है।

सामाजिक बुद्धि– अपने को समाज के अनुकूल व्यवस्थित रखने की योग्यता, दूसरों के साथ प्रभावपूर्ण व्यवहार करने की क्षमता, दूसरों के साथ सदाचार बरतने, समाज में रहने, सामाजिक कार्यों में रुचि लेने की बुद्धि को सामाजिक बुद्धि कहते हैं।

समाज में रहते हुए सफल जीवन व्यतीत करने के लिए सामाजिक बुद्धि की नितान्त आवश्यकता होती है। जिस व्यक्ति में सामाजिक बुद्धि जितनी अधिक होती है वह समाज में उतना ही सफल होता है। जिन व्यक्तियों में अमूर्त बुद्धि अत्यन्त प्रबल परन्तु सामाजिक बुद्धि का अभाव होता है वे जीवन में पूर्णरूप से सफल नहीं होते हैं। प्रायः सामाजिक बुद्धि तथा अमूर्त बुद्धि का विकास साथ–साथ होता है।

यान्त्रिक बुद्धि– यह वह बुद्धि है जिसके द्वारा व्यक्ति उन परिस्थितियों में जिनका सम्बन्ध यन्त्रों तथा अन्य भौतिक वस्तुओं से होता है कम प्रयत्न में ही सुव्यवस्थित कर लेता है। बहुत से व्यक्ति अभ्यास के उपरान्त भी यन्त्रों में अभ्यस्त नहीं होते हैं तथा अन्य थोड़े से प्रयत्न से ही कुशल इंजीनियर बन जाते हैं। प्रायः प्रबल यान्त्रिक बुद्धिसम्पन्न व्यक्ति अच्छे खिलाड़ी भी होते हैं।

बुद्धि की परीक्षा– बुद्धि का मापन व्यक्ति की नीचे लिखी योग्यताओं के अनुसार किया जाता है।

1. नवीन बातें सीखने की योग्यता।

2. नवीन समस्याओं एवं परिस्थितियों में अपने ज्ञान के समुचित प्रयोग करने की योग्यता।

3. विविध समस्याओं के सारभूत तत्त्वों को पहचानने की योग्यता तथा

4. सम्यक् तर्क की योग्यता।

पाश्चात्य् दर्शनशास्त्री बुद्धि तथा ज्ञान को पृथक्–पृथक् मानते हैं। उनका कथन है कि बालक की बुद्धि उसकी आयु के साथ बढ़ती परन्तु किशोर अवस्था में एक आयु पर आकर उसका विकास रुक जाता है। जिस आयु पर आकर यह विकास रूकता है वह ठीक–ठीक बताना कठिन है क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति में यह पृथक्–पृथक् है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि इस आयु के उपरान्त मानसिक अभिवृद्धि नहीं होती है। परन्तु बाद में बुद्धि नहीं वरन् ज्ञान बढ़ता है। इस प्रकार ज्ञान एक अर्जित शक्ति है तथा बुद्धि जन्मजात योग्यता है। संक्षेप में प्रत्येक प्रकार में सोच–विचार के पश्चात् मन द्वारा किया गया कर्म संज्ञानात्मक कर्म कहलाता है।

भावात्मक कर्म

समय–समय की मानसिक क्रियाओं में तीनों संज्ञानात्मक, भावात्मक तथा चेष्टात्मक कर्मों में जो भी कर्म प्रबल होता है उसी के अनुसार वह प्रमुख रूप ग्रहण कर लेता है। एक प्रक्रिया के प्रमुख होने का तात्पर्य यह नहीं है कि अन्य दोनों पक्ष शून्य हैं। अन्य दोनों प्रकार के व्यापार भी चलते रहते हैं परन्तु उस कर्मविशेष में उनकी स्थिति गौण होती है।

हम जब किसी बात को सुनते हैं अथवा देखते हैं, उस समय मन के ऊपर प्रसन्नता अथवा अप्रसन्नता के रूप में प्रभाव पड़ता है और उसी के अनुसार मन में भाव उत्पन्न होते हैं। प्रसन्नता में सुख तथा अप्रसन्नता में दुःख की उत्पत्ति होती है। इन संवेदनाओं के व्यक्त प्रभाव को भावना (feeling) कहते हैं। जब हमारी इच्छाओं की संतुष्टि हो जाती है हमें सुख और जब सन्तुष्टि नहीं होती है दुःख होता है।

भावनाओं की उत्पत्ति में संज्ञानात्मक तथा चेष्टात्मक मानस व्यापार भी भाग लेते हैं। संज्ञानात्मक व्यापार द्वारा जब प्रसन्न करने वाले किसी निश्चयात्मक ज्ञान की प्राप्ति होती है तब सुख की अनुभूति तथा विपरीत अप्रसन्नता के हेतु निश्चयात्मक ज्ञान की उपलब्धि होने पर दुःख की अनुभूति होती है। संज्ञानात्मक कर्म में प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आप्तोपदेश निश्चय पर पहुंचाने में सहायक होते हैं। फलस्वरूप यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति होती है। भावात्मक व्यापार में इन प्रमाणों तथा बाह्य करणों की अनिवार्यता नहीं है जबकि चेष्टात्मक कर्म में बाह्यकरण अनिवार्यतः भाग लेते हैं।

हमें सुख अथवा दुःख की उपलब्धि पूर्व के संस्कारों से प्राप्त अनुभव के कारण भी होती है। अतः जिस व्यक्ति की स्मृति नष्ट हो जाती है उसे सुख अथवा दुःख की अनुभूति नहीं होती है। इसलिए न्याय दर्शन भावना को एक संस्कार मानता है जो अनुभव से उत्पन्न होता है तथा स्मृति का हेतु है।

भावनाओं की अपनी कुछ विशेषताएं हैं—

1. भावनाओं का विश्लेषण नहीं हो सकता है।

2. वे चंचल तथा क्षणिक होती हैं। एक भावना शीघ्र समाप्त हो सकती है और उसके स्थान पर दूसरे प्रकार की भावना की अनुभूति हो सकती है। सुख के बाद दुःख और दुःख के बाद सुख का अनुभव हो सकता है।

3. सुख और दुःख का अनुभव मन सहित समस्त शरीर द्वारा होता है। अनुभव करने वाली आत्मा है।

4. एक साथ ही एक से अधिक भावनाओं की अनुभूति नहीं हो सकती। ऐसा कभी नहीं होता है कि सुख और दुःख की अनुभूति एक साथ हो।

5. प्रत्येक भावना की मात्रा भी एक समान नहीं है। भावना किसी समय बड़ी प्रबल होती है और वही अन्य समय अत्यन्त निर्बल हो सकती है।

6. भावनायें सदैव किसी संवेदना के पश्चात् व्यक्त होती हैं। संवेदनायें मन द्वारा अथवा ज्ञानेन्द्रियों द्वारा उत्पन्न होती हैं। स्मृति, चिन्तन, विचारण, संकल्प आदि मन के विषयों द्वारा उत्पन्न भावनाओं को पाश्चात्य मानसशास्त्री आदर्श भावनायें (Ideal feelings) कहते हैं।

संवेदनायें अर्थ को प्राप्त करने की इच्छा अथवा अनभिप्रेत को छोड़ने की अनिच्छा पर आश्रित होती है। अनिच्छा द्वारा भय, क्रोध, घृणा आदि भावनायें उत्पन्न होती हैं।

इच्छायें तीन प्रकार की होती हैं।

इह खलु पुरुषेणानुपहतसत्त्वबुद्धिपौरुषपराक्रमेण हितमिह चामुष्मिंश्च लोके समनुपश्यता तिस्त्र एषणा पर्येष्टव्या भवन्ति। तद्यथा-प्राणैषणा, धनैषणा, परलोकैषणेति।।

इन लोक ओर परलोक में हित की आकांक्षा रखने वाले मन, बुद्धि और पराक्रम से सम्पन्न व्यक्ति को तीन एषणाओं (इच्छाओं) की लालसा होती है। **यथा प्राषैणा, धनैषणा तथा परलोकैषणा।**

इनमें प्राणैषणा सबसे प्रबल होती है। अतः मुख्य है क्योंकि धन और परलोक की इच्छा जीवित प्राणी ही कर सकता है। इच्छा पूर्ति होने पर सुख, शान्ति और विराम की उत्पत्ति होती है तथा अपूर्ति में दुख, उद्दीपन तथा विक्षेप उत्पन्न होते हैं, इस दृष्टिकोण से भावनाओं को तीन वर्गों में रख सकते हैं—

1. सुखात्मक भावाना अथवा दुःखात्मक भावना (pleasant or unpleasant feeling)।

2. शान्त भावना अथवा उत्तेजक भावना (feeling of clam or excite)

3. विराम (भार मुक्त) भावना अथवा तनाव युक्त भावना (feeling of relief or tension)।

भावनाओं के उत्पन्न होने पर शरीर की आभ्यन्तर क्रियाओं में भी परिवर्तन हो जाता है।

1. **श्वासगति में परिवर्तन**– भावनाओं के उत्पन्न होने पर श्वासगति सामान्य की अपेक्षा अधिक अथवा कम हो जाती है। विषाद की अवस्था में कम और क्रोध आदि की अवस्था में गति बढ़ जाती है।

2. **हृद्‌गति में परिवर्तन**– हृद्‌गति पर भी भावनाओं का प्रभाव श्वास–गति के समान पड़ता है। जब श्वास गति धीमी हो जाती है, हृदय की गति भी मन्द हो जाती है। श्वास गति के बढ़ने पर हृद्‌गति भी अधिक हो जाती है। हृद्‌गति के इस परिवर्तन का प्रभाव रक्तसंवहन, रक्तदाब तथा रक्त के रासायनिक संगठन पर भी पड़ता है। रासायनिक संगठन में परिवर्तन का उदाहरण है कि क्रोध के समय रक्त में एड्रेनेलीन (अधिवृक्क ग्रन्थि का स्राव) की मात्रा अधिक हो जाती है।

3. **चयापचय (metabolism) में परिवर्तन**– भावनाओं का प्रभाव शरीर में होने वाली चयापचय क्रियाओं पर भी पड़ता है। विषाद में चयापचय क्रिया की गति धीमी तथा प्रसन्नता में तीव्र हो जाती है। ऐसा ही प्रभाव पाचनतन्त्र पर भी पड़ता है।

4. भावनाओं के उत्पन्न होने पर शरीर के बाह्य व्यवहार में भी परिवर्तन हो जाता है।

क) **मुखाकृति द्वारा अभिव्यक्ति (facial expression)**— मुख की आकृति को देखकर समझा जा सकता है कि व्यक्तिविशेष में किस प्रकार की भावनाएं उत्पन्न हो रही हैं। प्रसन्नता के समय मुखाकृति शांत तथा प्रसन्न रहती है तथा क्रोध आदि के समय भौंहें चढ़ जाती हैं होंठ फड़कने लगते हैं, माथे पर पसीना आ जाता है आदि।

ख) **वाणी द्वारा अभिव्यक्ति (vocal expression)**— भावनाओं के समय व्यक्ति की वाणी में भी परिवर्तन हो जाता है। विषाद में रोना, कराहना, क्रोध में चिल्लाना, चीखना, प्रसन्नता में हंसना तथा प्रेमविभोर होने पर वाणी का मधुर और सरस हो जाना आदि।

ग) **संस्थिति सम्बन्धी परिवर्तन (postural changes)—**

भावनाओं की उत्पत्ति के समय शरीर की संस्थिति में भी परिवर्तन हो जाता है। यथा क्रोध में खड़े हो जाना, हाथ–पैर फैंकने लगना, भय में छिपकर बैठ जाना अथवा भाग खड़े होना, दुःख के समय शरीर का झुक जाना तथा प्रसन्नता में शरीर का तन जाना आदि।

किसी एक प्रकार की भावना के शीघ्र–शीघ्र उत्पन्न होते रहने की दशा में उसी प्रकार के स्थायी संस्कार बन जाते हैं और तदनुसार मनोवृत्ति भी उसी प्रकार की बन जाती है। जिस व्यक्ति पर बार–बार दुःख पड़ता है उसकी मनोवृत्ति दुःखप्रधान बन जाती है, सामान्य प्रसन्नता में भी उस व्यक्ति पर दुःख की भावना छाई रहती है।

हीन अथवा पराहम्भाव— मन के व्यापार रूपी संस्कारों द्वारा स्मृतियां संचित होती हैं और ये स्मृतियां समय–समय पर भावनाओं के रूप में प्रकट होती रहती हैं, जैसा हम ऊपर बता आए हैं। मनुष्यों की अनेक इच्छायें समाज और नैतिकता के विरुद्ध भी होती हैं और हम स्मृति रूप में उन्हें संजोए रहते हैं। पाश्चात्य मानस शास्त्री मन को दो प्रकार का मानते हैं– 1. अचेतन (unconscious) मन अैर 2. चेतन (conscious) मन। स्मृतियां अचेतन मन में संग्रहीत रहती हैं और अचेतन रूप से हमारी मानसिक वृत्तियों को प्रभावित करती रहती हैं। जब ये स्मृतियाँ अधिक प्रबल हो जाती हैं तथा व्यक्ति उनको और अधिक अचेतन मन में नहीं रख सकता है तो इसके फलस्वरूप व्यक्ति में दो प्रकार की प्रतिक्रियायें होती हैं।

1. वह व्यक्ति अपनी इन भावनाओं की पूर्ति हेतु समाजविरोधी अनैतिक कार्य करने लगता है, अथवा

2. इनकी पूर्ति हेतु समाज द्वारा स्वीकृत मार्ग को अपनाने की चेष्टा करता है। जब वह ऐसा नहीं कर सकता है तो उसमें हीन भाव (inferiority complex) का विकास हो जाता है।

जिन बालकों को जीवन के प्रारम्भ में निराशा मिलती है अथवा कठोर व्यवहार प्राप्त होता है, उनके अचेतन मन में विद्रोह के संस्कार एकत्रित हो जाते हैं वे या तो समाज तथा नैतिकता विरोधी बन जाते हैं अथवा अपने को हीन समझने लगते हैं। जिससे वे अत्यन्त लज्जालु और हर समय चिन्तित मुद्रा में रहनेवाले बन जाते हैं। उन्हें हर समय भय बना रहता है कि कहीं कोई गलत कार्य तो नहीं कर रहे हैं।

कुछ ऐसे भी व्यक्ति होते हैं जो अपने को श्रेष्ठ समझते हैं। उनमें पराहम्भाव (superiority complex) उत्पन्न हो जाता है। ये व्यक्ति दूसरों

को तुच्छ और अपने को उच्च स्तर का मान बैठते हैं। ऐसे व्यक्ति भी समाज में प्रायः असफल रहते हैं क्योंकि वे अपने सामने अन्य किसी के महत्त्व को नहीं आंकते हैं। पराहम्भाव वास्तव में हीन भाव का ही दूसरा रूप है। ऐसे व्यक्ति अपनी हीनता की पीड़ा हो छिपाने के लिए श्रेष्ठता की आड़ ले लेते हैं।

इस प्रकार भावनाओं का मानसिक कार्यों पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है। यहीं नहीं, इस जन्म में किए गए भावनाप्रधान कर्मों का आगामी जन्म पर भी प्रभाव पड़ता है।

पुरुषो राशिसंज्ञस्तु मोहेच्छाद्वेषकर्मजः।। च. शा. 1/52

(पूर्व जन्म में) मोह, इच्छा और द्वेष से किए गए शुभ और अशुभ कर्मों के अनुसार ही प्राणी (राशि पुरुष) उत्पन्न होता है।

चेष्टात्मक कर्म

संज्ञानात्मक कर्मों में इन्द्रियों द्वारा मन को पहले बोध होता है। पुनः बुद्धि द्वारा निश्चयात्मक निर्णय लिया जाता है। भावनात्मक कर्मों में विषयों को ग्रहण करने में मन पर जो प्रभाव पड़ता है वह भावनाओं के रूप में प्रकट होता है। चेष्टात्मक (क्रियात्मक) कर्मों में इन्द्रियार्थों द्वारा प्राप्त ज्ञान और उससे उत्पन्न होने वाली भावनायें मन को कार्य में प्रवृत्त कराती हैं। क्रियात्मक कर्मों का प्रभाव मन और शरीर दोनों पर पड़ता है।

प्रयत्नादि कर्म चेष्टितमुच्यते।। प्रयत्नजन्य चेष्टा को कर्म कहते हैं।

चेष्टा से उत्क्षेपण (ऊर्ध्व गति), अवक्षेपण (अधोगति), आकुञ्चन, प्रसारण तथा गमन (साधारण गति) रूपी शरीर व्यापार को ग्रहण किया जाता है। इस प्रकार कर्म की एक और परिभाषा की जाती है कि गति ही जिसका लक्षण है वह कर्म है– **चलनात्मकं कर्म।**

प्रयत्न दो प्रकार के होते हैं– 1. जीवनपूर्वक तथा 2. इच्छाद्वेषपूर्वक।

जीवनपूर्वक प्रयत्न से जीवनोपयोगी व्यापार यथा श्वास, उच्छ्वास, सद्गति, रक्त संवहन आदि कर्म होते रहते हैं। ये कर्म आत्मा और मन के संयोग तथा अपने धर्म (स्वाभाविक कर्म) पर आश्रित रहते हैं। शरीर के अन्दर होने वाला प्रत्येक अनैच्छिक कर्म इसके अन्तर्गत होता है।

इच्छाद्वेष पूर्वक प्रयत्न का कारण आत्मा और मन का संयोग तथा इच्छा और द्वेष है। जीवनपूर्वक प्रयत्नों के समान इच्छा द्वेषपूर्वक प्रयत्न से भी शरीर का धारण होता है। शरीर में होने वाला प्रत्येक ऐच्छिक कर्म इच्छाद्वेषपूर्वक प्रयत्न है।

मन में उत्पन्न संस्कारों द्वारा उत्पन्न सुखात्मक भावों के प्रभाव से मन में कर्म करने की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। इस मानसिक प्रयत्न का शारीरिक चेष्टाओं के रूप में उदय होता है।

इनका वर्गीकरण निम्न प्रकार से किया जाता है।

1. इच्छा द्वेषपूर्वक चेष्टायें—ऐच्छिक क्रियायें (voluntary actio
2. जीवनपूर्वक चेष्टायें—अनैच्छिक क्रियायें (involuntary actio
   अ) स्वचालित क्रियायें (autonomic actions)
   ब) प्रतिवर्त क्रियायें (reflex actions)
   स) सहजवृत्तिक क्रियायें (instinctive actions)

ऐच्छिक क्रियायें— मनुष्य जानते बूझते जो शारीरिक क्रियायें क है और जिनका उद्देश्य उसकी इच्छा अथवा द्वेष की पूर्ति होती है ऐच्छिक कहलाते हैं ऐसी समस्त क्रियायें व्यक्त (चेतन— conscious) मन के द्वारा ह हैं। अतः उसके नियन्त्रण में रहती हैं। मनुष्य अपने जीवन में इनसे सीखता है। ये ऐच्छिक क्रियायें दो प्रकार की होती हैं— 1. सरल ऐच्छिक क्रियायें (sim voluntary actions) तथा 2. जटिल ऐच्छिक क्रियायें (complex volunt actons)।

सरल ऐच्छिक क्रियायें— कभी—कभी दो अथवा अधिक कार्यों में निश करना होता है तथा इनमें सरलता से विकल्प चुना जा चुका है। इस क्रिया सरल ऐच्छिक क्रिया कहते हैं।

जटिल ऐच्छिक क्रियायें— जब एक से अधिक कार्यों में विकल्प निश करने में कठिनाई हो उस समय चिन्त्य, विचार्य, ऊह्य आदि मानसिक विषय प्र भाग लेते हैं। अतः निश्चय में कठिनाई उपस्थित हो जाती है। ऐसे समय में ऐ क्रिया जटिल हो जाती है। यथा माता—पिता एक कन्या से पुत्र का विवाह क चाहते हैं और वह व्यक्ति किसी अन्य कन्या से विवाह करना चाहता है। निश्चयात्मक निर्णय में कठिनाई होती है और निश्चय के अनुसार शारी चेष्टाओं में भी कठिनाई होती है।

जटिल ऐच्छिक क्रिया के दो स्तर (stages) होते हैं 1. मानसिक mental stage तथा 2. शारीरिक स्तर (bodily stage)।

मानसिक स्तर— जब मनुष्य के सम्मुख दो या अधिक अधिप्रे motives हो जाते हैं तब इनके मध्य संघर्ष छिड़ जाता है। उस व्यक्ति को संघर्ष का उस समय तक सामना करते रहना पड़ता है जब तक कि कोई निर्णय न हो जाए। यथा एक शराबी खूब पीता है, वह उसे छोड़ना चाहता है 'छोड़ सकूंगा' अथवा नहीं के मध्य द्वन्द्व छिड़ जाता है। मन इस पर चिन्तन क है, विचरता है, तर्क वितर्क करता है और फिर संकल्प कर उसे बुद्धि को प्र करता है। बुद्धि उस पर सोच विचार कर एक निश्चयात्मक निर्णय लेती

शारीरिक स्तर— बुद्धि द्वारा लिए गए निर्णय के अनुार शरीर की चेष्

जाती हैं। यदि निर्णय छोड़ने के पक्ष में है तो वह शराबी शराबखाने में जाना ड़ देता है एवं शराब उपस्थित करने पर उसे लेने से इन्कार कर देता है।

इस प्रकार जटिल ऐच्छिक क्रियाओं में मानसिक स्तर पर एक निश्चयात्मक र्णय लिया जाता है और शारीरिक स्तर पर उसे कार्यान्वित किया जाता है।

उपार्जित प्रवृत्ति (आदत–habit)— ऐच्छिक क्रियायें मनुष्य की आदतें बनाती हैं। आदतें बनने से पूर्व जो कार्य इच्छा के अधीन था, बार–बार करते ने से वह अनैच्छिक रूप धारण कर लेता है। वह कार्य स्वतः सा होने लगता इसे आदत पड़ जाना कहते हैं। यथा (1) सिगरेट पहिले जानबूझकर पी जाती बार–बार पीते रहने से पीने का अभ्यास हो जाता है और फिर एक ऐसी स्थिति ती है कि पीने के लिए इच्छा की आवश्यकता नहीं रहती है। (2) टंकण (टाइप) खने से पूर्व अंगुलियों को की बोर्ड (key board) पर रखने और चलाने का भ्यास करना पड़ता है। अभ्यस्त हो जाने पर अंगुलियां बिना जाने हुए भी की र्ड पर स्वयं चलने लगती हैं। आदत यदि उचित है तो उससे लाभ रहता है। था (1) कार्य में सरलता से सुगमता आ जाती है। (2) त्रुटि न्यूनतम हो जाती । (3) कार्य शीघ्र सम्पन्न हो जाता है। इस प्रकार समय की बचत होती है।) व्यक्ति का नैतिक चरित्र ऊंचा हो जाता है। (5) सभ्यता, संस्कृति एवं परम्परायें रक्षित रहती हैं। बुरी आदतों का प्रभाव इससे विपरीत होता है।

अनैच्छिक क्रियायें–

अनैच्छिक क्रियायें— तीन प्रकार की होती हैं— 1) स्वसंचालित क्रियायें,) प्रतिवर्त क्रियायें तथा 3) सहज प्रवृत्तिक क्रियायें।

स्वसंचालित क्रियायें— जीवन के लिए नितान्त आवश्यक क्रियायें नैच्छिक रूप से स्वसंचालित होती रहती हैं। इनके रूकते ही जीवन का अन्त । जाता है। अतः इन क्रियाओं को जीवन पूर्वक प्रयत्न के अन्तर्गत समावेश किया या है, यथा रक्त संवहन, हृदय गति, फुफ्फुस–श्वसन क्रिया, मूत्र निर्माण किया, यापचय क्रियाएं, पचन क्रिया आदि बिना हमारी इच्छा अथवा अनुभव के होती हती हैं।

प्रतिवर्त क्रियाएँ— प्रतिवर्त क्रियाएं सहज में बिना हमारे सोचे विचारे ो जाती हैं। यथा छींक आना, तेज प्रकाश में नेत्र के तारे का संकोच कर जाना, पेन चुभने पर हाथ हथवा पांव का हटा लेना। ये क्रियायें उत्तेजना (stimulation) ाप्त होते ही तुरन्त सम्पादित हो जाती हैं।

प्रत्येक प्रतिवर्त क्रिया किसी न किसी उत्तेजना के कारण होती है। किसी

विशेष प्रकार की उत्तेजना के बार–बार मिलने से व्यक्ति उस उत्तेजना के प्र्रा अभ्यस्त हो जाता है, यथा 10 बजे भोजन करते रहने वाले व्यक्ति को 10 बर निश्चित रूप से भोजन की इच्छा होने लगती है। उसमें भूख के समस्त लक्ष्ा प्रकट हो जाते हैं। ऐसी प्रतिवर्त क्रियायें सोपाधि [conditioned] प्रतिवर्त क्रिया कहलाती हैं। ऐसी अर्जित [acquired] प्रतिवर्त क्रियायें आदतों के रूप में परिवर्तित हो जाती हैं।

सहज प्रवृत्तिक क्रियायें— प्राणियों में कुछ प्रवृत्तियाँ [instincts] परम्प से चली आती हैं। [1] आत्मसुरक्षा की सहज प्रवृत्ति [instincts of se preservation] तथा [2] जाति सुरक्षा की प्रवृत्ति।

ये दोनों मूल सहज प्रवृत्तियां समस्त प्राणियों में पाई जाती हैं और प्रत्येव प्राणी इनको पूर्व संस्कारों से सीखता चला आ रहा है। अपनी सुरक्ष की दृषि से ही प्राणी सामूहिक रूप से रहना सीख गया है, तथा समाज को बनाए रख के लिए एवं सुरक्षा के लिए प्रत्येक प्राणी में समय पर कामवृत्ति [sexual instinct जाग्रत होती है। इससे जन्म क्रम चलता रहता है और समाज बना रहता है यह दोनों प्रवृत्तियां अमीबा जैसे प्राणी, जिसमें पुरुष अथवा स्त्रीलिंग नहीं होत हैं, में भी होती है। अपने को जीवित रखने के लिए प्रतिकूल वातारण में वह पुट [csst] रूप में परिवर्तित हो जाता है तथा समाज की सुरक्षा के लिए अपना विभाजन कर अपने समान प्राणी समाज को प्रदान करता है।

प्रतिवर्तक्रिया तथा सहजवृत्तिजन्यक्रियाओं में भेदभाव—

समानता

1. प्रतिवर्तक्रिया तथा सहजप्रवृत्तिक क्रिया दोनों ही जन्मजात होती हैं
2. दोनों ही प्राणी के जीवन के लिए आवश्यक हैं।
3. दोनों ही प्राणी को इस योग्य बनाती हैं कि वह वातावरण में अनुकूल बन सके।

अन्तर

1. प्रतिवर्त क्रिया सरल तंत्रिका [nerous] क्रिया है जबकि सहज प्रवृत्ति में एक से अधिक क्रियायें भाग लेती हैं। यथा पैर में सुई चुभने पर तुरन्त प्रतिक्रिया के फलस्वरूप पैर हटा लिया जाता है जबकि चिड़िया के घोंसला बनाने में अनेक क्रियायें भाग लेती हैं।

2. प्रतिवर्तक्रिया क्षणिक होती है, सहजप्रवृत्तिक क्रिया देर तक होती रहती है पहले उदाहरण से यह भी सिद्ध हो जाता है।

3. प्रतिवर्तक्रिया में कभी भी परिवर्तन नहीं होता है। परन्तु सहज

प्रवृत्तिक क्रियाओं में अनुभवों के प्रभाव से परिवर्तन हो जाता है। क्षुधा लगना एक सहज प्रवृत्तिक क्रिया है परन्तु सभ्यता के नाते से हम उसका प्रदर्शन नहीं करते हैं।

4. प्रतिवर्त प्रक्रिया प्रायः अचेतन (Unknowingly, consciousluy) होती है। परन्तु सहज प्रवृत्तिक क्रिया मन द्वारा होती है।

5. प्रतिवर्त क्रिया में शरीर के विशिष्ट अंग भाग लेते हैं। परन्तु सहज प्रवृत्तिक क्रिया में मन सहित समस्त शरीर भाग लेता है।

6. सामान्यतः प्रतिवर्त क्रियायें बाह्य उत्तेजना द्वारा उत्पन्न होती हैं। परन्तु सहज प्रवृत्तिक क्रिया में बाह्य तथा आन्तरिक दोनों प्रकार की उत्तेजनायें महत्वपूर्ण हैं।

संज्ञानात्मक, भावात्मक तथा चेष्टातमक तीनों प्रकार के व्यापार मिलकर मन के कार्यों को सम्पादित करते हैं।

मन में कर्म की प्रेरणा एवं उत्त्पति—

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।

करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः।। श्री० म० गी०

ज्ञान [जिसके द्वाना जाना जाये], ज्ञेय [जिसको जाना जाये] तथा ज्ञाता [जो जाने] ये तीनों कर्म के प्रेरक हैं अर्थात् इनके संयोग से कर्म में प्रवृत्त होने की इच्छा उत्पन्न होती है।

कर्ता [करने वाला], करण [साधन] तथा क्रियायें ये तीनों कर्म के संग्रह हैं अर्थात् इन तीनों के संयोग से कर्म उत्पन्न होता है।

सत्त्वसार के लक्षण—

मानसिक दृष्टि से पूर्ण स्वस्थ पुरुष में निम्नलिखित लक्षण होते हैं।

*** स्मृतिमन्तो भक्तिमन्तः कृतज्ञाः प्राज्ञाः शुचयो महोत्साहा दक्षा धीराः समरविक्रान्तयोधिनस्त्यक्तविषादाः स्ववस्थितगतिगम्भीरबुद्धिचेष्टाः कल्याणाभिनिवेशिनश्च सत्त्वसाराः।** च० वि० 8/12

मनःसार [सत्त्वसार] पुरुष सम्पन्न, भक्ति युक्त, कृतज्ञ, बुद्धिमान्, पवित्रता से रहने वाला, अत्यन्त उत्साही, कुशल तथा धीर होता है। रण में विक्रमपूर्वक लड़ता है। विषाद रहित, गति, बुद्धि तथा चेष्टाओं से गम्भीर तथा कल्याण में तत्पर रहता है।

*** स्मृतिभक्तिप्रज्ञाशौर्यशौचोपेतं कल्याणाभिनिवेशं सत्त्वसारं विद्यात्।।**

सु० सू० 35/17

सत्त्वसार पुरुष स्मृति, भक्ति, बुद्धि, शौर्य और पावित्र्य गुणों से युक्त होता है तथा शुभ कर्मों में यत्नशील रहता है।

2

निद्रा

मन की परिदृष्ट वृत्तियों में निद्रा का कथन सबसे पहले कर चुके हैं। जिस प्रकार शरीर को धारण करने के लिए वात, पित्त और कफ प्रधान स्तम्भ हैं उसी प्रकार आहार, निद्रा और ब्रह्मचर्य ये तीनों शरीर के उपस्तम्भ हैं।

त्रय उपस्तम्भा इत्याहारः स्वप्नो, ब्रह्मचर्यमिति। एभिस्त्रिभिर्युक्तियुक्तैरुपस्तब्धमुपस्तम्भैः शरीरं बलवर्णोपचयोपचितमनुवर्तते यावदायुः संस्कारात्।। च० सू० 11/33

आहार, स्वप्न [निद्रा] और ब्रह्मचर्य ये तीन [शरीर को जीवित रखने वाले] उपस्तम्भ हैं। इन तीनों उपस्तम्भों को युक्तिपूर्वक प्रयुक्त करने से बल, वर्ण एवं पुष्टि से संयुक्त यह शरीर आयु के संस्कार पर्यन्त चलता रहता है।

आयु का प्रमाण नियत [निश्चित] भी है और अनियत [अनिश्चित] भी है। हित सेवन से आयु बढ़ती है तथा अहित सेवन से आयु घटती है। यही आयु के संस्कार से तात्पर्य है।

उपरोक्त वर्णित तीनों उपस्तम्भों में निद्रा का स्थान द्वितीय है। जीवन के लिए आहार प्रथम स्थान है तदुपरान्त निद्रा को ही कहा है।

दर्शन ग्रन्थों में मन और आत्मा की चार अवस्थाओं का वर्णन आया है।

1. **जाग्रदवस्था, 2. सुषुप्त्यवस्था, 3. स्वप्नावस्था तथा 4. तुरीयावस्था।**

1. **जाग्रत् अवस्था—**

श्रोत्रादिविज्ञानेन्द्रियैः शब्दादिविषयैश्च यद् ज्ञायते सा जाग्रदवस्था।।

श्रोत्रादि इन्द्रियों द्वारा शब्दादि विषयों का ज्ञान जिस अवस्था में होता रहता है वह जाग्रदवस्था है।

2. **सुषुप्ति अवस्था—** इस अवस्था में आत्मा किसी भी विषय की इच्छा नहीं रखता है। इसलिए किसी प्रकार के स्वप्न आदि नहीं आते हैं। इस समय केवल जीवन पूर्वक चेष्टायें तथा हृदयगति, रक्त संवहन, श्वासोच्छ्वास क्रियायें आदि ही सम्पन्न होती रहती हैं। इस प्रकार की निद्रा को सुषुप्यावस्था कहा है, यह स्वाभाविक निद्रा की अवस्था है क्योंकि—

अहं किमपि न जानामि सुखेन निद्रानुभूयते इति सुषुप्ति अवस्था।।

सुषुप्ति अवस्था में मनुष्य कुछ भी नहीं जान रहा होता है वह केवल सुख पूर्वक निद्रा का अनुभव कर रहा होता है।

3. **स्वप्नावस्था— जाग्रदवस्थायां यदृष्टं यच्छ्रुतं तज्जनितवासनया निद्रासमये यः प्रपंचः प्रतीयते सा स्वप्नावस्था।**

जाग्रत् अवस्था में जो कुछ दिखाई देता है अथवा सुनाई देता है उससे उत्पन्न वासनाओं [इच्छाओं] के द्वारा निद्रा के समय जो प्रपंच प्रतीत होता है वह स्वप्नावस्था है।

4. **तुरीयावस्था**— सत्वगुण बाहुल्य व्यक्ति को जो निद्रा आती है वह तमोगुण द्वारा आच्छादित नहीं होती है। इस निद्रा को तुरीयावस्था कहते हैं। यह निद्रा सत्व गुणी के अधिकार में रहती है। कम निद्रा लेने के पश्चात् भी वह व्यक्ति अपने को स्वस्थ तथा शान्त अनुभव करता है। ऐसी निद्रा योगियों को आती है।

निद्रा का लक्षण— अभावप्रत्ययालम्बनावृत्तिः निद्रा। यो० सू० 1/10

अभाव के कारण का आश्रय लेने वाली चित्तवृत्ति का नाम निद्रा है अर्थात् मन के द्वारा समस्त विषयों के ग्रहण की क्रिया के परित्याग की वृत्ति का नाम निद्रा है। इस समय केवल आन्तरिक मन जाग्रत रहता है।

निद्रा की उत्पत्ति—

यदा तु मनसि क्लान्ते कर्मात्मानः क्लमान्विताः।
विषयेभ्यो निवर्तन्ते तदा स्वपिति मानवः।। च० सू० 21/34

जब मन के थके हुए होने पर थकी हुई सम्पूर्ण इन्द्रियां विषयों से निवृत्त होती हैं तब मनुष्य सोता है।

ज्ञान की उत्पत्ति उस समय होती है जब इन्द्रियों के विषयों का इन्द्रियों से और इन्द्रियों का मन से तथा मन का आत्मा से संयोग होता है। इस शृंखला में यदि मन अपना कार्य न करे तब इन्द्रियां भी अपने विषय को ग्रहण न करें जिनके परिणामस्वरूप बाह्य उत्तेजनाओं का अभाव हो जाये उस समय नींद आ जाती है और यदि केवल इन्द्रियां विषयों से निवृत्त हों परन्तु मन न हो तब उस समय स्वप्न आते हैं।

हृदयं चेतनास्थानमुक्तं सुश्रुत ! देहिनाम्।
तमोऽभिभूते तस्मिंस्तु निद्राविशति देहिनम्।।
निद्राहेतुस्तमः सत्त्वं बोधने हेतुरुच्यते।
स्वभाव एव वा हेतुर्गरीयान् परिकीर्त्यते।। सु० शा० 4/33. 34

प्राणियों के शरीर में हृदय को चेतना स्थान कहा गया है। जब यह हृदय तम से अभिभूत हो जाता है तब प्राणियों को निद्रा आ जाती है।

अतः निद्रा का कारण तम है और जाग्रत रहने का कारण सत्व है। अथवा स्वभाव ही निद्रा का महत्वपूर्ण कारण कहा जा सकता है।

निद्रा के प्रकार

चरक संहिता के अनुसार निद्रा के भेद

तमोभवा श्लेष्मसमुद्भवा च मनःशरीरश्रमसम्भवा च।
आगन्तुकी व्याध्यनुवर्तिनी च रात्रिस्वभावप्रभवा च निद्रा।।

च० सू० 21/57

1. तमोभवा— तमोगुण से उत्पन्न होने वाली निद्रा।
2. श्लेष्मसमुद्भवा— कफ की वृद्धि से उत्पन्न होने वाली निद्रा।
3. मनः श्रमसम्भवा तथा
4. शरीरश्रमसम्भवा— अथवा शरीर की थकावट के कारण उत्पन्न होने वाली निद्रा।
5. आगन्तुकी— आलस्यवश, काम न होने के कारण या नशे आदि के कारण आने वाली निद्रा।
6. व्याध्यनुवर्तिनी— रोग के कारण आने वाली निद्रा।
7. रात्रिस्वभावप्रभवा— रात्रि में स्वभाव से तमोगुण की वृद्धि हो जाती है। अतः रात्रि में स्वभाव से आने वाली निद्रा।

रात्रिस्वभावप्रभवा मता या तां भूतधात्रीं प्रवदन्ति तज्ज्ञाः।
तमोभवामाहुरघस्य मूलं शेषाः पुनर्व्याधिषु निर्दिशन्ति।।

च० सू० 21/59

रात्रि में स्वभाव से आने वाली निद्रा भूतधात्री [प्राणियों का प्रतिपालन करने वाली] है। अन्त [मृत्यु के] समय की निद्रा तमोभवा निद्रा है और शेष निद्रायें विकारों से उत्पन्न होती हैं।

सुश्रुत संहिता के अनुसार निद्रा के भेद

निद्रां तु वैष्णवीं पाप्मानमुपदिशन्ति, सा स्वभावत एव सर्वप्राणिनोऽभिस्पृशति। तत्र यदा संज्ञावहानि स्रोतांसि तमोभूयिष्ठः श्लेष्मा प्रतिपद्यते तदा तामसी नाम निद्रा भवत्यनवबोधिनी सा प्रलयकाले। तमोभूयिष्ठानामहःसु निशासु च भवति रजोभूयिष्ठानामनिमित्तं, सत्त्वभूयिष्ठानामर्धरात्रे। क्षीणश्लेष्मणामनिलबहुलानां मनःशरीराभितापवतां च नैव, सा वैकारिकी भवति। सु० शा० 4/32

[1] निद्रा विष्णु की मायास्वरूप [वैष्णवी] है और इसे पापिनी भी कहते हैं। क्योंकि यह स्वभाव से समस्त प्राणियों को अपने वश में कर लेती है।

भगवान् विष्णु जिस प्रकार अपनी वैष्णवी शक्ति के द्वारा संसार का भरण–पोषण करते हैं उसी प्रकार मायास्वरूप निद्रा भी प्राणियों के जीवन के लिए आवश्यक है। इसे इसी कारण उपस्तम्भ कहा है।

[2] जब संज्ञावह स्रोतों में तमोगुणबाहुल्य कफ पहुंचता है तब बोध [ज्ञान] को नाश करने वाली तामसी नामक निद्रा होती है। यह चिरनिद्रा [मृत्यु के समय की निद्रा] है।

[3] तमोगुणप्रधान प्राणियों को दिन और रात हर समय निद्रा आती रहती है।

[4] रजोगुणप्रधान प्राणियों को नियमविरहित निद्रा आती है इनकी निद्रा का कोई काल नहीं होता है। कभी दिन में तो कभी रात में निद्रा आती है। क्योंकि रजोगुणप्रधान प्राणी चंचल प्रकृति का होता है।

[5] सत्वगुणप्रधान प्राणियों को अर्धरात्रि में निद्रा आती है।

[6] जिनका कफ क्षीण हो गया है, मन और शरीर में पीड़ा होती है, उन्हें निद्रा सम्यक् प्रकार से नहीं आती है, इसे वैकारिक निद्रा कहते हैं।

वाग्भट्ट संहिता के अनुसार निद्रा के भेद

कालस्वभावाऽऽमयचित्तदेहखेदैः कफागन्तुतमोभवा च।
निद्रा बिभर्ति प्रथमा शरीरं पाप्मात्मिका व्याधिनिमित्तमन्या।।

अ० स० सू० 9/68

निद्रा के भेद– 1. कालस्वभावजन्य निद्रा, 2. आमय [रोग] जन्य निद्रा, 3. चित्त खेद जन्य निद्रा, 4. देह खेद जन्य निद्रा, 5. कफ जन्य निद्रा, 6. आगन्तु निद्रा, 7. तमोभव निद्रा।

इन निद्राओं में प्रथम निद्रा [कालस्वभावजन्य] शरीर की उपस्तम्भ स्वरूप है, शेष निद्रायें पापस्वरूप [विकारयुक्त] होती हैं।

स्वाभाविक निद्रा से लाभ–

देहवृत्तौ यथाऽऽहारस्तथा स्वप्नः सुखो मतः।
स्वप्नाहारसमुत्थे च स्थौल्यकार्श्ये विशेषतः।। च० सू० 21/50

जिस प्रकार विधिपूर्वक लिया गया आहार शरीर की पुष्टि के लिए सुखकर होता है उसी प्रकार विधिपूर्वक ली गई निद्रा भी सुखकर होती है। शरीर की स्थूलता और कृशता विशेषकर निद्रा और आहार के कारण होती है।

सैव युक्ता पुनर्युङ्क्ते निद्रा देहं सुखायुषा।
पुरुषं योगिनं सिद्ध्या सत्या बुद्धिरिवागता।। च० सू० 21/37

जिस प्रकार सत्य ज्ञान योगी पुरुष को सिद्धि से युक्त करता है उसी प्रकार यथाविधि सेवित निद्रा शरीर में सुख और आयु देने वाली है।

निद्रायत्तं सुखं दुःखं पुष्टिः कार्श्यं बलाबलम्।
वृषता क्लीवता ज्ञानमज्ञानं जीवितं न च।। च० सू० 21/35

सुख, दुःख, पुष्टि, कृशता, बल, निर्बलता, वीर्यवत्ता, नपुंसकता, ज्ञान, अज्ञान, जीवन, मरण ये निद्रा के अधीन हैं। यदि विधिवत् निद्रा का सेवन किया जाये तो सुख, पुष्टि, बल, वीर्यवत्ता, ज्ञान और जीवन का कारण होती है अन्यथा दुःख, कृशता, निर्बलता, नपुंसकता, अज्ञान तथा मरण की प्राप्ति होती है।

अरोगः सुमना ह्येवं बलवर्णान्वितो वृषः।
नातिस्थूलकृशः श्रीमान् नरो जीवेत् समाः शतम्।।

सु० शा० 4/39

विधिवत् रात्रि में निद्रा सेवन से मनुष्य निरोग, प्रसन्नचित्त, बलवर्णयुक्त वीर्यवान्, न अति स्थूल और न अति कृश तथा धनवान् होकर सौ वर्ष की आयु भोगता है।

निद्रा का समय–

तस्मान्न जागृयाद्रात्रौ दिवास्वप्नं च वर्जयेत्।
ज्ञात्वा दोषकरावेतौ बुधः स्वप्नं मितं चरेत्।। सु० शा० 4/38

रात्रि में जागना नहीं चाहिए और दिन में सोना नहीं चाहिए। बुद्धिमान् पुरुष दोनों को दोषकारक समझकर [रात्रि में] उचित मात्रा में निद्रा का सेवन करे।

रात्रौ जागरणं रूक्षं स्निग्धं प्रस्वप्नं दिवा।
अरूक्षमनभिष्यन्दि त्वासीनप्रचलायितम्। च० सू० 21/49

रात्रि का जागरण रूक्षता उत्पन्न करता है तथा दिन में सोना स्निग्धता उत्पन्न करता है, बैठकर ऊंघना न रूक्ष है और न स्निग्ध [अभिष्यन्दी] है।

निद्रा काल में अपवाद–

निद्रा सात्म्यीकृता यैस्तु रात्रौ च यदि वा दिवा।
दिवारात्रौ च ये नित्यं स्वप्नजारणोचिताः।
न तेषां स्वपतां दोषो जाग्रतां वाऽपि जायते।। सु० शा० 4/40

दिन और रात्रि में [इच्छानुसार] जिन्होंने निद्रा को सात्म्य कर रखा है तथा जो दिन में सोने और रात्रि में जागने के अभ्यस्त हैं ऐसे व्यक्तियों को दिन में सोने और रात्रि में जागने से कोई विकार नहीं होता है।

ग्रीष्म ऋतु के अतिरिक्त अन्य ऋतुओं में दिन में नहीं सोना चाहिए क्योंकि दिन में सोने से कफ और पित्त प्रकुपित हो जाते हैं। अतः अन्य ऋतुओं में दिन में सोना अहितकर है।

*** सर्वर्तुषु दिवास्वापः प्रतिषिद्धोऽन्यत्र ग्रीष्मात्।।** सु० शा० 4/36
*** ग्रीष्मवर्ज्येषु कालेषु दिवास्वप्नात् प्रकुप्यतः।**
श्लेष्मपित्ते दिवास्वप्नस्तस्मात्तेषु न शस्यते। च० सू० 21/43
ग्रीष्मे चादानरूक्षाणां वर्धमाने च मारुते।
रात्रीणां चातिसङ्क्षेपाद्दिवास्वप्नः प्रशस्यते।। च० सू० 21/43

ग्रीष्म ऋतु में आदान काल के कारण रूक्षता और वायु की वृद्धि हो जाती है तथा रात्रि बहुत छोटी होती है। अतः इस ऋतु में दिन में सोना प्रशस्त है।

दिन में हितकर निद्रा—

दिवास्वप्नश्च तृट्शूलहिक्काजीर्णातिसारिणाम्।। सु० शा० 4/47

तृष्णा, शूल, हिक्का, अजीर्ण और अतिसार के रोगी को दिन में निद्रा लेना हितकर है।

निषिद्ध ऋतुओं (ग्रीष्म ऋतुओं के अतिरिक्त अन्य ऋतुओं) में भी बाल, वृद्ध तथा स्त्री संग के कारण थके क्षतयुक्त, दुर्बल, नित्य मद्य सेवन करने वाले तथा गाड़ी, घोड़ा आदि सवारी से थके हुए, यात्रा अथवा श्रम के कारण थके हुए, भोजन किये हुए, मेद, स्वेद, कफ और रक्त से क्षीण हुए तथा अजीर्ण वाले व्यक्ति को दिन में थोड़ी निद्रा लेना निषिद्ध नहीं है। सु० शा० 4/37

धातुसाम्यं तथा ह्येषां बलं चाप्युपजायते।
श्लेष्मा पुष्णाति चांगानि स्थैर्यं भवति चायुषः। च० सू० 21/41

ऐसे व्यक्तियों को दिन में निद्रा लेने से धातु (वात, पित्त, कफ तथा रस रक्तादि) की समता एवं बल की उत्पत्ति होती है। दिन में निद्रा लेने से कफ की वृद्धि होती है। यह कफ अंगों को पुष्ट करता है और आयु स्थिर रखता है।

रात्रिष्वपि जागरितवतां जागरितकालादर्धमिष्यते दिवास्वप्नम्।।
सु० शा० 4/37

रात्रि में भी जो, (किसी कारण वश) जागते रहे हों उनके लिए प्रजागर काल से आधे समय दिन में निद्रा लेना उचित है।

किन व्यक्तियों को दिन में निद्रा नहीं लेना चाहिए—

मेदस्विनः स्नेहनित्याः श्लेष्मलाः श्लेष्मरोगिणः।
दूषीविषार्ताश्च दिवा न शयीरन् कदाचन।। च० सू० 29/44

मेदस्वी, नित्य स्नेह (चिकनाई) का अधिक सेवन करने वाले, कफ प्रधान प्रकृति वाले, कफ के रोगी तथा दूषी विष से पीड़ित व्यक्तियों को दिन में निद्रा नहीं लेनी चाहिए।

किन व्यक्तियों को रात्रि में भी कम निद्रा लेनी चाहिए—

कफमेदोविषार्तानां रात्रौ जागरणं हितम्।। सु० शा० 4/47

कफ, मेद से पीड़ित और विष पीड़ित व्यक्तियों के लिए रात्रि जागरण हितकर है।

निद्रा वेग को रोकने से हानि—

जृम्भाऽङ्गमर्दस्तन्द्रा च शिरोरोगाक्षिगौरवम्।
निद्राविधारणात्तत्र स्वप्नः संवाहनानि च।। च० सू० 7/22

निद्रा वेग को रोकने से जम्भाई आना, अंगों में पीड़ा होना, तद्रा, शिरोरोग (शिर में पीड़ा आदि होना), नेत्रों में भारीपन आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं।

इनके निवारण के लिए निद्रा लेना तथा संवाहन (शरीर हो हल्के—हल्के दबाना) हितकर है।

निद्रानाश के कारण—

निद्रानाशोऽनिलात् पित्तान्मनस्तापात् क्षयादपि।

सम्भवत्यभिघाताच्च प्रत्यनीकैः प्रशाम्यति।। सु० शा० 4/41

वात की वृद्धि अथवा विकार से, पित्त की वृद्धि अथवा विकार से, मानसिक अभिताप (चिन्ता, क्रोध, दुःख उन्माद आदि) से, क्षय (दुर्बलता अथवा क्षय कारक रोग) तथा अभिघात (चोट आदि) से निद्रा का नाश हो जाता है।

इन कारणों के विरुद्ध सेवन से निद्रा नाश दूर होता है।

निद्रा नाश के उपाय—

अभ्यंगोत्सादनं स्नानं ग्राम्यानूपौदका रसाः।
शाल्यन्नं सदधिक्षीरं स्नेहो मद्यं मनःसुखम्।।
मनसोऽनुगुणो गन्धाः शब्दाः संवाहनानि च।
चक्षुषोस्तर्पणं लेपः शिरसो वदनस्य च।
स्वास्तीर्णं शयनं वेश्म सुखं कालस्तथोचितः
आनयन्त्यचिरान्निद्रां प्रणष्टा या निमित्ततः।। च० सू० 21/51, 53

अभ्यंग (तैलमालिश, उत्सादन (उबटना), स्नान, ग्राम्य—आनूप एवं जलचर पशु—पक्षियों का मांसरस, शालि चावलों का भात, दही, दूध, स्नेह अर्थात् कफवर्धक द्रव्यों का सेवन, मन को प्रिय मद्य, मन के अनुकूल गन्ध तथा शब्द, संवाहन [अंगों का हल्के दबाना], नेत्रों का तर्पण, सिर पर शीत लेप, अच्छा सुखदायक बिस्तर, आराम देने वाला घर तथा निद्रा के अभ्यास का समय—ये उपाय नष्ट हुई निद्रा को शीघ्र ले आते हैं।

तन्द्रा— इन्द्रियार्थेष्वसंप्राप्तिर्गौरवं जृम्भणं क्लमः।

निद्रार्तस्येव यस्येहा तस्य तन्द्रा विनिर्दिशेत्।। सु० शा० 4/48

इन्द्रियों के अर्थों [गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द] का ग्रहण न होना, शरीर में भारीपन, जम्भाई लेना, थकावट और निद्रा से पीड़ित के समान चेष्टा जिस व्यक्ति में होती है, उसे तन्द्रा समझना चाहिए।

तमःकफाभ्यां निद्रा स्यान्मूर्च्छा पित्ततमोभवा।
रजःपित्तानिलैर्भ्रान्तिस्तन्द्राश्लेष्मतमोऽनिलैः।। शा० पू० 6/24

तमोगुण तथा कफ से निद्रा की उत्पत्ति होती है।

रजोगुण पित्त तथा वायु के कारण भ्रान्ति [भ्रम] की उत्पत्ति होती है तथा तमोगुण, कफ तथा वायु के कारण तन्द्रा की उत्पत्ति होती है।

आधुनिक मत से निद्रा—

शरीर क्रिया की दृष्टि से जाग्रत अवस्था के विपरीत सुषुप्ति अवस्था अथवा निद्रा अवस्था होती है। इस अवस्था में मस्तिष्क में संवेदनाओं के रूप में

उत्तेजना न्यूनतम हो जाती है। आरोही संवेदी तन्त्रिका सूत्र [ascending sensory nerve fibres] न केवल अधश्चेतक [phypothalamus], संवेदी प्रातंस्थ भाग [sensort cortex तथा] अनुमस्तिष्क [cerebelum] में जाते हैं। वरन् इनके पार्श्विक collectrals [सुषुम्णा] शीर्षक तथा चेतक के मध्य फैले हुए जाल रचना के [reticular formation] में पहुँचते हैं। इस रचना से नवीन तन्त्रिका सूत्र प्रारम्भ होकर मस्तिष्क के प्रान्तस्थ भाग में जाते हैं तथा प्रान्तस्थ भाग से इस जाल रचना में आते हैं। धीरे–धीरे इस भाग की तन्त्रिका कोशिकायें थक जाती हैं और उत्तेजना के प्रति उदासीन होती जाती हैं। जब यह उदासीनता बहुत बढ़ जाती है निद्रा आ जाती है। यदि जाल रचना नष्ट हो जाये तो प्रगाढ़ निद्रा आ जाती है। जब जाल रचना की तन्त्रिका कोशिकायें उत्तेजनाओं से प्रभावित होने लगती हैं हम जाग जाते हैं। यह भी अनुमान है कि कार्यशील शरीर के रक्त में जब लेक्टिस अम्ल की मात्राा अधिक हो जाती है तब जाल रचना की तन्त्रिकायें उत्तेजनाओं के प्रति उदासीन हो जाती हैं और निद्रा आ जाती है। जाल रचना के अतिरिक्त अधश्चेतक में भी निद्रा केन्द्र स्थित हैं।

आयु और निद्रा का सम्बन्ध–

सुषुप्ति अवस्था में प्रति 90 मिनट के पश्चात् एक ऐसी अवस्था आती है जिसमें नेत्र गति करने लगते हैं। दक्षिण–वाम की ओर अथवा ऊपर–नीचे की ओर। ऐसी अवस्था कुल निद्रा काल की लगभग 20 प्रतिशत होती है। इस अवस्था में स्वप्न दिखाई देते हैं अतः इसे स्वप्नावस्था [paradoxical sleep] कहते हैं। छोटे शिशुओं में भी यह अवस्था होती है। आयु और निद्रा का सम्बन्ध नीचे दिया जा रहा है।

आयु	दैनिक निद्रा काल [घण्टों में]	स्वप्नावस्था काल [निद्राकाल का प्रतिशत]
1-5 दिवस	16	50
3-5 मास	14	40
2-3 वर्ष	13	25
5-9 वर्ष	11	19
10-14 वर्ष	9	20
19-30 वर्ष	8	22
33-45 वर्ष	7	19
50-70 वर्ष	6	15

3

स्वप्न

स्वप्नों में मनुष्य की रुचि सदैव से रही है और इसलिए वह स्वप्नों के अर्थों को जानने के लिए सदैव ही चेष्टावान् रहता आ रहा है। स्वप्नों का आना यह सिद्ध करता है कि निद्रावस्था में भी हमारी मानसिक क्रियायें सचेष्ट रहती हैं। मनोवैज्ञानिकों के प्रयोगों के द्वारा परिणाम प्राप्त किये हैं कि स्वप्नावस्था में पलकों के बन्द रहने पर भी नेत्र की पुतली स्वप्न में घटित घटनाओं के अनुसार गति करती रहती है। यदि वस्तुयें अथवा घटानायें इसी धरातल पर हो रही हों तो पुतलियां दायें बायें गति करती रहती हैं और यदि ऊँचाई पर घटित हो रही हों उनकी गति ऊपर नीचे की ओर होती है।

स्वप्नावस्था के सम्बन्ध में निद्रा प्रकरण में बता आये हैं कि जागृत अवस्था में हम जो कुछ सुनते हैं अथवा देखते हैं उनके प्रभाव से मन में जो वासनायें उठती हैं उनके प्रपंच स्वप्नों के रूप में प्रकट होते हैं। स्वप्न अविद्या [अप्रभा, अयथार्थ ज्ञान] के अन्तर्गत आते हैं।

तत्राविद्या चतुर्विधा संशयविपर्ययानध्यवसायस्वप्नलक्षणा।। गुणग्रन्थ

अविद्या के चार भेद होते हैं– संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय [indeterminate knowledge] तथा स्वप्न।

स्वप्नोत्पत्ति–

नातिप्रसुप्तः पुरुषः सफलानफलानपि।

इन्द्रियेशेन मनसा स्वप्नान् पश्यत्यनेकधा।। च० इ० 5/41

जो मनुष्य पूर्ण निद्रा में न हो वह इन्दियों के अधिष्ठाता व प्रेरक मन द्वारा फलयुक्त अथवा फलरहित अनेक प्रकार के स्वप्न देखता है।

जागृत अथवा सुषुप्ति अवस्थाओं में स्वप्न नहीं आते हैं। क्योंकि मन जागृत अवस्था में सत्त्वगुणप्रधान रहता है तथा सुषुप्ति अवस्था में तमोगुणप्रधान रहता है। इन दोनों के मध्य की अवस्था में, जिसमें तमोगुण प्रधान रहता है परन्तु रजोगुण भी प्रभावशाली हो जाता है। स्वप्न आया करते हैं। फलभेद से दो प्रकार के स्वप्न कहे गए हैं। 1. वे स्वप्न जिनका अर्थ होता है। अतः उनका फल होता है। उन्हें फलयुक्त स्वप्न कहते हैं तथा 2. वे स्वप्न जिनका कोई अर्थ नहीं होता। वे फलरहित होते हैं।

पूर्वदेहानुभूतांस्तु भूतात्मा स्वपतः प्रभुः।

रजोयुक्तेन मनसा गृह्णात्यर्थान् शुभाशुभान्।। सु० शा० 4/35

सोये हुए प्राणी (अर्थात् तमोगुण आवृत्त मनयुक्त प्राणी) का स्वामी जीवात्मा होता है यह जीवात्मा (तमोगुण के साथ ही साथ), रजोगुणयुक्त मन से पूर्वकाल में देह द्वारा अनुभव किए हुए शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के विषयों को ग्रहण करता है। अर्थात् पूर्व जन्म तथा स्वप्न दर्शन से पूर्व इस जन्म में जो अनुभव प्राणी को प्राप्त होते हैं उन्हीं का स्मृति रूप में दर्शन प्राणी स्वप्नों में करता है।

इन्द्रियों की सहायता से मन आत्मा से संयोग कर ज्ञान प्राप्त करता है। ज्ञान संस्कारों का कारण है। संस्कार स्मृति के रूप में संग्रहीत हो जाते हैं। इन्हीं स्मृतियों के अनुरूप हमारी मानसिक एवं शारीरिक चेष्टायें हुआ करती हैं। मन अपनी कल्पनाओं द्वारा भी संस्कार उत्पन्न करता है। ये संस्कार इच्छाओं और वासनाओं के रूप में मन में संग्रहीत रहते हैं।

निद्रा काल में मन पर तमोगुण का प्रभाव छाया रहता है। इस कारण इन्द्रियों से उनका संयोग समाप्त हो जाता है। अतः किसी प्रकार का ज्ञान निद्रा काल में प्राप्त नहीं होता है और मनुष्य प्रगाढ़ निद्रा में कहा जाता है। इस स्थिति में स्वप्न नहीं दिखाई देते हैं।

तमोगुण के इस प्रभाव के कुछ कम होते ही रजोगुण का प्रभाव मन पर कार्य करने लगता है। इस प्रभाव के कारण मन अशांत तथा चलायमान हो जाता है। तमोगुण का प्रभाव रजोगुण से प्रबल होने के कारण ज्ञानेन्द्रियों से मन का संयोग फिर भी नहीं होता है। इस स्थिति में मन में स्मृति रूप एकत्रित संस्कार तथा वासनायें मूर्त रूप धारण कर उभरने लगती हैं और मनुष्य स्वप्न देखने लगता है।

पाश्चात्य मानसशास्त्री मन को दो प्रकार का मानते हैं– (1) चेतन (Conscio... व्यक्त) मन तथा (2) अचेतन (Unconscious-अव्यक्त) मन। जाग्रत अवस्था में चेत... मन क्रियाशील रहता है और स्वप्नावस्था में अचेतन मन क्रियाशील हो जाता है। स्वप्... की उत्पत्ति के सम्बन्ध में इन मानसशास्त्रियों के कुछ अपने–अपने विचार हैं जिन... मुख्य नीचे दिये जा रहे हैं।

फ्रायड का स्वप्न सिद्धान्त– फ्रायड का कहना है कि स्वप्न हमारे वर्तमा... में न सुलझने वाली अचेतन भावनाओं को प्रकट करते हैं। इस सिद्धान्त के बारे... उनके तीन तर्क हैं–

1. **अर्थपूर्ण (Maeningful)**– इनका पहला तर्क है कि स्वप्न अर्थ रहित नहीं होते हैं। प्रत्येक स्वप्न के पीछे कुछ तत्त्व होते हैं जिनको कुछ अर्थ प्रदान किया जा सकता है यथा जाग्रदवस्था में हम लिखने या बोलने में कुछ गलती करते हैं या शीघ्र क्रोधित हो जाते हैं तो इन क्रियाओं के पीछे कुछ न कुछ अर्थ छिपा रहता है जिसका पता चेतन मन द्वारा नहीं लगता है। इन क्रियाओं का संचालन अचेतन मन करता है और स्वप्न में इनकी प्रतिक्रिया प्रकट हो जाती है।

2. इच्छापूर्ति (Wishfulfilment)—प्रत्येक स्वप्न का कुछ न कुछ उद्देश्य रहता है और यह उद्देश्य किसी इच्छा अथवा वासना की सन्तुष्टि है। ये इच्छायें अथवा वासनायें अचेतन मन में दमन की हुई संग्रहीत पड़ी रहती हैं।

3. छद्मवेश— चेतन मन नैतिक होता है। वह इच्छाओं व वासनाओं का कठोरता से हनन कर देता है और उन्हें अचेतन मन से बाहर नहीं निकलने देता है। स्वप्नावस्था में चेतन मन क्रियाहीन हो जाता है अतः ये इच्छायें और वासनायें अचेतन मन द्वारा प्रकट हो जाती हैं। स्वप्नावस्था में भी चेतन मन इतना शिथिल नहीं होता है कि वह इन अनैतिक वासनाओं को मूल रूप में प्रकट होने दे। इसलिए स्वप्नावस्था में अनेक वासनायें और इच्छायें रूप परिवर्तित कर प्रकट होती हैं। प्रायः यह रूप परिवर्तन दो प्रकार के होते हैं– 1. प्रतीकीकरण (symbolisation) अथवा स्वतन्त्र सहचार (free association)।

प्रतीकीकरण से तात्पर्य है कि वासनाओं और इच्छाओं के प्रतीक स्वप्न में प्रकट होते हैं यथा लम्बे आकार की वस्तुयें पुरुष लिंग की प्रतीक, गोल और खोखली वस्तुएँ स्त्रीलिंग की प्रतीक होती है तथा नाचना, चढ़ना, सीढ़ियों से फिसलना आदि यौन समागम के प्रतीक हैं। अधिकांश स्वप्नों में इस प्रकार की छिपी हुई कामवासनायें प्रकट होती हैं।

स्वतन्त्र सहचार— फ्रायड महोदय का कहना है कि जो कुछ स्वप्न में देखते हैं समानता तथा सहचारिता के कारण उनका सम्बन्ध उन इच्छाओं और वासनाओं से रहता है जो अव्यक्त स्वप्न के रूप में अचेतन मन में संग्रहीत होती हैं।

एडलर का स्वप्न सिद्धान्त— एडलर महोदय की मान्यता है कि प्रत्येक मनुष्य स्वभाव से ही दूसरों पर अपना प्रभुत्व रखने की प्रवृत्ति रखता है। अतः प्रत्येक मनुष्य की समस्यायें अपनी हीन भावना की प्रवृत्ति को दूर करने की तथा अपना प्रभुत्व स्थापित करने के सम्बन्ध में होती हैं। स्वप्न में व्यक्ति अपनी इन समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न करता है। ये समस्यायें पुरानी दमन की हुई इच्छाओं और वासनाओं से ही सम्बन्धित नहीं होती हैं वरन् वर्तमान जीवन में सामाजिक तथा औद्योगिक कठिनाइयों के सम्बन्ध में भी होती हैं। फ्रायड के समान एडलर इन समस्याओं को केवल यौन सम्बन्ध नहीं मानते हैं। उनके सिद्धान्तानुसार स्वप्नों का सम्बन्ध दैनिक जीवन की समस्याओं के समाधान से है।

युंग का स्वप्न सिद्धान्त— युंग अचेतन मन को दो पहलुओं में बांटते हैं 1. व्यक्तिगत (Individual unconscious) मन तथा 2. जातीय अचेतन (racial inconscious) मन।

जातीय अचेतन मन जन्म से ही व्यक्ति में होता है जिसमें पूर्वजों की इच्छायें अनुभव आदि संग्रहीत रहते हैं। व्यक्तिगत अचेतन मन इस जन्म में अर्जित होता है।

इसके अतिरिक्त उनकी मान्यता है कि प्रत्येक व्यक्ति में प्राणों की इच्छा [प्राणैषणा] रहती है। जब तक मनुष्य की इस इच्छा में बाधा उपस्थित नहीं होती है वह उन्नति की ओर अग्रसर होता है। जब उसकी इच्छाओं के आगे बढ़ने में बाधा उपस्थित हो जाती है, वह पीछे की ओर मुड़ जाती हैं। इच्छायें व्यक्तिगत अचेतन को पार कर जातीय अचेतन स्तर पर पहुंच जाती हैं। यहां आकर ये रुक जाती हैं। अब वह जो स्वप्न देखते हैं वे इस जातीय स्तर पर संचित स्तृतियों के आधार पर होते हैं।

युंग प्रतीकों में भी बिश्वास करते हैं परन्तु उनकी दृष्टि में एक ही प्रतीक के दो व्यक्तियों के स्वप्नों में पृथक्–पृथक् अर्थ हो जाते हैं। प्रत्येक प्रतीक के लिए व्यक्ति विशेष का क्या अर्थ होगा यह उस व्यक्ति के व्यक्तिगत तथा जातीय अचेतन मन के अनुभव पर निर्भर है।

फ्रायड स्वप्नों का सम्बन्ध भूतकालीन अनुभवों से मानते हैं, एडलर वर्तमान समस्याओं को ही महत्व देते हैं परन्तु युंग भविष्य में होने वाली घटनाओं से भी स्वप्न का सम्बन्ध जोड़कर स्वप्न विश्लेषण में भूत, भविष्य एवं वर्तमान तीनों को महत्व प्रदान करता है।

स्वप्नसम्बन्धी दैहिक सिद्धान्त– [physiological theory of dreams] स्वप्न निद्रा में प्रभावित करने वाली उत्तेजनाओं की प्रतिक्रिया स्वरूप उत्पन्न होते हैं। उत्तेजनाओं के दोषपूर्ण प्रत्यक्षीकरण के कारण निरर्थक और बेतुके स्वप्न दिखाई देते हैं। निद्रावस्था में उच्च तन्त्रिका केन्द्र निष्क्रिय रहते हैं। अतएव उत्तेजनाओं को समझने की चेष्टा अत्यन्त शिथिल होती है। वह उत्तेजनाओं को सही अर्थ प्रदान करने में असमर्थ होते हैं। इस प्रकार की भूलें स्वप्न में प्रकट हो जाती हैं, यथा–यदि सोते समय हमारा पैर खाट की रस्सी में फंस जाता हैं तो हम स्वप्न में देखते हैं कि हम जाल में फंस गए हैं आदि–आदि।

निद्रावस्था में बहुत सी उत्तेजनायें हमारे सोते समय की शारीरिक मुद्राओं से प्राप्त होती हैं, यथा सोते समय दोनों हाथों को हृदय पर रखना, चारों हाथ पैरों को फैलाकर सोना, चित्त लेटना अथवा टांगें मोड़कर गठरी के समान सोना इन मुद्राओं से प्राप्त उत्तेजनाओं के कारण शरीर की प्राकृतिक अनैच्छिक क्रियाओं में विघ्न पड़ता है। उसका प्रभाव स्वप्न पर भी पड़ता है।

उपरोक्त पाश्चात्य मनोविज्ञानाचार्यों के सिद्धान्त पर ध्यान देने से पता चलता है कि प्रत्येक सिद्धान्त एक विशेष प्रकार के ही स्वप्नों का विश्लेषण करने में सफल है तथा अन्य प्रकार के स्वप्नों के विश्लेषण के प्रति उदासीन है। अतएव किसी भी सिद्धान्त को पूर्ण नहीं माना जा सकता। इन मनीषियों का स्वप्न विश्लेषण कार्य अभी पूर्णता को भी प्राप्त नहीं हुआ है। अस्तु।

प्रशस्तपादाचार्य स्वप्नों के तीन कारणों का वर्णन करते हैं और इन्हीं कारणों से स्वप्न तीन प्रकार के होते हैं।

1. संस्कार पाटव, 2. दोषज तथा 3. अदृष्ट।

संस्कार पाटव का कारण–

जब मनुष्य कामुक अथवा क्रुद्ध होकर किसी विषय को खूब लगन के साथ सोचता हुआ सो जाता है, तब प्रबल संस्कारों के कारण उस विषय की स्मृति स्वप्न में उस विषय को प्रत्यक्ष के समान [साक्षात् आभास के समान] दिखलाई पड़ती है।

जाग्रत अवस्था में भी स्मृतियों के अनुसार कर्म होते हैं परन्तु इस अवस्था में इन कर्मों पर बुद्धि, विवेक, देश, काल, परम्परा मर्यादा आदि का अंकुश रहता है। स्वप्न में ये सब अंश ढ़ीले पड़ जाते हैं और स्मृतियों के कारण ही स्वप्न व्यापार चलता है।

स्मृति दो प्रकार की होती है। स्वप्न में स्मृति का विषय कल्पित होता है तथ जाग्रदवस्था में स्मृति का विषय अकल्पित, पारमार्थिक [सत्य] होता है। जो पदार्थ हमारे इन्द्रियों के समक्ष नहीं होते उनका ज्ञान विपर्यय अर्थात् भ्रममात्र होता है ऐसा माना जाता है। अतः स्वप्न की स्मृति सत्य [वास्तविक] नहीं होती है केवल स्मृतियों का आभास होता है इसलिए इस स्मृति को स्मृत्याभास कहते हैं। जैसे प्रमाणाभास को प्रमाण कहते हैं इसी प्रकार स्मृत्याभास को स्मृति कहते हैं।

श्री जगद्गुरु आदि शंकराचार्य स्वप्न तथा जाग्रत अवस्थाओं में ज्ञान के अन्तर को बताते हुए कहते हैं–

स्वप्न स्मृति केवल माया मात्र है। इसमें सत्यता की गन्ध नहीं होती है क्योंकि [पारमार्थिक] वस्तुयें देश, काल, निमित्त और अबाध्यता की दृष्टि से सोचने पर सत्य सिद्ध होती हैं। स्वप्न सृष्टि में इसकी सम्भावना नहीं होती है। इसलिए स्वप्न सृष्टि केवल मायास्वरूप होती है।

यथा स्वप्न में देखा हुआ रथ क्षणमात्र में मनुष्य बन जाता है और फिर वृक्ष बन जाता है। इसलिए स्वप्नावस्था के अनुभव में आने वाले पदार्थ मायामात्र हैं।

आचार्य श्रीधर जी का कथन है कि–

मनोमात्रप्रभावं स्वप्नज्ञानम्।

मन के प्रभाव के कारण ही स्वप्नज्ञान होता है।

स्वप्नावस्था में मानसिक भावों का प्रभाव कर्मेन्द्रियों पर भी पड़ता देखा गया है। स्वप्न को देखते हुए व्यक्ति रोने, बोलने आदि लगता है। कामोत्तेजक स्वप्नों में वीर्य स्खलन हो जाता है। यद्यपि स्वप्न की क्रियायें वास्तविकता से दूर होती हैं

दोषज कारण—

शारीरिक और मानसिक व्याधियां तथा प्राकृतिक भी विशेष प्रकार के स्वप्नों का कारण होती हैं।

मनोवहानां पूर्णत्वाद्दोषैरतिबलैस्त्रिभिः।

स्रोतसां दारुणान् स्वप्नान् काले पश्यति दारुणे। च० इ० 5/40

जब वात, पित्त, कफ आदि बलवान् होते हैं तब तीनों दोषों से मनोवह स्रोतों के पूर्ण हो जाने के कारण दारुण स्वप्नों को देखता है।

आकाशचारी स्वप्नेषु वातप्रकृतिको नरः।। शा० पू० 6/20

वातप्रकृतिक पुरुष आकाश में विचरने के स्वप्न देखता है।

स्वप्नेषु ज्योतिषां द्रष्टा पित्तप्रकृतिको नरः।। शा० पू० 6/21

पित्तप्रकृति पुरुष अग्नियों से सम्बन्धित स्वप्न देखता है।

स्वप्ने जलाशयालोकी श्लेष्मप्रकृतिको नरः।। शा० पू० 6/22

कफप्रकृति पुरुष स्वप्न में जलाशयों को देखता है।

अदृष्टज कारण—

स्वप्नों के अदृष्ट कारण भी होते हैं। जिनके सम्बन्ध में अनुभव भी नहीं हुआ होता है वे स्वप्न में दिखाई दे जाते हैं। इन सबका कारण अदृष्ट है जिसका स्पष्टीकरण अभी तक मनुष्य की बुद्धि में नहीं आया है।

स्वप्न के प्रकार [चरक संहिता के अनुसार]

दृष्टं श्रुतानुभूतं च प्रार्थितं कल्पितं तथा।

भाविकं दोषजं चैव स्वप्नं सप्तविधं विदुः।। च० इ० 5/42

स्वप्न सात प्रकार के होते हैं— 1. दृष्ट, 2. श्रुत, 3. अनुभूत, 4. प्रार्थित, 5. कल्पित, 6. भाविक तथा 7. दोषज।

1. **दृष्टस्वप्न**— जाग्रदवस्था में जिन घटनाओं का हम नेत्रों द्वारा प्रत्यक्षीकरण कर चुके हैं उन्हीं वस्तुओं अथवा घटनाओं को पुनः स्वप्न में देखें तो वे स्वप्न दृष्टस्वप्न हैं।

2. **श्रुतस्वप्न**— जिन बातों को जाग्रदवस्था में सुन चुके हैं उन्हीं को पुनः स्वप्न में सुनें तो वे स्वप्न श्रुतस्वप्न कहलाते हैं।

3. **अनुभूतस्वप्न**— जो घटनायें अन्य इन्द्रियों से अनुभूत हैं उन्हें स्वप्न में भी अनुभव करें तो वे स्वप्न अनुभूतस्वप्न कहलाते हैं।

4. **प्रार्थितस्वप्न**— जिस वस्तु की इच्छा हो उसे स्वप्न में प्राप्त करें ऐसे स्वप्न प्रार्थितस्वप्न हैं।

5. **कल्पितस्वप्न**— जिनकी पूर्व कल्पना की जा चुकी हो उस कल्पना को स्वप्न में साकार देखें तो वे स्वप्न कल्पितस्वप्न की कोटि के हैं।

6. **भाविकस्वप्न**— भविष्य में होने वाली शुभ अथवा अशुभ घटनाओं का पूर्वाभास स्वरूप स्वप्न भाविकस्वप्न हैं।

7. **दोषजस्वप्न**— दोषज व्यक्तियों द्वारा होने वाले स्वप्न दोषजस्वप्न कहलाते हैं।

उपरोक्त वर्णित दृष्ट, श्रुत, अनुभूत, प्रार्थित, तथा कल्पित स्वप्नों का प्रशस्तपादाचार्यवर्णित संस्कारपाटव स्वप्नों में अन्तर्भाव है।

भाविक स्वप्नों को उन्होंने अदृष्ट स्वप्न कहा है तथा दोषज स्वप्नों को दोषज ही कहा है।

तत्र पंचविधं पूर्वमफलं भिषगादिशेत्।
दिवास्वप्नमतिह्रस्वमतिदीर्घं तथैव च।। च० इ० 5/43

पहले पांच प्रकार के स्वप्नों, दृष्ट, श्रुत, अनुभूत, प्रार्थित तथा कल्पित स्वप्नों का प्रशस्तपादाचार्य वर्णित संस्कारपाटव स्वप्नों में अन्तर्भाव है इनका कोई फल नहीं होता है। शेष दो प्रकार के [भाविक तथा दोषज] फल देने वाले होते हैं।

दिन में देखे हुए स्वप्न एवं रात्रि में बहुत छोटे अथवा बड़े स्वप्नों का कोई फल नहीं होता है।

दृष्टः प्रथमरात्रे यः स्वप्नः सोऽल्पफलो भवेत्।
न स्वपेद्यः पुनर्दृष्ट्वा स सद्यः स्यान्महाफलः।।

रात्रि के प्रथम पहर में देखा गया स्वप्न देर से अथवा अल्प फलदायक होता है तथा एक बार स्वप्न देखकर यदि नींद न आये तो उस स्वप्न का फल ज्यादा होता है।

रात्रि के प्रथम पहर में देखा हुआ स्वप्न एक वर्ष में, द्वितीय पहर में देखा गया स्वप्न 6-7 मास में, तृतीय पहर में देखा गया स्वप्न 3 मास में तथा चतुर्थ पहर में देखा हुआ स्वप्न एक या डेढ़ मास में फल देता है। प्रातः स्वप्न सद्यः फलदायक तथा दोपहर को देखा हुआ स्वप्न 3 मास में फल प्रदान करता है।

अकल्याणमपि स्वप्नं दृष्ट्वा तत्रैव यः पुनः।
पश्येत् सौम्यं शुभाकारं तस्य विद्याच्छुभं फलम्।। च० इ० 5/45

बुरे स्वप्न को देखकर जो पुनः उसी रात्रि को सौम्य तथा शुभ स्वप्न देखता है उसका फल भी शुभ होता है।

मारक एवं दारुण स्वप्न—

मारक एवं दारुण स्वप्नों को यदि रोगी व्यक्ति देखता है तो उसकी मृत्यु निश्चित है तथा यदि निरोग व्यक्ति देखता है तो महान् कष्ट होने का संकेत है।

चरक संहिता इन्द्रिय स्थान के पांचवें अध्याय में स्वप्नों के परिणाम निम्न प्रकार दिये गए हैं।

जो व्यक्ति स्वप्न में कुत्ते, ऊंटों या गधों पर सवार होकर दक्षिण दिशा की ओर जाता है, वह यक्ष्मा रोग से पीड़ित होकर मर जाता है।

प्रेतों [मरे हुए व्यक्तियों] के साथ शराब पीता है या कुत्तों से खींचा घसीटा जाता है, वह अति घोर ज्वर से पीड़ित होकर मृत्यु को प्राप्त होता है।

आकाश को समीप से लाख के रंग के वस्त्र के सदृश देखता है वह रक्तपित्त से आक्रान्त होकर मृत्यु को प्राप्त होता है।

लाल माला को धारण किये हुए, लाल ही सब अंगों वाली, लाल वस्त्र पहने हुए बार–बार हंसती हुई स्त्री द्वारा ले जाया जाता है, वह रक्तपित्त से पीड़ित होकर मरता है।

अपने हृदय प्रदेश में कांटों वाली लता उत्पन्न होती देखता है, वह क्रूर जुल्म के कारण मृत्यु को प्राप्त होता है।

नंगे बदन, बदन पर घी चुपड़े हुए अप्रज्वलित अग्नि में आहुतियां देता है, वह कुष्ठ से मृत्यु को प्राप्त होता है।

चांडालों के साथ घृत, तैल, मज्जा अथवा वसा आदि का स्नेहपान करता है, उसकी प्रमेहों के कारण मृत्यु हो जाती है।

राक्षसों के साथ नृत्य करता हुआ जल में डूब जाता है वह हठात् उन्माद को प्राप्त हो मृत्यु को प्राप्त होता है।

नीचा सिर किये हुए प्रेतों द्वारा ले जाया जाता है वह अपस्मार में मृत्यु को प्राप्त होता है।

पूरी तथा अपूपों [पूड़ों] को खाता है तथा जागने पर उसी प्रकार वमन करता है वह व्यक्ति जीवित नहीं रहता है।

काषाय [गेरुएं] वस्त्र धारण किये हुए पुरुषों का, सौम्य मूर्ति न हो तथा नग्न, दण्डधारी, कृष्ण वर्ण तथा लाल नेत्रों वाले हों, का दर्शन करता है, अशुभ का कारण होता है।

काली पापिन, दुराचारिणी, लम्बे केश, नख तथा स्तनों वाली, लाल वर्ण की माला और लाल रंग के ही वस्त्र पहने हुई स्त्री को देखता है वह समझ ले कि वह स्त्री काल रात्रि ही है अर्थात् ऐसी स्त्री का दर्शन मृत्यु का सूचक है।

अन्य अशुभ लक्षण— स्वप्न में सिर पर फूस का उग आना, सिर का मुण्डन, गिद्ध, उल्लू, कुत्ते व कौए आदि से घिर जाना, राक्षस, प्रेत, पिशाच, स्त्री, चाण्डाल, दौड़ते हुए तथा अन्धे व्यक्तियों से घिर जाना। घास–फूस, लता, वृक्ष आदि में फंस जाना। चलते हुए बार बार गिर जाना। अशुभ भूमि राख आदि में प्रवृष्ट होना अथवा गिर जाना। श्मशान, गड्ढों आदि में प्रविष्ट होना।

गन्दे जल अथवा अन्धेरे कुएं में डूब जाना। जल में बह जाना। स्नेहपान, स्नेह अभ्यंग, बन्दी होना, युद्ध में परास्त होना, सुवर्ण तथा धन की प्राप्ति, विवाद, वमन, विरेचन होना, पैरों के जूतों का खो जाना, धूल और चमड़े का गिरना, पितरों द्वारा धमकाया जाना, दांत, नेत्र, चन्द्र, सूर्य, नक्षत्र, देवता, दीपक आदि का नष्ट होना, लाल फूलों वाले स्थान में अथवा वेश्यालय, पाप कर्म के स्थान, चिता, अन्धकार वाले स्थान में प्रविष्ट होना, लाल वस्त्र मालादि धारण किये हुए दक्षिण दिशा की ओर जाना अथवा ले जाना, अट्टहास करना, ये सब अशुभ स्वप्न हैं। इन स्वप्नों को देखने से मृत्यु अथवा कष्ट भोगना पड़ता है।

शुभ स्वप्न

स्वप्न में राजमहल, पर्वत, बैल, घोड़े और पुरुषों की सवारी करना। समुद्रों तथा नदियों को तैरकर पार कर जाना। प्रसन्न हुए देवता तथा पित्तरों से वार्तालाप करना, चन्द्रमा, सूर्य, अग्नि, ब्राह्मण, गौ, यशस्वी पुरुष, श्वेत वस्त्रादि एवं निर्मल तालाब आदि देखना।

मांस, मछली, विष, अपवित्र [मल आदि], छत्र, दर्पण इनकी प्राप्ति। श्वेत पुरुषों, शुभ स्थानों के दर्शन, यान की सवारी, पूर्व अथवा उत्तर की ओर गमन करना, गिरे हुए को उठाना, शत्रुओं को पराजित करना ये सब शुभ स्वप्नों के लक्षण हैं।

स्वप्नदोषों का परिहार–

दृष्ट्वा स्वप्नान् दारुणान् शोभनान् वा।
प्रातः स्नातः सर्षपानग्निवर्णान्।।
हुत्वा सावित्र्या सर्पिषाऽऽक्तांस्तिलान्वा।
पूतः पापैर्मुच्यते व्याधिभिश्च।। अ० स० शा० 12/30

अशुभ अथवा दोनों प्रकार के स्वप्नों को देखने के पश्चात् प्रातः काल स्नान करके सरसों के तेल [अशुभ स्वप्नों में] अथवा घी से [शुभ स्वप्नों में] स्निग्ध काले तिलों की गायत्री मन्त्र के द्वारा अग्नि में आहुति देने से मनुष्य स्वप्न के पाप तथा रोगों से मुक्ति पा जाता है।

।। शुभं भवतु।।